प्रकाशक:
'विद्या अनुसंधान' प्रकाशन,
२ए/२३० आजाद नगर, कानपुर ।

संशोधित संस्करण १९६८
मूल्य ४·९० पैसे

()

मुद्रक:
कानपुर प्रकाशन प्रेस,
८।११६, आर्य नगर, कानपुर-

वक्तव्य

बी० ए० प्रथम वर्ष मे सस्कृत विषय के अन्तर्गत सर्वप्रथम आगरा विश्वविद्यालय आगरा ने स० १९५९—६० ई० मे जब "भारतीय सस्कृति" नामक विषय का सूत्रपात किया था तब विद्यार्थियो के दृष्टिकोण से निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुसार हमारी "भारतीय-सस्कृति के मूल तत्व" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी—जिसे अध्यापक—समाज एव विद्यार्थी वर्ग ने विशेष रूप से अपनाया। उसकी उपयोगिता को देखते हुये शीघ्र ही पुस्तक का द्वितीय-सस्करण प्रकाशित कराना पड़ा था।

कानपुर विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात उक्त पाठ्य-क्रम मे परिवर्तन हुआ। अनेक विषय जो पहले उसमे नही आ सके थे, इस नवीन पाठ्य-क्रम मे समाविष्ट किये गये। इस स्थिति मे परिवर्द्धित विषय "भौतिक-रसायन—वनस्पति एव प्राणिशास्त्र के अतिरिक्त आधुनिक युग के अनुकूल गणित, ज्योतिष व फलित-ज्योतिष के ज्ञान के साथ प्राचीन भारत की सैन्य-व्यवस्था आदि पर विशद प्रकाश डालने की आवश्यकता का अनुभव किया गया— फलत इन समस्त नवीन विषयो पर पूर्ण प्रकाश डालने वाली नवीन पुस्तक की रचना की जाय यह आपेक्षित हुआ। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये नवीन रूप मे "भारतीय सस्कृति के मौलिक तत्व" नाम से यह पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है।

विगत अनेक शताब्दियो स विपरीत परिस्थितियो के मध्य भी हम भारतीय अपनी प्राचीन सस्कृति सभ्यता तथा आचार-परम्पराओ की सुरक्षा जिन मौलिक तत्वो के आधार पर करते आ रहे हैं—उन्ही तत्वो का विशद रूप मे दिग्दर्शन इस पुस्तक मे कराया गया है।

आशा है इससे छात्रो को समुचित पथ-प्रदर्शन प्राप्त होगा। इस कार्य मे हमे कहाँ तक सफलता मिलती है यह हमारे पाठको का विषय है।

विषय सूची

अध्याय १

संस्कृति

परिभाषा एवं स्वरूप

संस्कृति वह सामाजिक साधना है, जो अतीत के भव्य चित्र अंकित करके भविष्य के आदर्शों की स्थापना करती है। 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'डुकृञ्'(कृ) = सस्कृ धातु मे क्तिन् प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया हुआ संस्कृति शब्द मानवीय कृतित्व के आदर्श रूप का उपस्थापन है। 'संस्कृति' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से सस्कार की हुई स्थिति, सुधरी हुई दशा अथवा 'सस्करण युक्त अवस्था' का बोध कराता है। 'शुद्ध करना', 'परिष्कार करना'–'एक नवीन आदर्श मे ढाल कर उपस्थित करना' इत्यादि शाब्दिक अर्थों का अभिधान करने वाले ये शब्द अपने लक्ष्य तथा ध्यग्य अर्थ भी रखते हैं, और सस्कृति का प्रयोग तो प्राय व्यजना की सहायता से किया ही जाता है। व्यजना से प्रतीयमान अर्थ मे व्यापकता आ जाती है। संस्कृति भी सीमाओ से रहित, मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित तथा मूलत: समस्त सामाजिक व्यवस्था के सुचारु-सचालन का आधार पीठ है। सस्कृति के अन्तर्गत क्या-क्या आ जाता है, यही विचारणीय विषय है। वस्तुत. सभी मानवीय विद्याओ एव कलाओ की कृतियाँ किसी न किसी देश तथा काल की सस्कृति की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं।

कृतित्व के बाह्य प्रदर्शन तक ही इसकी सीमा नही है, आभ्यन्तर विचार, प्रभाव, कल्पनाएँ तथा भावनाएँ ये सब सस्कृति के अंग हैं। 'कृतित्व' को यहाँ अधिक स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। मानव-जीवन विविधता मे रँगा हुआ

है। इस वैविध्य का कारण प्रत्येक मनुष्य की अपनी आन्तरिक शक्तियाँ, रुचियाँ, योग्यता तथा वंशानुक्रम का प्रभाव आदि है। मनोविज्ञान की शब्दावली में इस विशेषता को 'वैयक्तिक भेद' (Individual Difference) कहा जाता है, जो मानव के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का आधार है। यदि मनुष्य के स्वभाव में उपर्युक्त भिन्नताएँ प्राकृतिक तथा जन्म-जात रूप से न पाई जातीं, तो श्रीमान् जी भी पशुओं के स्तर तथा उन्हीं की श्रेणी में रह जाते। संक्षेप में नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सामरिक सभी साधन सांस्कृतिक विधान के विविध अंग हैं।

'मानव जीवन' के इस वैविध्य के कारण मानव का कृतित्व भी विविध है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व जिसे मनोविज्ञान में Total Appearance तथा नृशास्त्र (Anthropology) में Organized Individual Whole कहते हैं, अपने दो स्रोत रखता है। जो कुछ भी वह होता है, उसका एक अंश तो ईश्वर-प्रदत्त या नैसर्गिक होता है, परन्तु उसके व्यक्तित्व का प्रधान अंश उसका स्वयं का अर्जन होता है। नैसर्गिक तथा अर्जित गुणों के समाहार का नाम ही 'व्यक्तित्व' होता है। व्यक्तित्व की विविधता के कारण प्रत्येक मनुष्य की शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं और रुचियाँ भी। इसी विविधता में 'कृतित्व' का वैविध्य दृष्टिगोचर होता है।

मानव के कृतित्व के दो प्रधान पक्ष हैं—एक तो उसके व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध है और दूसरा सामाजिक निर्माण में सबके साथ मिलकर अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करने से। संक्षेप में सामाजिक सम्प्राप्तियों (Social Achievements) का समूह संस्कृति को ही लक्ष्य करता है।

इस प्रकार समाज तथा संस्कृति का एक दूसरे से सीधा तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। न तो हम समाजविहीन संस्कृति की कल्पना कर सकते हैं और न संस्कृति विहीन समाज की। दोनों का यह अर्थ में सम्बन्ध 'अयुतसिद्ध' है। एक, जब तक भी है, दूसरे पर आश्रित ही रहता है। समाज से सीधा सम्बन्ध होने के कारण संस्कृति के वैयक्तिक आधार की सम्भावना नहीं की जा सकती।

जैसे कोई भी व्यक्ति 'समाज' नहीं होता—समाज तो व्यक्तियों के समूह का नाम है ठीक उसी प्रकार संस्कृति न तो किसी व्यक्ति का अर्जन है और न किसी व्यक्ति की संपत्ति। संस्कृति एक सामाजिक धरोहर है, जिसके अर्जन में, जिसके निर्माण में और जिसके निर्धारण में समाज का प्रत्येक घटक (व्यक्ति), यथाशक्ति अपना योगदान करता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ शक्तिशाली व्यक्तित्व ऐसे भी होते हैं जो संस्कृति पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं, उसमें कुछ जोड़ देते हैं। साथ ही कुछ व्यक्तित्व ऐसे भी होते हैं जो विद्यमान संस्कृति के स्वरूप पर प्रहार करते हैं। प्रयासों की शक्ति तथा सफलता के आधार पर ऐसे लोग ही संस्कृति को आगे बढ़ाते हैं।

संस्कृति एक संश्लिष्ट (synthetic) विशेषता है, जो कभी घटती तो है ही नहीं। सच बात तो यह है कि संस्कृति ही हमारे विवेक की संचालिका शक्ति है, जो अच्छाई बुराई आदि का हम निर्देश तथा ज्ञान करती कराती है। संस्कृति से ही हमारी रुचि का सर्जन होता है, जिस पर सभ्यता का निर्माण निर्भर है।

समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र में संस्कृति का अर्थ हमारे सामान्य अर्थ से कुछ भिन्न है। उनके अनुसार प्रत्येक मानव समाजबद्ध होकर, भाषा के माध्यम से, जो विशेषताएँ अर्जित करता है, वे कुल मिलाकर संस्कृति कहलाती हैं। इस प्रकार संस्कृति मानव की एक ऐसी विशेषता है, जो उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है, साथ ही इन शास्त्रों की दृष्टि से संसार का प्रत्येक मानव-समाज, चाहे वह सभ्यता की सीढ़ी में आगे हो या पीछे संस्कृति सम्पन्न है। बोल-चाल में हम किसी को सुसंस्कृत या असंस्कृत कहकर प्रशंसा या निन्दा करते हैं, पर समाजशास्त्र के अनुसार संस्कृति में उच्च-निम्न की कल्पना सिद्धान्त-विरुद्ध या तर्क-विरुद्ध है। प्रत्येक प्राणी की समाज से प्राप्त एक संस्कृति है और उसका समालोचन अध्ययन करना ही इन शास्त्रों का विषय है। समाज-शास्त्री संसार के विभिन्न मानव-समूहों या समाजों की संस्कृति का तटस्थ भाव से शास्त्रीय अध्ययन करता है। विभिन्न संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन तो समाजशास्त्र कर सकता है, पर किसी प्रकार का निर्णय करना उसके क्षेत्र का नहीं है।

संस्कृति और सभ्यता

सभ्यता संस्कृति का एक अंग है। समाज की अस्थायी, बाह्य एवं स्थूल सीमाओं तक ही इसकी सीमा है। सामान्यत. लोग संस्कृति तथा सभ्यता को पर्यायवाची समझ लिया करते हैं। यह ठीक नहीं है। सभ्यता तो देश, काल और यहाँ तक कि व्यक्ति के भेद के साथ भी बदलती चलती है। सभ्यता संस्कृति के बाह्य निर्देश का पालन मात्र है। हमारा रहन-सहन, उठना-बैठना चलना-फिरना आदि जीवन के विभिन्न क्रिया-कलाप और वेशभूषा तथा आत्म प्रदर्शन के विभिन्न प्रयत्न हमारी सभ्यता का परिचय देते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति को मनुष्य की उर्ध्वगामिनी प्रवृत्ति का विकास बताते हुए सभ्यता को उसके बाह्य प्रयोजनों की पूर्ति का स्वच्छ रूप कहा है। समाज-संगठन, आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक ढाँचा और सौंदर्य-प्रेम के विविध रूप ये सभ्यता के चार स्तम्भ हैं और इनके मूल में मानव की संस्कृति अपने प्रेरक रूप में रहती है। सभ्यता शब्द सभा से बना है। सभा के अनुकूल, जो आचरण और व्यवहार है तथा जिसमें इस आचरण तथा व्यवहार के निर्माण में सहायता मिलती है, वह सभ्यता है।

अभी हम कह चुके हैं कि संस्कृति की परिधि देश और काल में बँधती नहीं है, फिर भारतीय संस्कृति क्या है? वस्तुत एक युग था जब मानव समाज एक परिवार था। यह तो सभी मानते हैं कि ज्ञान का आलोक, सबसे पहले, जहाँ प्रतिभासित हुआ, उस देश को आज भारत कहते हैं। कालान्तर में मानव ने मानव से अलग रहना भी सीख लिया और पृथक् निवास ने पृथक् विचार-धारा तथा आदर्शों को जन्म दिया। मान्यताओं में भिन्नता आयी, विश्वास के आधार बदले। धर्म तथा कर्म की परिकल्पनाएँ, जिस युग में की गईं, उस युग तक आते-आते देश और जाति के कृत्रिम बन्धन ही वास्तविक माने जाने लगे थे। चाहे जितनी बड़ी आत्मप्रवंचना कहिए मानव का मानव से भेद स्वाभाविक बनता गया। भूगोल तथा इतिहास विशेष के अन्तर्गत जो विशेषताएँ उपलब्ध हुईं उन्हें ही लोग देश विशेष की संस्कृति कह देते हैं।

संस्कृति तो आचार-व्यवहार से लेकर विचारों, भावनाओं, प्रभावों और कल्पनाओं तक अपना क्षेत्र रखती है। अतएव भारतीय संस्कृति, यूनानी संस्कृति और मिस्री संस्कृति जैसी विशेषण-विशिष्ट संस्कृतियों की कल्पना की गयी। अवश्य ही यह भेद लोककृत था। प्रत्येक सुसंस्कृत देश में जब-जब संस्कृति का उत्थान हुआ है, वह व्यक्तियों द्वारा हुआ है और उन महान् व्यक्तियों ने जो आदर्श प्रस्तुत किये हैं, वे देश-विशेष के लिए नहीं मानव मात्र के लिए रहे हैं। कालान्तर में उनके सिद्धान्तों के क्षेत्रों में जो संकीर्णता आती गई, उसका कारण उनके अनुयायियों की विचार-संकीर्णता थी।

जैसे भी हो, यह सर्वमान्य तथ्य है कि संस्कृति के मार्ग में सभ्यता ने सदैव रोड़े अटकाए हैं। बात कुछ उस कड़वी गोली सी है जो कठिनाई से गले के नीचे उतरती है, परन्तु है सही। संस्कृति का एक अंग ही सभ्यता है, परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर रहा है। आज सभ्यता संस्कृति पर हावी है और संस्कृति सभ्यता की उँगलियों पर नाचती हुई वैसी ही बनती जा रही है, जैसी सभ्यता उसे बनाना चाहती है। यह सब कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, वैसे ही संस्कृति का विभाजन होता गया और विशेषणों की माला पहिन-पहिन कर मानव-संस्कृति अनेक संस्कृतियों में बंट गयी। 'अथातो भारतीया संस्कृति' !

यों तो प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण उसका महत्व है, परन्तु भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसी निराली स्पृहणीयता है, जिसके कारण यह आज भी सम्पूर्ण विश्व द्वारा स्वीकृत तथा प्रशंसित है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति का अध्ययन विश्व के विद्वानों तथा विद्या-व्यसनियों के ध्यान को, सदा आकृष्ट करता रहा है।

संस्कृति और सभ्यता में अन्तर

संस्कृति और सभ्यता में आत्मा और शरीर का सा अंतर है। सुसंस्कृत मनुष्य के मन और बुद्धि के कार्यकलाप संकल्प-विकल्प, अनुराग-विराग और विचार ही नहीं

संस्कृति मनुष्य के अन्तर्जगत् तथा उसकी भावनाओ की व्यंजना करने वाले कलात्मक बहिर्जगत् के प्रदर्शनो तक पहुँच जाती है, सभ्यता बाह्य साधनो तक ही सीमित है। संस्कृति और सभ्यता से भले ही कोई अलग अलग भाव ग्रहण कर सके, किन्तु सभ्यता तो संस्कृति के बाह्य प्रदर्शन का ही एक अंग है। सभ्यता में संस्कृति के समकक्ष बैठने की सामर्थ्य नही है, क्योंकि वह तो संस्कृति का ही एक भाग मात्र है, जो संस्कृति के ही अंतर्गत माना जाता है।

प्रत्येक सभ्यता में किसी न किसी संस्कृति के सूत्र और स्रोत स्पष्टतः देखे जा सकते है, जैसे मुस्लिम सभ्यता में अरब-संस्कृति के स्रोत और सूत्र दोनो बारीकी से अनुस्यूत है। भाषा-विज्ञान का विशेषज्ञ तत्काल जान लेगा कि एरेबिक (अरबी) स्क्रिप्ट (लिपि) के साथ शब्दो के कण्ठ्य वर्णों की गठन तथा उल्टे समासो की योजना संस्कृति से भिन्न है किन्तु फारसी और संस्कृत के शब्दो मे बहुत अधिक समानता है। अरबों की अपेक्षा पारसी, मानव-विज्ञान की दृष्टि से भी, आर्यों के अधिक समीप हैं।

संघर्ष और टकराव सभ्यताओं में भले ही हुआ करें, संस्कृतियों के समन्वयात्मक स्निग्धप्रवाह गुरु, गम्भीर और स्थायी होते हैं। यद्यपि राष्ट्रो के उत्थान-पतन मे भीषण घटनाओ से इतिहास के पृष्ठ रंगे हैं, किन्तु ये सब सभ्यताओं के संघर्ष के परिणाम है। यूनान, अरब, तथा कुछ यूरोपीय देशों ने जेहाद या क्रूसेड के रूप में युद्धो के अनेक अकाण्ड ताण्डव रच डाले, किन्तु भारतीय आर्यों ने विदेशो मे भी सांस्कृतिक विजय का ध्वज फहरा दिया। जावा, सुमात्रा, बाली बोर्नियो, लंका, स्याम, मलाया ही नहीं पूर्व मे चीन से जापान तक तथा पश्चिम मे फारस से मिस्र तक भारतीय सन्यासियो और बौद्ध भिक्षुओ ने भारतीय व्यापारियो के साथ जो सांस्कृतिक विजय प्राप्त की थी, वह केवल किंवदन्ती का विषय नही है, वह गुप्तकालीन स्वर्णयुग के इतिहास मे अंकित है। स्वर्णद्वीप को जाने वाले शत-शत भारतीय युवक व्यापारी अपने गुरुजनो के साथ व्यापार सम्बन्धी यात्राएँ तो करते ही थे, साथ मे अपनी संस्कृति के प्रति समुचित विश्व की सद्भावनाएँ प्राप्त करने में समर्थ होकर विदेशो मे साम्राज्य तक की स्थापना संस्कृति के आधार पर ही कर डालते थे।

आधुनिक शब्दों में जिसे जीवन-पद्धति, रीतिनीति, रहन-सहन, आचार-विचार, नवीन अनुसंधान, आविष्कार एवं प्रचार कहते हैं, वे सब हमारी चौदह विद्याओं और विविध कलाओं में समाविष्ट माने जाते हैं।

भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषताएँ

भारतीय संस्कृति की विशेषता क्या है ? इस पर विचार करने से ज्ञात होगा कि वह स्वतोविशिष्ट तो है ही, सर्वविशिष्ट भी है। स्वतोविशिष्ट कहने से अभिप्राय इस संस्कृति की उन विशेषताओं की ओर संकेत करना है, जिनके कारण यह अपने आप में एक अनोखी संश्लेषणात्मक शक्ति का निरन्तर स्रोत रखती है, और सर्व-विशिष्ट कहकर यह व्यक्त करना है कि विश्व की अन्य तथाकथित संस्कृतियों की तुलना में इसमें कौन सी विशेषताएँ है, जो तत्तद्देशीय विद्वानों को मोहकर इसके अध्ययन में प्रवृत्त करती हैं। यों तो "भारतीय संस्कृति की विशेषताएं" कहना ही समीचीन नहीं है, क्योंकि यह विशेषता संश्लिष्ट है, विश्लिष्ट नहीं। ठीक उसी तरह जैसे यह संस्कृति संश्लिष्ट है और इसी लिए 'विशेषताएँ' न कहकर 'विशेषता' कहना ही अधिक उचित है। परन्तु श्रेणी विभाजन की आधुनिक प्रवृति को देखते हुए हम प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते है.—

समन्वयवादिता—भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है। संस्कृति का अध्ययन इतिहास के अध्ययन की पूर्वापेक्षा रखता है और भारतीय इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ के मनीषियों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सदा-सर्वदा समन्वय करने के ही सफल प्रयास किये है। विचार धाराओं, मतों, परम्पराओं तथा व्यवहार—सम्पत्ति में परस्पर भिन्नता न रही हो, ऐसी बात नहीं है, परन्तु उस विभिन्नता का प्रवाह समन्वय में ही समाप्त होता रहा है। विरोधी दृष्टिकोण अथवा पूर्वपक्ष के प्रति वैचारिक असंतोष भले ही रहा, परन्तु असहानुभूति का कभी लेश भी नहीं देखा गया। समन्वय की ऐसी प्रवृत्ति अन्य देशों में नहीं विकसित हुई।

उदारता—भारतीय संस्कृति की दूसरी प्रमुख विशेषता उसकी उदार प्रवृत्ति है। अपने विकास के साथ ही साथ दूसरे के विकास तथा उत्थान की भी चेष्टा तथा उसमे सहायता करना भारतीयो का व्रत रहा है। परमार्थ की इस ऊँचाई पर आकर ही भारतीय संस्कृति अभारतीयो को भी मुग्ध कर लेती है। इस संस्कृति की उदार प्रवृत्ति का ही प्रत्यक्ष हमे तब होता है, जब भारत मे, कालान्तर मे, अन्य संस्कृतियों का आवागमन तथा परिचय होने पर हम देखते हैं कि यहाँ के लोगो ने अन्य संस्कृतियो से, वह सब कुछ ग्रहण करके अपनी संस्कृति मे समन्वित कर लिया, जो श्रेय तथा प्रेय था। किसी भी संस्कृति के आदर्शों को अपनाने मे भारतीयों को कभी कोई दुविधा नहीं हुई। यह भारतीय संस्कृति की अनुपम उदारता का ही लाभकारी परिणाम था कि अनेक संस्कृतियो ने अपने आपको भारतीयता मे रंग कर भारतीय कहलाने मे गौरव समझा। द्रविड़, कोल, कुषाण तथा हूण सब विलीन हो गये-सब मिल-कर भारतीय ही रह गये और भारतीय ही आज भी है। जो मिल न सके, घुल न सके, उन्हे भी उदारता के साथ अपने समकक्ष स्थान देना भारतीयो का ही काम था। ऐसी है भारतीय संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता।

एकता मे अनेकता और अनेकता मे एकता—भारतीय संस्कृति के बहिरंग मे वैविध्य या अनेकता दिखाई देती है। परन्तु अन्तरैक्य ने इस वैविध्य और अनैक्य को अभिभूत कर रखा है। प्राचीन युग की बात अलग छोड़िए, आज भी भारत मे अनेक धर्म, अनेक जातियाँ, विविध भाषाएँ तथा अनेक सम्प्रदाय हैं, परन्तु उन सभी के मूल मे भारतीयता है, जो उन्हे निरन्तर अनुप्राणित करती है। यो समझिए कि एक सरोवर है जिसमे लाल, गुलाबी, श्वेत तथा नील वर्ण के विविध कमल पुष्प खिले है। या यो समझिए कि भारतीय संस्कृति उस इन्द्र-धनुष के समान है, जिसमे सात रगो की चमक स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने पर भी धनुष एक ही रहता है। जितने अधिक धर्मों के अनुयायी भारत मे पाये जाते हैं, वस्तुतः उतने अन्य किसी भी देश मे नहीं मिलते। इसी प्रकार भारत मे बोली जानेवाली बोलियाँ और भाषाएँ संख्या मे इतनी अधिक हैं कि अनेक विद्वानों ने इन [illegible] पर स्वतंत्र [illegible] की है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि

भारत मे प्रत्येक पांच कोस पर बोली बदल जाती है। ये सब भिन्नताएँ और विभिन्नताएं होते हुए भी मूल मे कुछ ऐसी विशेषता है, जो सभी को एक सूत्र मे पिरोये हुए है। भारतीय संस्कृति एक माला की भांति है, जिसमे अनेक पुष्प (जो विविध प्रकार के हैं) होते हुए भी माला की एक सूत्रता सर्वथा अनाहत है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Fundamental Unity of India" मे इसी विशेषता का विशद विवेचन किया है।

संश्लिष्टता—भारतीय संस्कृति मे संश्लिष्टता की प्रधानता है, विश्लिष्टता की नही। जो संस्कृति सहस्रो वर्षों का इतिहास अपने मे समाविष्ट किए हुए हो, उसमे ऐसी अनवच्छिन्नता नही देखने मे आती, जैसी भारतीय संस्कृति के इतिहास मे है। आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व के आर्य-जीवन के मौलिक तत्व आज भी हमे प्रेरणा देते और अनुप्राणित करते है। यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति केवल आर्य संस्कृति नही है, भले ही उसमे आर्यों के मानदण्डो और मान्यताओं की प्रधानता हो। सम्लिष्ट रूप मे वह भारत भूमि मे पोषण प्राप्त करने वाली अनेक संस्कृतियो का समन्वय और सम्मिश्रण है जो एक दो दिन या एक दो वर्षों के प्रयासों का फल नही, महात्माओं के जीवन के जीवन समर्पित हो गये है, इसे सम्प्राप्त करने मे। विश्वामित्र और अगस्त्य के स्मारक के रूप मे भारतीय संस्कृति की यह संश्लिष्टता उसकी प्रमुख विशेषता है। सभ्यता के चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई अन्य संस्कृतियाँ भी आज परिशीलन पर हैं, जिनका इतिहास *धार्मिक असहिष्णुता, वैचारिक विरोध और सैद्धान्तिक विद्वेष का इतिहास है।* इसके साथ ही प्रारम्भ मे वे जो कुछ थी, उनके उस रूप मे आज आमूल परिवर्तन हो गया है। स्पष्ट देखा जाता है कि उनमे विश्लिष्टता तथा विघटन की प्रधानता है। इसके विपरीत होने के कारण ही भारतीय संस्कृति को *वरीयता* स्वीकार की जाती है।

अवसरानुकूलता तथा गतिशीलता—उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय-संस्कृति मे रूढ़िवादिता की प्रधानता है। यद्यपि आज बहुत से सभ्य देशो के विद्वानो का यह विचार है कि भारत के लोग रूढ़िवादी हैं और इनकी संस्कृति तथा सभ्यता मे गति का अभाव है, नमनीयता नहीं है, युग के

अनुरूप विकास के मार्ग पर बढ़ने की क्षमता नहीं है, परन्तु निस्सदेह यह एक बहुत बडा भ्रम है, जो दीर्घ काल से लोगों की विचार-परम्परा को आक्रान्त किए हुए है। भारतीय संस्कृति की तो यह प्रधान विशेषता रही है और अब भी है कि परिवर्तन और क्रान्ति के लिए उसके द्वार सदा खुल रहे हैं। युगों के परिवर्तन के साथ-साथ आदर्श और मानदण्ड बदलते रहे हैं। वैदिक, 'ब्राह्मण', पौराणिक तथा मध्य युगों की मान्यताएँ अपने मौलिक आधारों को सुरक्षित रखते हुए भी युग के अनुरूप कितनी बदल चुकी हैं, इसे भारतीय संस्कृति का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। संस्कृति में अवष्टंभ (Stagnation) समाज के सांस्कृतिक अवसान के समान है और भारतीय संस्कृति जितने ज्वलन्त और प्रकाशमान रूप में जीवित है, उसे कौन नहीं जानता है?

अवश्य ही संस्कृति की इस निरवच्छिन्न धारा में, जब कभी, जो भी आड़े आये हैं, वे धारा के प्रवाह-सौन्दर्य में वृद्धिकारक ही सिद्ध हुए हैं। यूनान और मिस्र की प्राचीन संस्कृति का जो स्वरूप था, वह आज आमूल और चूडान्त परिवर्तन के गह्वर में विलीन हो चुका है। वहाँ एक सर्वथा नवीन संस्कृति ही प्रसूत हो रही है। भारत के साथ ऐसा नहीं हुआ और यही भारतीय संस्कृति की अवसरानुकूलता और गतिशीलता की अनोखी विशेषता है। एक बात और भी है, यहाँ जो परिवर्तन हुए, वे जनमानस की पुकार के उत्तर थे। सर्वमान्य तथ्य है कि भारतीय संस्कृति में समाज के सभी वर्गों का पर्याप्त योगदान रहा है। धार्मिक सुधार भी हुए हैं तो प्रेम तथा सद्भावना के वातावरण में-क्रूसेडों (धर्म युद्धों-Crusade wars) के माध्यम से नहीं। भारत पर यह सर्वथा विजातीय प्रभाव है, जो आज धर्म और भाषा के नाम पर वैमनस्य जड़ पकड़ता जा रहा है। भारतीय संस्कृति कभी भी इसकी अनुमति नहीं देती। यहाँ शैव, शाक्त, वैष्णव, योगी और वेदान्ती सब एक दूसरे की पूर्ति सी कर देते हैं। ये लोग चार्वाकों और अनीश्वरवादियों से सस्नेह शास्त्रार्थ करते हैं।

पारभौतिकता तथा सूक्ष्मता— भारतीय संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है—भौतिक की तुलना में पारभौतिक तथा स्थूल की तुलना में सूक्ष्म को प्रधानता देना। इस पुण्य भूमि पर विचारक मनीषियों की न्यूनता कभी

नही रही। ससार के विद्वान् जानते है कि सहस्रा वर्ष पूर्व के जिस युग मे विश्व के अन्य देशों म विद्यमान मानव अन्नवस्त्र जैसी जीवन की दैनिक और भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सचेष्ट थे, उसी समय भारत के ऋषि और मुनि लोग इसकी पूर्ति से निश्चिन्त और इनसे बहुत ऊपर उठकर इस लोक के परे जो रहस्यमयी विविधा है उसके रहस्योद्घाटन मे व्यस्त थे। दार्शनिक चिन्तन का जो सूत्रपात ऋग्वेदकाल मे हुआ था, उसका ही चरम विकास भारतीय दर्शन के रूप मे हुआ, जो आज भी विश्व मे भारत की मानमर्यादा की पताका को ऊँचा करता है, और दार्शनिकता भारतीय संस्कृति का एक मुख्य अग बन चुकी है। "भारत का प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक है।" यह धारणा सर्वथा निर्मूल नही। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति मे आदि काल से ही व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है।

स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति ने जहाँ दार्शनिकता का विकास किया, वही दूसरी ओर भौतिक की अपेक्षा पारभौतिक को श्रेय मानने की प्रवृत्ति ने भारतीय आचार शास्त्र तथा नीति शास्त्र को प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति मे नैतिकता और सदाचार का जो सर्वोपरि स्थान है, वह अन्य सभी संस्कृतियों की तुलना म श्रेष्ठ घोषित होने का कारण है। नैतिकता का अपना मूल्य है, इससे तो कोई अस्वीकृति नही ही रखेगा और नैतिकता के जिन मानदण्डो का निर्धारण और पालन भारतीय संस्कृति म किया गया है, वे ससार के सभी मनीषियो की विचार-कसौटी पर खरे उतरते है। यह भी विदेशी प्रभाव है, जो आज भारत म अनैतिकता की वृद्धि देखने मे आ रही है; और यही पर भारतीय संस्कृति के क्रमबद्ध, नियमित तथा सतर्क अध्ययन की आवश्यकता स्पष्ट है।

भारतीय संस्कृति के वे विशिष्ट तत्व जिनके कारण विपरीत वातावरण मे इसकी रक्षा हुई ये हैं:—

आत्मसंयम, चारित्रिक दृढ़ता, धार्मिक निष्ठा, मनोबल की उच्चता, तपस्या की शक्ति, त्याग की महिमा, बौद्धिक वैभव।

पर्वतीय कन्दराओं मे और विशेष रूप मे गंगा आदि नदियों के ऊँचे कगारों की गुहाओं मे सैकड़ों तपस्वी संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो की प्रतिलिपियां तथा स्वतंत्र रचनाएँ भी किया करते थे। धार्मिक कार्य करने के अपराध मे पता लगते ही सरकारी आज्ञा से, ये लेखक कत्ल भी कर दिये जाते थे। उत्तर भारत में तो यह क्रम शताब्दियों बराबर चलता रहा है। फिर भी हमारे इन कर्मठ तपस्वियों का तांता १९वीं शताब्दी तक अक्षुण्ण चला आता है।

भारत भूमि में प्रवेश करने वाले विविध वर्गों एवं सम्प्रदायों के जीवन पर प्राचीन हिन्दू संस्कृति का स्थायी प्रभाव—अपनी स्पष्ट छाप डाल देता है।

वेष भूषा, मुख्यतः स्त्रियों की संपूर्ण प्रसाधन सामग्री तथा केश विन्यास, महावर आदि के प्रयोग यवनियों तक ही नहीं, पाश्चात्य जगत् में भी (पुर्तगाल, अमरीका आदि में) रमणीवर्ग के बीच, सर्वप्रिय बन कर फैल गए हैं।

भोजन एवं पाक विद्या (मिठाइयाँ आदि) का प्रभाव भी विदेशी खाद्य पदार्थों पर स्पष्ट देखा जा सकता है।

मूर्ति-पूजा का प्रभाव बौद्धों, जैनियों पर ही नहीं, यवनो के मज़ार पर उर्स की कव्वालियों के अर्थ से भी स्पष्ट हो जाता है।

फ्रांस की हमारी शिष्या डा० सिल्वर्न लिलियन बड़ी रुचि से साड़ी आदि धारण करके स्वाभाविक सरलता का अनुभव करें तो क्या आश्चर्य है।

भारतीय संस्कृति के अध्ययन की आवश्यकता और उसका महत्व

अशान्ति और पारस्परिक विद्वेष के आधुनिक युग मे भारतीय संस्कृति के अध्ययन का विशेष महत्व है। मानवता आज एक कगार पर खड़ी है, जिसके किसी भी क्षण गिर जाने का भय अपनी पराकाष्ठा पर स्थित है। विश्व के सभी राष्ट्र यदि भारतीय संस्कृति के शान्ति और प्रेम के आदर्शों का पाठ पढ़कर व्यावहारिक जीवन में उनका प्रयोग करें तो कोई कारण नहीं कि सम्पूर्ण विश्व सद्भावना और भ्रातृत्व की छत्रछाया में पुन: न फूलने फलने लगे।

आधुनिक विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों ने अणशक्ति का आविष्कार किया है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह कितनी निन्दास्पद बात है कि शक्ति का प्रयोग मानव की उन्नति के लिए न किया जाकर उसके विनाश के लिए किया जाय। विज्ञान आज उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच चुका है और अनेक आविष्कारों ने मानव-जीवन की सुखसुविधा के साधनों में पर्याप्त वृद्धि भी कर दी है। परन्तु इन सबसे भौतिकता की प्रवृत्ति में, जो अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और आध्यात्मिकता का जो ह्रास हुआ है, उससे मानव जीवन की शान्ति और सुरक्षा तथा पारस्परिक सद्भावना को भय उत्पन्न हो गया है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि विश्व को पुनः एक परिवार में देखने का प्रयत्न किया जाय "वसुधैव कुटुम्बकम" का यह पाठ भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त और कहाँ से पढ़ा जा सकता है ?

इस प्रकार यों तो सम्पूर्ण विश्व के लिए ही यह हितप्रद होगा कि भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट आदर्शों का प्रचार व प्रसार हो परन्तु भारत के लिए उनका विशेष महत्व है। भारतीय राष्ट्र में सर्वांगीण विकास की आवश्कता है। अनेक वर्षों के पारतन्त्र्य के पश्चात् जब हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है तो उसके साथ ही अनेक अभाव भी हम अनिर्वत प्राप्त हुए हैं। सच तो यह है कि किसी भी देश पर जब विदेशी शासन दृढ़ता से स्थापित होता है तो संस्कृति का ह्रास प्रायः होता ही है। सैकड़ों वर्षों की दासता में, हम स्वयं अपने सदादर्शों से पीछे हट गये हैं और आज की परिवर्तित परिस्थितियों में पुनः उनके मूल्यांकन की आवश्यकता है। योरोपीय संस्कृति के प्रभाव से हम भी कुछ उसी परम्परा में सोचने-विचारने और विचरने लगे हैं। यहाँ तक कि आध्यात्मिकता और नैतिकता, जो हमारी संस्कृति की प्रधान निधियाँ हैं धीरे-धीरे क्षीणप्राय होती जा रही हैं, इस सब का परिणाम हमारी सुखशान्ति का तिरोधान है। डा० राधाकृष्णन् ने कहा है-'भारत का ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व का यह दुर्भाग्य है कि हम आध्यात्मिकता को सर्वथा भूलकर भौतिकता के पीछे भाग रहे हैं। विश्व में शान्ति और वास्तविक सुख की वृद्धि के लिए आध्यात्मिकता तथा नैतिकता का आश्रय लेना अभीष्ट है।'

भारत किसी समय में जगद्गुरु था। आज उसका वह गौरव कम हो गया है और शक्ति तथा वैभव आदि के क्षेत्रों मे वह विश्व के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ता जा रहा है। कारण यह है कि हम अपनी विशिष्ट संस्कृति का परित्याग करते जा रहे है। हम 'संगच्छध्वं संवदध्वं सवो मनांसि जायताम्' वाले वैदिक उपदेश को भूलते जा रहे हैं। 'समाना नो आकूति' अब हमारा आदर्श वाक्य नही रह गया है। विघटन और वैमनस्य की वृद्धि होती जा रही है और देश की भावनात्मक एकता भंग होती दिखाई पड़ रही है। आज हम यह पहले सोचते हैं कि हम हिन्दू हैं, हम मुसलमान है, हम पारसी है, हम सिख है और हम ईसाई हैं। हम यह नही सोचते कि हम भारतीय सबसे पहले है और कुछ भी बाद मे। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि हमारा राष्ट्रधर्म तिरोहित होता जा रहा है और व्यक्ति-धर्मों का प्राधान्य होता जा रहा है।

ऐसे संक्रान्तिकाल मे, परिस्थितियों के संक्रमण के युग मे जब हम इन सब अवांछित प्रवृत्तियों से बचने और वास्तविक उन्नति का मार्ग खोजने का प्रयत्न करते है, तो सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि अपनी ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन और उसके श्रेष्ठ सिद्धान्तों एव आदर्शों का जीवन में अनुगमन ही हमारे प्राचीन सम्मान की पुनः प्राप्ति मे हमारा प्रधान सहायक बनेगा। सच तो यह है कि भारत की दुरवस्था के आर्थिक सामाजिक, नैतिक तथा भौतिक ह्रास का प्रमुख कारण ही यह है कि हम अपनी संस्कृति से दूर भाग आये हैं और उस संस्कृति की गोद में जाने का प्रयत्न करते रहे हैं जो हमारे अनुकूल नहीं है।

भारतीय संस्कृति के अध्ययन की आवश्यकता और उसका महत्व इस प्रकार सहज ही स्पष्ट हो जाता है और इस अध्ययन की विशेष आवश्यकता हमारे नवयुवकों को है क्योंकि उन्ही के बलिष्ठ कन्धों पर भविष्य मे राष्ट्र का भार आने वाला है। राष्ट्र का निर्माण वैसा ही होगा उसकी प्रगति उसी दिशा मे होगी, जैसा उन नवयुवकों के जीवन का आदर्श हो।

इसी दृष्टिकोण से भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षाक्रम के अन्तर्गत

भारतीय संस्कृति के अध्ययन का समावेश किया गया है और इसी उद्देश्य की पूर्ति मे सहायता पहुँचाने की दृष्टि से आगे के पृष्ठ लिखे गये है। लेखक ने बिखरी हुई सामग्री को यथेष्ट रूप मे एकत्र उपस्थित करने का प्रयास किया है। यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है इस विषय मे मौन रहकर हम इसका निर्णय उन छात्रो पर छोडते है जो इस पुस्तक को पढेंगे और लाभान्वित होगे।

सामाजिक व्यवस्था

प्राचीन भारत में पारिवारिक जीवन एवं उसका महत्व

प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन पर विवेचनात्मक दृष्टि-निक्षेप करने से ज्ञात होता है कि सामाजिक विकास का आरम्भ पारिवारिक जीवन से ही हुआ है। मानव जीवन के वास्तविक उद्देश्य को दृष्टि में रखकर ही पारिवारिक जीवन की व्यवस्था की गई थी। व्यक्ति परिवार का और परिवार समाज का आवश्यक अंग समझा जाता था। समाज में गृहपति का स्थान महत्वपूर्ण होता था। प्राचीन भारत में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। ऋग्वेद के निम्नलिखित शब्दों में पारिवारिक जीवन के मर्म एवं महत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—"सगच्छध्व सवदध्व स वो मनासि जानताम्।" अर्थात मनुष्यों को चाहिए कि वे एक साथ चलें, एक साथ बोलें तथा एक दूसरे के मन को भली प्रकार समझें। तात्पर्य यह कि परस्पर सहयोग की भावना लेकर रहें।

वैदिक (ऋग्वेद) काल में पारिवारिक जीवन की प्रतिष्ठा थी, 'गृहपति' और गृहिणी' का महत्वपूर्ण स्थान इसका प्रमाण है। ब्राह्मण, उपनिषदादि ग्रन्थों में भी पारिवारिक जीवन का उल्लेख मिलता है तथा गृह्यसूत्र, धर्मशास्त्र आदि में तो उसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। मेगस्थनीज आदि यूनानी लेखकों तथा अन्य विदेशी यात्रियों आदि ने भारतीयों की सत्यप्रियता, धार्मिकता एवं उनके सर्वोत्कृष्ट पारिवारिक जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्राचीन भारतीय पारिवारिक जीवन के आधार-स्तम्भ, जो उच्च आदर्श थे, उनसे मानव-जाति का कल्याण तो हो ही सकता था, प्राणि मात्र के लिए भी वे मंगलकारी थे।

पारिवारिक जीवन मे जिस प्रकार पिता पर उत्तरदायित्व होते हैं, उसी प्रकार उसके कुछ अधिकार भी होते हैं। परिवार के सब सदस्यों को उसके नियन्त्रण मे रहना एव आज्ञा का पालन करना पड़ता था। पिता को अपने पुत्र के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?* इस सम्बन्ध मे मनु का आदेश है—कि पाँच वर्ष की आयु तक पिता पुत्र का लाड-प्यार करे, १० वर्ष की आयु तक ताड़न करे तथा १६ (सोलह) वर्ष की अवस्था वाले पुत्र के साथ मित्र के समान व्यवहार करे। इस प्रकार पिता का नियन्त्रण पुत्र के लिए कभी भी असुविधाजनक नही हो सकता था।

परिवार मे माता का स्थान तो पिता से भी अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। स्त्रियो के सम्बन्ध मे मनु ने कहा है—"यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" अर्थात जहाँ नारियो की पूजा होती है वहाँ देवता रमण (निवास) करते है। माता से बालक का बहुत निकट का सम्बन्ध होता है। वह उसकी जन्मदात्री है। माँ के दूध के साथ ही बालक उसकी आन्तरिक भावनाएँ भी ग्रहण करता है। बालक की सर्वप्रथम गुरु माता ही होती है। सन्तान का पालन पोषण एव अन्य आन्तरिक व्यवस्था उसी को करनी पड़ती थी।

परिवार मे पिता गृहपति एव माता गृहिणीपद से अभिषिक्त की गई थी। गृहपति बाहर के कार्यों मे व्यस्त रहता था, एव घर की आन्तरिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व गृहिणी पर होता था। घर मे पूर्णरूपेण उसी का अधिकार रहता था। वह गृहपति के कार्यों मे सहयोग भी देती थी। उसके बिना कोई धार्मिक कार्य सम्पन्न नही हो सकता था।

तीन ऋण

भारतीयो का जीवन जन्म से ही उत्तरदायित्व से पूर्ण रहा है। उन्हें

*"लालयेन् पचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत॥"

जीवन में निम्नलिखित तीन प्रकार के ऋण (१) पितृ-ऋण (२) ऋषि ऋण और (३) देव ऋण चुकाने पड़ते थे। पितृ-ऋण पारिवारिक जीवन से विशेषतया सम्बन्धित है। पितृ-ऋण का अर्थ है पुत्र पर पिता का कर्ज। यह कर्ज चुकाया कैसे जाय? इसका विधान हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार निर्धारित किया है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा यह ऋण चुकाया जा सकता है। जिस प्रकार पिता समुचित पालन-पोषण करते हुए, अच्छे संस्कार डालकर एवं उत्तम शिक्षा देकर पुत्र को समाज में अच्छा स्थान प्राप्त करवाता है, उसी भाँति पुत्र को चाहिए कि पिता बनने पर वह भी अपने इन कर्तव्यों का भली प्रकार पालन करे। अधिकार मिलते ही कर्त्तव्यों के प्रति सजग हो जाना चाहिए।

ऋषि-ऋण तथा देव ऋण सामाजिक एवं धार्मिक जीवन से सम्बद्ध होते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को दैनिक जीवन में कुछ निर्धारित कर्तव्य करने पड़ते थे, जिसका विस्तृत विवरण गृह्यसूत्रों व मनुस्मृति आदि में उपलब्ध होता है। वर्तमान समाज में भी इन नियमों का पालन साधारणतः किया जाता है।

पंच महायज्ञ

मनुस्मृति के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को ब्राह्ममुहूर्त में उठकर धर्मार्थ का चिन्तन करना चाहिए। प्रातः उठकर शौचादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर समाहित चित्त से पूर्व की ओर मुख करके सन्ध्या की उपासना करे। शारीरिक क्लेश और उनके कारणों का भी चिन्तन करे। मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में लिखा है कि पाँच प्रकार की हिंसाएँ प्रत्येक गृहस्थ से नित्य होती रहती हैं—(१) चूल्हा (२) चक्की (३) झाड़ू, (४) ओखली मूसल और (५) घड़ा इत्यादि के द्वारा। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पंचसूना' है। सूना का अर्थ है कसाईखाना (Slaughter House)। इस पंचसूनावच्छिन्न गृहस्थ के लिए शास्त्र का वचन है— 'पंचसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति'। अतः इनसे निवृत्यर्थ ही प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने का विधान महर्षियों ने किया है।

'सर्वैर्गृहस्थैः पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः' ।

मनु लिखते हैं—

'पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बाध्यते यास्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥'

पञ्चमहायज्ञ का वर्णन कुछ ग्रन्थों में प्राचीन ऋषि-मुनियों के द्वारा इस प्रकार किया गया है।

'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
(मनुस्मृति)

'बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।
भूतपित्र्यमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः ॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति)

देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च ।
नृयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्च पञ्चयज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥
(बृहन्नारदीय पुराण)

पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते । देवयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो भूतयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति' ।

भगवान् मनु का कहना है कि जो गृहस्थ यथा-शक्ति इन पञ्च महायज्ञों का एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी पञ्च-सूना दोष से दुष्ट नहीं होते —

रिक जीवन के दैनिक कर्त्तव्यों में उपर्युक्त पंचमहायज्ञों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। जीवन का सच्चा आनन्द इन दैनिक कर्त्तव्यों को विधिवत् पूर्ण करने से ही प्राप्त होता था। जो गृहस्थ पंचमहायज्ञों को यथाशक्ति करता है, वह घर में रहते हुए भी हिंसा के दोषों से मुक्त रहता है।

(१) ब्रह्मयज्ञ—अर्थात् अध्ययन और अध्यापन द्वारा निरन्तर ज्ञान वृद्धि में यत्नपूर्वक संलग्न रहना। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रारम्भ हुआ ज्ञानोपार्जन गृहस्थाश्रम में भी जारी रहता था। वेद के अध्ययन, अध्यापन द्वारा ज्ञानवृद्धि होते रहने से, परमात्मा सम्बन्धी मनन, चिंतन एवं इस विश्व से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान करने में सहायता मिलती थी, जिससे समाज, देश एवं मानवमात्र का कल्याण होता था। इसके अन्तर्गत सन्ध्योपासन-कर्म भी आता है। इसे ऋषियज्ञ कहते हैं।

(२) देवयज्ञ—इसको अग्निहोत्र भी कहते हैं। यह प्रातः एवं सायं दोनों समय वेदमन्त्रों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" अर्थात् स्वर्ग की इच्छा रखने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसका महत्व है। अग्निहोत्र से वायु शुद्ध होती है और वायु शुद्ध होकर वातावरण के दोष नष्ट करती है, जिससे रोगों का नाश होता है। अग्निहोत्र से जल भी शुद्ध होता है। अग्नि में दी हुई आहुति आदित्य में पहुँचती है और आदित्य से वर्षा होती है। वर्षा से अन्न होता है और उससे प्राणी जीवित रहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनुस्मृति)

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न से तात्पर्य समस्त खाद्य पदार्थों से है।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

इस प्रकार खाद्यपदार्थों से ही समस्त प्राणियों के शरीर में रज और वीर्य आदि बनते हैं। उस रज वीर्य के संयोग से ही विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति होती है और उत्पत्ति के अनन्तर उनका पोषण भी खाद्य पदार्थों से होता है। अस्तु, सर्व प्राणियों की उत्पत्ति, वृद्धि और पोषण का एक मात्र हेतु अन्न ही है।

'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति।

(तैतिरीय उपनिषद्)

इसलिए दैनिक जीवन में अग्निहोत्र का उपर्युक्त महत्व है। प्रत्येक गृहस्थ को नियमानुसार अग्निहोत्र करना चाहिए।

(३) भूतयज्ञ—यह बलिवैश्वदेव भी कहा जाता है। यह महायज्ञ भोजन के पूर्व किया जाता है। पहले मिष्ठान्न या जो भोजन रसोई (पाकशाला) में बना है उसकी कुछ आहुतियाँ अग्नि में छोड़ी जाती हैं, फिर लवणान्न के ६ भाग निकाले जाते हैं जो कुत्ते, पापी, श्वपच, रोगी, वायस, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि को दिए जाते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति का वचन है कि देवयज्ञ से अवशिष्ट अन्न को भूतों (जीवों) के लिए पृथ्वी पर डाल देना चाहिए—

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतबलिं हरेत्।
अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत्॥

इस प्रकार प्राणि मात्र के प्रति अपने दायित्व को समझते हुए प्रत्येक गृहस्थ उन्हें सन्तुष्ट करे यह विधान है। जो अपाहिज एवं निराधार हैं उनके उदर निर्वाह की भी यह एक व्यवस्था है।

(४) नृयज्ञ—यह अतिथियज्ञ भी कहलाता है। प्रत्येक गृहस्थ का अतिथियों के प्रति भी कुछ उत्तरदायित्व होता था। घर आने वाले अतिथियों की विधिवत् पूजा करने का विधान है। ये अतिथि साधु महात्मा, पूर्ण विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, छलकपटहीन, सत्यवादी, सज्जन इत्यादि होते थे। ऐसे अतिथि के आने पर गृहस्थ को चाहिए कि सर्वप्रथम उसे आसन दे फिर भोजन, वस्त्र, जल, दक्षिणा आदि देकर सन्तुष्ट करे। वैसे अपने घर में

आने वाले सभी अतिथि होते हैं—जो जिस स्थिति का हो उसका उसी प्रकार सत्कार करना चाहिए। जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो और अनायास आ जाय, उसको अतिथि कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करना मनुष्य का परम धर्म है। कुछ विद्वानों के अनुसार जो एक तिथि से अधिक न टिके उसे अतिथि कहते है।

नृयज्ञ अतिथि का सत्कार है। घर आये हुए अतिथि का सत्कार कर उसे विधि पूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है—

'सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति संस्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥'

(मनुस्मृति)

अतिथि के भोजन कर लेने के पश्चात् ही गृहस्थ को भोजन करना चाहिए। जो मनुष्य केवल अपने ही उदर पोषणार्थ भोजन बनाता है, वह पाप का ही भक्षण करता है।—

'भुन्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।' (गीता)
'अघ स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।' (मनु०)
केवलाघो भवति केवलादी । ' (ऋग्वेद)

कुछ न होने पर भी गृहस्थ के घर कुशा का आसन, बैठने के लिए स्थान, शीतल जल और मीठी वाणी ये चार वस्तुएँ अवश्य होती है। उसे इन वस्तुओं से ही अतिथि का सत्कार करना चाहिए :—

तृणानि भूमिरुदक वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।'

कठोपनिषद में यमराज की पत्नी धर्ममूर्ति यमराज के अतिथि के असत्कार से होने वाले अनर्थों को कहती है—

आशा प्रतीक्षे सगतं सूनृता च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानाश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥

(४) पितृयज्ञ—माता, पिता, आचार्य इत्यादि तथा अन्य गुरुजनों की नित्य सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके प्रिय कर्मों का आचरण करना आदि पितृयज्ञ कहलाता है। पितृयज्ञ से तात्पर्य मृत-पितरों से सम्बन्धित तर्पण आदि भी होता है। आजकल आश्रम-व्यवस्था की प्रथा मिट जाने से नवयुवक व वृद्ध एक ही परिवार में रहते हैं इसी से आपस में मनोमालिन्य भी हो जाता है। पितृयज्ञ का विधान उसे दूर करने में सहायक होता है।

आर्य-हिन्दू जाति के ये ही पाँच महायज्ञ मुख्य हैं। अन्य यज्ञ तो नैमित्तिक हुआ करते हैं, परन्तु ये नित्य के कर्त्तव्य हैं तथा मानव के दैनिक जीवन से अधिक सम्बद्ध हैं, अतः इनको महायज्ञ कहा गया है। यदि ये नित्य विधिवत् किये जाते हैं तो मनुष्य का जीवन उन्नत और पवित्र होता जाता है।

संस्कार

मनुष्य जीवन को सुन्दर और उच्च बनाने के लिए हमारे पूर्वज ऋषियों ने जो विधान बताये हैं, उन्हीं को संस्कार कहते हैं।

संस्कार अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय पारिवारिक जीवन की आधार-शिला रहे हैं जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त विभिन्न संस्कारों की उपादेयता का हमारे विविध धर्म ग्रन्थों में यथाविधि विधान है। संस्कारों की संख्या के विषय में हमारे धर्म गुरु एवं आचार्यों में मतवैभिन्य है। कुछ आचार्य केवल दस संस्कारों का निर्देश करते हैं तो अन्य सोलह संस्कार मानते हैं। ये संस्कार हमारे दाम्पत्य-जीवन के उत्तरदायित्व के प्रतीक भी हैं। यदि माता पिता इन संस्कारों का यथा-विधि सम्पादन नहीं करते तो वे अपने पवित्र कर्त्तव्य से च्युत होते हैं। समाज में उन्हें प्रतिष्ठित स्थान नहीं प्राप्त होता। ये संस्कार हमारे जीवन को इस लोक में पवित्र करने के साथ ही, मृत्यु के उपरान्त भी मनुष्य को पाप से मुक्त करते हैं। अतः संस्कार ऐहिक तथा

पारलौकिक दोनों प्रकार की सिद्धियों के साधन हैं। विभिन्न संस्कार निम्न-लिखित हैं :—

गर्भाधान	पुंसवन	सीमन्तोन्नयन
जातकर्म	नामकरण	निष्क्रमण
अन्नप्राशन	चूडाकरण, चूडाकर्म	कर्णवेध
उपनयन	वेदारम्भ	समावर्तन
विवाह-संस्कार	गृहस्थाश्रम-संस्कार	वानप्रस्थाश्रम-संस्कार
सन्यासाश्रम-संस्कार	अन्त्येष्टि-कर्मविधि	

(१) गर्भाधान—विवाहोपरान्त सन्तान-प्राप्ति के निमित्त गर्भाधान संस्कार का विधान है। यह एक प्रकार का वैवाहिक हवन है। यह गर्भाधान के पूर्व ऋतुकाल होने पर, उसके चौथे दिन नियमानुसार किया जाता है। हवन की समाप्ति पर पति परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि "धाता गर्भं दधातु ते।" परमेश्वर तुम्हें गर्भ धारण करने योग्य बनाए। इसमें न तो आदि-वासियों की सी कोई स्वार्थ-भावना है, और न मध्यकालीन धार्मिक पक्षपात का पुट है, बल्कि आधुनिक सभ्य दशा की पारस्परिक स्वीकृति एवं तृप्ति का समुचित विधान दृष्टिगोचर होता है।

(२) पुंसवन—पुंसवन संस्कार पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा का द्योतक है। गर्भाधान अथवा गर्भ स्थिति के दूसरे अथवा तीसरे महीने के बीच में विकल्प से इस संस्कार के सम्पादन का विधान है जैसा कि पारस्कर गृह्य-सूत्र में कहा गया है—'अथ पुंसवनं पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा।' अग्निप्रदक्षिणा, दधिप्राशन, नासावेध, उदरस्पर्श एवं फलस्नान आदि विभिन्न क्रियाएँ इसके अंग हैं। यह संस्कार पुत्र-प्राप्ति के विशेष उद्देश्य से किया जाता है। पति-पत्नी के हाथ में यव रख कर कहता है "यह पुरुषेन्द्रिय है।" इससे पत्नी का ध्यान पुरुष-सन्तान में स्थिर होता है।

(३) सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार माता के गर्भ-धारण को सूचित करता है। केवल प्रथम गर्भ-धारण के समय ही यह संस्कार किया जाता है।

सीमन्तोन्नयन का शाब्दिक अर्थ है केशों का शृंगार करना। यह प्रायः गर्भावस्था के छठे या आठवें महीने में किया जाता है 'पुंसवनवत्प्रथम गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा' (पारस्कर) साधभक्षण' या गर्भवती स्त्री की इच्छा-पूर्ति की क्रिया भी इसी संस्कार से सम्बद्ध है। इस अवसर पर साज, शृंगार, संगीत, सहभोज आदि का विशेष महत्व है। पत्नी को उदुम्बर के पुष्पों की माला पहनाने का विधान है।

(४) जातकर्म—बालक के जन्म के उपरान्त उसकी रक्षा के निमित्त जातकर्म-संस्कार का सम्पादन किया जाता है। पिता यज्ञ करने के साथ ही बच्चे के स्वास्थ्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। बाधाओं के निवारण के लिए पिता विभिन्न क्रियाएँ करता है। बच्चे को स्नान भी कराया जाता है। शिशु को मधु घृत एवं माँ का दूध मिलाकर पिलाया जाता है।

जातकर्म संस्कार के द्वारा पिता शिशु का अभिनन्दन करके उसे अपना व्यक्तिगत प्रभाव प्रदान करता है। इसी संस्कार के साथ नान्दीमुख श्राद्ध का विधान है। शिशु के शरीर का स्पर्श करके व्यक्तिगत प्रभाव डाला जाता है, मस्तक सूँघकर बाधा निवारण की प्रक्रिया होती है, अपनी श्वास छोड़कर मेधाजनन होता है तथा प्रार्थना-मन्त्र पढ़कर देवताओं से दया एवं आशीर्वाद की याचना की जाती है—

अग्निरायुष्य स वनस्पतिरायुष्य तेनत्वा आयुष्या आयुष्मन्त करोमि।
मेधानि ते देवा सविता, मेधानि देवी सरस्वती
मेधानि ते अश्विनो देवौ, आधत्त पुष्करस्रजौ॥

(५) नामकरण—यह संस्कार बच्चे के नाम रखने से सम्बन्धित है। माता-पिता बच्चे का, अपने उपयोग के लिए एक प्रिय नाम रखते हैं तथा पुरोहित उसकी राशि के अनुसार एक मुख्य नाम रखता है। बालक और बालिका के नाम चुनने के लिए भिन्न-भिन्न नियम हैं। इस संस्कार में होम, नामकरण, स्पर्श, हिरण्यद धन तथा अवघ्राण आदि विभिन्न क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। ये सभी क्रियाएँ बच्चे पर व्यक्तिगत प्रभाव डालने और उसे बाधामुक्त करने के हेतु ही सम्पादित की जाती हैं। नाम का सुन्दर तथा

सार्थक होना परमावश्यक है। जैसा नाम होता है, वैसा ही भाव भी पड़ता है। अतएव बच्चे का ऊटपटांग नाम कभी न रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में बृहस्पति का कथन अवलोकनीय है —

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः,
शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्य—
स्ततः प्रशस्तं खलु नाम कर्म ॥'

(६) निष्क्रमण— निष्क्रमण संस्कार में बच्चे को सूतिकागृह से बाहर निकाला जाता है। जन्म से प्रायः चौथे महीने में इस संस्कार को करने का विधान है। "चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति" । (आश्वलायन)। दो, तीन महीने में बच्चा सूर्य, चन्द्र, वायु आदि के प्राकृतिक प्रभाव को सहन करने योग्य बन जाता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इस संस्कार का महत्व है। मातृगर्भ के अन्धेरे में रहने के कारण बच्चे को सूर्य के तीव्र प्रकाश में ले आने से उसकी दृष्टि को हानि पहुंचने की पूर्ण सम्भावना रहती है। अतः होम करने के बाद प्रथम चन्द्र के शीतल प्रकाश में बच्चे को निकाला जाता है, तत्पश्चात् सूर्य के प्रकाश में। इसमें सूर्य देवता तथा चन्द्र देवता से बच्चे की दृष्टिशक्ति को पूर्ण बनाए रखने के लिए प्रार्थना की जाती है।

(७) अन्नप्राशन—जन्म से प्राय. छः महीने के उपरान्त दाँत निकलने के समय बच्चे को भोजन खिलाने से सम्बद्ध यह संस्कार किया जाता है। इसमें दही, शहद, घृत तथा पके हुए चावल आदि पदार्थों का बच्चे के मसूढ़ों से स्पर्श कराया जाता है। बच्चे की शारीरिक वृद्धि के साथ ही ये पदार्थ उसे खिलाये जाते है। इस संस्कार का उद्देश्य बच्चे के दाँतों की तथा पाचन-क्रिया की देखभाल करना है। दृष्टिशक्ति की भाँति ही दाँत भी शरीर के अत्यधिक आवश्यक अंग हैं। अन्नप्राशन संस्कार के पश्चात् से ही बच्चे को थोड़ा-थोड़ा अन्न खिलाया जाने लगता है, जिससे उसकी पाचन क्रिया शक्तिशाली होती चले।

(८) चूड़ाकर्म—चूड़ाकर्म में बच्चे के केशों को कटाने या तथा केवल शिखा को रखने का विधान है। इस संस्कार का सम्बन्ध बच्चे के मस्तिष्क से है। शिखा के रखने का वैज्ञानिक-विधान है इससे सिर की वृद्धि बिना किसी बाधा के होती है। बाल कटने के पश्चात् बच्चे के शिर पर मक्खन मलने तथा शुद्ध सुगन्धित जल से स्नान कराने का विधान है। चूड़ाकर्म में पहले होम किया जाता है फिर शिर के केश काटे जाते है और शिखा रखी जाती है। यह बच्चे के पहले अथवा तीसरे वर्ष में सम्पन्न किया जाता है। कटे हुए केश गोबर अथवा आटे की लोई में रखकर किसी नदी या तालाब में छोड़ दिये जाते हैं।

(८ अ) कर्णवेध— जन्म के तृतीय अथवा पञ्चम वर्ष में कर्णवेध संस्कार का सम्पादन किया जाता है 'कर्ण वेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा।' (आश्वलायन)। इसमें कोई योग्य पुरुष बालक के कर्णों एवं नासिका का वेधन करता है। छिद्रों में धातु की शलाका रखी जती है तथा औषध भी लगाई जाती है जिससे कान पकें नहीं।

(९) उपनयन—उपनयन संस्कार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार है। इसका सम्बन्ध बालक की शिक्षा दीक्षा से है। जब बालक लगभग आठ वर्ष का होता है तब से लेकर १४वें वर्ष के बीच में किसी भी समय पिता उसे किसी योग्य अध्यापक के पास ले जाता है। इस संस्कार में बालक को यज्ञोपवीत भी दिया जाता है। अञ्जलि-पूरण इस संस्कार की मुख्य विधि है जो प्रकट करती है कि बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्सुक है। बालक के चरित्र-निर्माण का उत्तरदायित्व माता-पिता से अब गुरु पर आ जाता है। इस संस्कार से बालक का दूसरा जन्म होता है और इसीलिए उसे द्विज कहा जाता है। इस जन्म के अनन्तर प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का गुरु उपदेश करता है, जिसका द्विज को नित्य मनन करना पड़ता है। उपनयन संस्कार की अन्य क्रियाओं के हो चुकने पर अन्त में भिक्षा माँगने की क्रिया होती है। कुछ ग्रन्थों के अनुसार विद्यार्थी अपने शिक्षा-सम्बन्धी व्यय के हेतु भिक्षा की याचना करता है ताकि गुरु विद्यार्थी

के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व से मुक्त रहे और उस पर केवल शिक्षा देने का ही भार रहे। इसी संस्कार के द्वारा बालक ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करके वेदाभ्यास का अधिकारी होता है।

(१०) वेदारम्भ—वेद का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व, जो धार्मिक विधि की जाती है, उसको वेदारम्भ संस्कार कहते है। इस संस्कार के द्वारा बालक चारो वेदो के सांगोपांग अध्ययन के लिए नियम धारण करता है। प्रातःकाल शुभ मुहूर्त मे आचार्य यज्ञ आदि का सम्पादन कर बालक को वैदिक मन्त्रो का अध्ययन आरम्भ करता है। यह संस्कार उपनयन संस्कार वाले दिन ही अथवा उससे एक वर्ष के अन्दर गुरुकुल मे सम्पन्न होता है। वेदो के अध्ययन का आरम्भ गायत्री मन्त्र से किया जाता है।

(११) समावर्तन—समावर्तन संस्कार बालक की शिक्षा-समाप्ति पर किया जाता है, जब बालक विद्यालय छोड़कर अपने घर जाने को तत्पर होता है। उस समय आचार्य उसे सत्य, धर्म, स्वाध्याय आदि के लिए उपदेश तथा विवाह करके सन्तानोत्पत्ति के लिए आज्ञा भी देता है।

(१२) विवाह—शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के हेतु विवाह-संस्कार मे मनुष्य का, कुलशीलवती, गुणवती कन्या से सन्तानोत्पत्ति तथा अपने वर्ण के अनुकूल कर्म करने के लिए विवाह किया जाता है। वर कन्या का हाथ सम्पूर्ण जीवन के लिए अपने हाथ मे ग्रहण करता है। इस संस्कार को पाणि ग्रहण भी कहा जाता है।

विवाह एक संस्कार है। मनुस्मृति के अनुसार हिन्दू-विवाह आठ प्रकार का होता है। ये आठो प्रकार क्रमशः (१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) आसुर (६) गान्धर्व (७) राक्षस और (८) पैशाच होते हैं।

(१) ब्राह्म विवाह—यह विवाह सबके लिए आदर्श स्वरूप है। इस विवाह मे विवाह-योग्य कन्या का पिता अथवा संरक्षक द्वारा किसी योग्य वर को जो गुणवान्, सुशिक्षित एवं चरित्रवान् हो उपयुक्त दक्षिणा सहित कन्या-दान किया जाता है।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥
(मनुस्मृति)

इस विवाह का उद्देश्य होता है गृहस्थाश्रम के समस्त उत्तरदायित्वों एवं कर्त्तव्यों का समुचित पालन करते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार कर मोक्ष प्राप्त करना। शिवपार्वती एवं अरुधती और वसिष्ठ के विवाह, ब्राह्मविवाह के महान् आदर्श है।

२. दैव-विवाह—इस विवाह मे आभूषणो से अलकृत कन्या का दान पुरोहित (विवाह-यज्ञ मे होता का स्थान ग्रहण करने वाले) को दिया जाता है।

"यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।"
(मनुस्मृति)

प्राचीन काल मे 'याज्ञिक क्रिया' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। अतः पुरोहित वर को लोग सर्वोत्तम समझते थे। च्यवन और ऋचि एव इन्द्र तथा शची के विवाह, दैव-विवाह के ज्वलंत उदाहरण हैं।

३ आर्ष विवाह—विवाह के इस प्रकार मे —"कन्या के माता पिता या अभिभावक वर से एक गाय और एक बैल अथवा दो बैल और दो गउएँ ले लेने पर ही उसको अपनी कन्या देते थे।"

'एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानाद्विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥'
(मनुस्मृति)

इससे यह समझा जाता था कि वर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने एवं कृषि द्वारा जीवकोपार्जन करने के लिए सहमत और समर्थ है। आध्यात्मिक साधना के लिए स्वतन्त्र रहने वाले विद्वान, बुद्धिमान एवं चरित्रवान् ऋषि से यह आशा की जाती थी कि वह समाजोन्नति एवं राष्ट्रोन्नति के आधारस्तम्भ स्वरूप बुद्धि-वैभव सम्पन्न प्रजा उत्पन्न करेगा। अत उनकी स्वीकृति लेकर

ही कन्या के माता पिता उसके साथ अपनी कन्या का विवाह करते थे। जैसे अगस्त्य एवं लोपामुद्रा का विवाह इसका उदाहरण है।

प्राजापत्य विवाह—कन्या और वर को यज्ञशाला में विधिपूर्वक सबके सामने 'तुम दोनो मिलकर गृहस्थाश्रम के कर्मों का यथावत् पालन करो' ऐसा कहकर दोनो की प्रसन्नता पूर्वक पाणि-ग्रहण होना, प्राजापत्य विवाह है—

'सह नौ चरता धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधि स्मृत ॥'

(मनुस्मृति)

प्रजाओ की वृद्धि करना इस विवाह का लक्ष्य होता है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है। सन्तानोत्पत्ति के हेतु पत्नी प्राप्त करके पितरो का पूजन, आश्रितो अतिथियो और निराश्रयो की सेवा, सहायता करते हुए अन्य पारिवारिक एव सामाजिक कर्त्तव्यो का पालन करते रहना, गृहस्थ का उत्तरदायित्व होता है।

उपर्युक्त चारो प्रकार के विवाह सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। इन विवाहो से उत्पन्न सतानें 'स्वस्थ यशस्वी सम्पत्तिशालिनी एव चरित्रवान् होंगी तथा सौ वर्ष तक जीवित रहेंगी" ऐसा विद्वानो के द्वारा कहा गया है। अत वैवाहिक-जीवन की सफलता केवल पति पत्नी के पारस्परिक सुख आदि से न हो, बल्कि उनकी सन्तानो की सुख सुविधा, गुण गरिमा एव प्रसन्नता से आँकनी चाहिए।

अन्य चार प्रकार के विवाह आवश्यक या आदर्शरूप नहीं है, बल्कि मानवीय दुर्बलताओं के फलस्वरूप परिस्थिति विशेष में उनकी व्यवस्था एव स्वीकृति मानी गई है, जिससे सामाजिक व्यवस्था में दृढ़ता बनी रह तथा किसी प्रकार की विशृंखलता एव अनुशासनहीनता न आने पावे। हमारी हिन्दू-संस्कृति मे जीवन की प्रत्येक गतिविधि, सभी कार्य-कलाप मर्यादा में नियन्त्रित है। मर्यादा के बाहर कोई भी कार्य उपेक्षित है। जीवन का सच्चा सुख, निर्धारित मर्यादा के पालन करने में ही है।

निम्नलिखित चारो प्रकार के विवाहो म उत्पन्न सतानो के सम्बन्ध

में कहा गया है— 'वे निर्दय, असत्यभाषिणी एवं वेद और पवित्र धार्मिक कार्यों से घृणा करने वाली होती हैं।

१. आसुर विवाह—इस विवाह में वर कन्या के लिए उसके अभिभावकों को अपनी सामर्थ्य भर धन देकर उस कन्या को पत्नी के रूप में प्राप्त करता है।

> ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तित: ।
> कन्याप्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥
>
> (मनुस्मृति)

महाभारत के सुप्रसिद्ध पाण्डु और माद्री का विवाह इसका उदाहरण है।

२. गान्धर्व विवाह—यह विवाह का प्रेमपूरक प्रकार है। यह किसी तरुण युवती एवं उसके प्रेमी का वैसा ही स्वेच्छापूर्वक मिलन होता, है जैसी प्रथा गन्धर्वों में है।

> 'इच्छयाऽन्योन्यसंयोग कन्यायाश्च वरस्य च ।
> गान्धर्वः सतु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥
>
> (मनुस्मृति)

किसी धार्मिक क्रिया अथवा समाज की अनुमति की प्रतीक्षा किए बिना ही, दोनों प्रेमियों में पारस्परिक सम्बन्ध हो जाता है यद्यपि इस सम्बन्ध को भी, समाज शान्ति व सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए, दोनों की समानता का ध्यान रखकर कुछ साधारण, निश्चित क्रियाओं के पश्चात्, मान लेता है। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह इसका उदाहरण है।

३. राक्षस विवाह—इसमें वर बल-पूर्वक कन्या का अपहरण कर लेता है। कन्या के अभिभावकों, सम्बन्धियों को मार कर वह वीरता पूर्वक कन्या का हरण कर लेता है, भले ही वह रोती चिल्लाती रहे।

> 'हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्
> प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥'
>
> (मनुस्मृति)

अपहरण की गई कन्या विधिपूर्वक उसकी विवाहिता पत्नी बन सके,

होती थी। उच्चशिक्षा के विषय वेद, वेदांग, धर्म, मीमांसा, तर्क और पुराण थे। आवृत्ति पर शिक्षा में विशेष ध्यान दिया जाता था, क्योंकि शिक्षा प्रायः कण्ठ परम्परा के अनुसार दी जाती थी। नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला, वल्लभी एवं काशी तथा मथुरा हमारे देश के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र थे। ब्रह्मचर्याश्रम भर विद्यार्थी के चरित्र, आचरण एवं व्यवहार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था।

इस अवसर पर आचार्य शिष्य को यह उपदेश देता था— "सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में आलस्य मत करो, आचार्य की धन से सेवा करो, गृहस्थ होकर सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करो। सत्य में असावधानी न करो। समृद्धि में प्रमाद न करो। धर्म में आलस्य न करो। आरोग्यता का ध्यान रखो। धन, धान्य आदि ऐश्वर्य की वृद्धि एवं अध्ययन-अध्यापन में प्रमाद मत करो। माता, पिता, आचार्य एवं अतिथि का देवता-सा सत्कार करो। जो अच्छे कार्य है उन्हीं को सदा करो। बुरे कामों को छोड़ दो। (गुरु कहता है) हमारे भी जो सुचरित्र हैं, धर्माचरण है, उन्हीं का आचरण तुम्हें करना चाहिए औरों का नहीं। दान अवश्य दो। श्रद्धा से, अश्रद्धा से नहीं। धन हो तो (अवश्य) दे। लज्जावश भी दे। भयवश अर्थात लोकापवाद के भय से दे। मैत्री आदि करने के लिए धन दे। यदि किसी विषय में सन्देह हो तो विचारशील, पक्षपात रहित, दक्ष, सहृदय, विद्वान् एवं धर्मात्मा ब्राह्मण जैसा करते हों वैसा ही आचरण तुम भी करो। यही आचार्य का आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद का रहस्य है। यही वैदिक शिक्षा का सारांश है। इसी प्रकार धर्म का पालन करना चाहिए। यही उपासना का विषय है।

विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों के लिए यह शिक्षा अमृत-वत् ही है। समावर्तन-संस्कार आधुनिक दीक्षान्त के समान होता था। इस समय गुरु विद्यार्थी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुमति एवं उपदेश देता था। ब्रह्मचारी अपनी सामर्थ्य एवं इच्छा के अनुसार गुरु को दक्षिणा देता था। विद्या प्राप्त करना भी एक तप है। सब कुछ छोड़ कर ही विद्या प्राप्त की जा सकती है। विदुर नीति में कहा है :—

सुखार्थिन कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिन सुखम् ?
सुख र्थी वा त्यजेद्विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ।

अर्थात् सुख की इच्छा रखने वाले को विद्या कहाँ और विद्या चाहने वाले को सुख कहाँ-- अत, जो सुख चाहे तो विद्या पढना छोड दे और यदि विद्या प्राप्त करने की अभिलाषा है तो सुख छोड दे ।

आजकल विद्यार्थी विलास आराम के साथ विद्याओं का अध्ययन करना चाहते हैं, करते भी है । यही कारण है कि अधिकाश छात्र वास्तव मे विद्याएँ नहीं प्राप्त कर पाते-हाँ, प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेते हैं, जो जीविकोपार्जन मे सहायक अवश्य हो जाते है । पर, अज्ञान का अन्धकार दूर करने के लिए विद्या-ज्ञान के प्रकाश की नितान्त आवश्यकता है । तभी जीवन मे सफलता प्राप्त हो सकती है । जो विद्यार्थी परिश्रम से अध्ययन करते हैं, वे आज भी सफलता एव विद्वत्ता प्राप्त कर लेते हैं ।

गृहस्थाश्रम---समावर्तन संस्कार के पश्चात् गृहस्थाश्रम प्रारम्भ होता है । इसका समय २६वें वर्ष से लकर ५० वर्ष पर्यन्त है । विवाहो-परान्त ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है । शिक्षा समाप्त कर, युवक स्नातक शील गुण, आचार तथा योग्यता मे अपने अनुरूप कन्या से विवाह करता है । यह विवाह सतानोत्पत्ति तथा मातृऋण एव पितृऋण से उऋण होने के लिए ही किया जाता है । गार्हस्थ्य जीवन मे सस्कारो एवं यज्ञो का विशेष महत्त्व है । सन्तान के सस्कारों का सम्पादन, जो माता पिता नहीं करते, वे अपने उत्तरदायित्व से विमुख तथा दोष के भागी होते है । कुटुम्ब के सब सदस्यो के भरण, पोषण का उत्तरदायित्व गृह-स्वामी तथा गृह-स्वामिनी पर होता है । प्राय भारत वर्ष में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा पाई जाती है, अत दम्पति सबकी आवश्यकताओ को पूर्ण करने का प्रबन्ध करते है ।

गृहस्थ के द्वारा ५ यज्ञ नित्यप्रति सम्पादित किए जाने चाहिए । इन्हे पच महायज्ञ कहा गया है । ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ (अतिथियज्ञ) एवं बलि-वैश्व-देव यज्ञ-- ये पाँच पचमहायज्ञ हैं । इन पाँच महायज्ञो के अति-रिक्त कुछ अन्य यज्ञ होते हैं, जिन्हें नैमित्तिक अथवा विशेष अवसरो पर अनु

छिन किए जाने योग्य यज्ञ कहते है। चातुर्मास्य, सौत्रायणी, सोम, वाजपेय तथा जोतिष्टोम आदि विशिष्ट यज्ञ हैं। अश्वमेध भी एक ऐसा ही यज्ञ है, जिसके करने का अधिकार केवल चक्रवतित्व की अभिलाषा करने वाले सम्राट् को ही है। अश्वमेध यज्ञ सपत्नीक किया जाता है।

गृहस्थाश्रम को ऋषियो ने सर्वश्रेष्ठ कहा है। मनु ने इसका महत्व बताते हुए कहा है :—

> यथा नदी-नदा: सर्वे, सागरे यान्ति सस्थितिम् ।
> तथैवाश्रमिण. सर्वे, गृहस्थे यान्ति सस्थितिम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार सभी नदी, नद आदि सागर मे जाकर आश्रय पाते हैं, उसी तरह सब आश्रमो के लोग गृहस्थाश्रम मे आकर आश्रय प्राप्त करते है। और भी :—

> यथा वायु समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तव. ।
> तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वं आश्रमा: ॥
> यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
> गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

जैसे वायु के आश्रय स प्राणिमात्र जीवित है, उसी भांति गृहस्थ का सहारा लेकर सब आश्रम निर्वाह करते है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी तीनो आश्रमों के लोगो को गृहस्थ ही दान, अन्नादि से धारण करता है, अत: गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमो में श्रेष्ठ है।

गृहस्थ को अपने यज्ञ यागादि और पारिवारिक कर्त्तव्यो का पालन करते हुए स्वाध्याय तथा धर्म-कार्यों मे प्रवृत्त रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम अन्य तीनो आश्रमो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, क्योकि इस आश्रम पर ही ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम आधारित हैं।

वानप्रस्थाश्रम—इस प्रकार पुत्र के पुत्र हो जाने पर वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने का विधान है। यह ५१वें वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होता है। वानप्रस्थी निःस्वार्थ राष्ट्र-सेवा में रत रहता है।

यद्यपि गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों का आश्रय है, पर यही मनुष्य के कर्तव्य की इतिश्री नहीं होती। उसके उत्तरार्द्ध जीवन का कर्तव्य है, निस्पृह भाव से परोपकार करते हुए ईश्वर का चिन्तन करना। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।
गृही भूत्वा वनी भवेत्
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। (शतपथ ब्राह्मण)

अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो। गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य पूर्ण करके वन में चले जाओ और जंगल में बसने के पश्चात्, अन्तत: परिव्राजक (सन्यासी) बनो। वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने का समय बताते हुए मनु जी कहते हैं—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। (मनु०)

"जब गृहस्थ देखे कि उसके बाल पक गये हैं, शरीर की खाल ढीली पड़ने लगी और सन्तान के भी सन्तान हो चुकी तब वह घर छोड़कर वन में जाय तथा वानप्रस्थ के नियमों के अनुसार रहे।

वह सांसारिक भोग-विलास से परे इन्द्रियों को अपने वश में रखता हुआ वन में निवास करता है। वानप्रस्थाश्रम में तभी प्रवेश किया जा सकता है, जब पुत्र इस योग्य हो गया हो कि वह समस्त पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों का भार बिना अपने पिता की सहायता के ही उठा सके। वानप्रस्थी को भी गृहस्थ के अनुसार ही पंचमहायज्ञों का नित्य सम्पादन करना होता है, किन्तु गृहस्थ की अपेक्षा वह अधिक सादा जीवन व्यतीत करता है। वासनाओं का दमन कर वह सामाजिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक विषयों का एकाग्र चित्त से चिन्तन करता है। वानप्रस्थी की जीविका का प्रबन्ध गृहस्थों अथवा राजा द्वारा किया जाता है। विशिष्ट अवसरों पर ये वानप्रस्थी ग्राम एवं नगरों में आकर भी धार्मिक उपदेश देते और गृहस्थों को

इसी से इसको मान्यता समाज ने दी है। अर्जुन और सुभद्रा का तथा कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह इसके उदाहरण हैं।

४. पैशाच विवाह—कन्या अथवा वर को धोखे से वशीभूत कर लेना, जैसे सोते समय या नशे में होने पर अथवा जब उसका मानसिक सन्तुलन अस्थिर हो।

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥
(मनुस्मृति)

उषा और प्रद्युम्न का सम्बन्ध इसका उदाहरण है।

उपर्युक्त आठों प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त कालान्तर में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों की प्रथा भी चल पड़ी थी।

नियोग—प्राचीन भारत में नियोग की प्रथा भी थी। पति के मर जाने, विदेश चले जाने, नपुंसक या रोगग्रस्त हो जाने पर निःसन्तान स्त्री को यह अधिकार था कि वह किसी योग्य व्यक्ति से सन्तान प्राप्त करे।

बारह प्रकार के पुत्र—स्मृतिकारों ने बारह प्रकार के पुत्रों का विवरण दिया है।

(१३) गार्हपत्य-संस्कार—जब मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अपने घर में धर्म विधियों के साथ अग्नि की स्थापना करता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है और तभी से गृहस्थ धर्म के पंच महायज्ञ इत्यादि कर्म वह अपनी पत्नी के साथ करने लगता है।

इस संस्कार में दैहिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिए विद्याध्ययन, परोपकार, ईश्वरोपासन, स्वधर्म में प्रवृत्त होना तथा धर्मानुकूल सन्तानोत्पत्ति आदि का विधान है।

(१४) वानप्रस्थाश्रम संस्कार—जब विवाह के पश्चात् पुत्र के भी पुत्र हो जाय तो वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने का विधान हमारे शास्त्रों में निर्दिष्ट है। वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने की विधि का विशद वर्णन वानप्रस्थाश्रम संस्कार में विहित है। इसका समय ५० वर्ष की आयु के बाद होता है।

(१५) संन्यासाश्रम संस्कार—संन्यासाश्रम में सांसारिक मोह, पक्ष-पात आदि छोड़कर विरक्त होकर समग्र संसार के कल्याणार्थ, परोपकार पूर्ण, संन्यास मार्ग को स्वीकार करने का विधान है। सन्यासी के सन्यास-मार्ग में प्रवृत्त होने के वर्णन का निर्देश सन्यास-संस्कार में है।

(१६) अन्त्येष्टि क्रियाविधि—अन्त्येष्टि क्रिया अन्तिम संस्कार है। मृत्यु के उपरान्त शरीर को भस्मसात् करने की विधि का वर्णन अन्त्येष्टि क्रिया-विधि में है।

कुछ विद्वज्जन कर्णवेध संस्कार को मुख्य १६ संस्कारों के अन्तर्गत नहीं मानते। इसे साधारण संस्कारों में गिनते हैं। इसी प्रकार केशान्त अर्थात् युवावस्था के आरम्भ में दाढ़ी, मूछ इत्यादि सब बालों को मुड़वाने का भी एक संस्कार होता है।

प्रत्येक संस्कार के समय वेद-विधि से हवन किया जाता है। गायन, वादन और नृत्य आदि किया जाता है तथा इष्ट-मित्रों के सत्कार में दावत आदि भी दी जाती है।

ये संस्कार अनिवार्य हैं। आज हिन्दू जाति में इन संस्कारों का प्रायः लोप सा होता जा रहा है, अतः जीवन की पवित्रता नष्ट होती जा रही है। इन संस्कारों का पुनरुज्जीवन प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ का कर्तव्य है। यदि मनुष्य मात्र इन संस्कारों को शास्त्र-विधि के अनुसार करने लगे तो उसका जीवन पवित्र और उच्च बन सकता है। मानव-जीवन को परिष्कृत एवं संस्कृत करने के लिए ये संस्कार अति आवश्यक हैं।

आश्रम—"जीवेम शरदः शतम् शतायुर्वैपुरुषः।" इस वेदोक्ति के आधार पर मानव की सम्पूर्ण आयु को मनीषियों ने शतवर्षीय माना है। इन सौ वर्षों को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार चार भागों में विभक्त किया गया है। चारों अवस्थाएँ समानकालिक हैं, अर्थात् प्रत्येक २५ वर्ष की है। जीवन-यात्रा के ये चार विश्रामस्थल हैं। इन्हें ही चार आश्रमों के नाम से भी प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम २५ वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् विद्या-धन के उपार्जन के

लिए द्वितीय २५ वर्ष गृहस्थाश्रम अर्थात् गार्हस्थ्य जीवन-यापन एवं सन्तानोत्पत्ति के लिए, तृतीय २५ वर्ष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् निःस्वार्थ राष्ट्रसेवा के लिए और अन्तिम २५ वर्ष सन्यासाश्रम अर्थात् वैराग्य और त्यागमय जीवन के लिए निश्चित हैं। चारों आश्रमों में क्रमशः वेद के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् के ज्ञान का प्रयोग विहित माना गया है। आश्रम-व्यवस्था जीवन की एक आदर्श व्यवस्था है, जिसका पूर्ण रूप से पालन कम लोग ही कर पाते थे। अब तो इस व्यवस्था का प्राय लोप सा हो रहा है।

ब्रह्मचर्याश्रम—ब्रह्मचर्य की महिमा का बडा ही विशद और हृदय-स्पर्शी वर्णन अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११/५) में किया गया है।
उदाहरणार्थ

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोता ॥
(अथर्ववेद, ११/५/२४)

अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ज्ञान-विज्ञान को धारण करता है। उसमें मानों समस्त देवता वास करते हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
(अथर्ववेद, ११/५/१७)

अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों के शिक्षण की योग्यता का अपने में सम्पादन करता है।

उपनयन संस्कार से ही इस आश्रम का समारम्भ माना जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम जीवन का प्रथम आश्रम है। यह प्राय आठ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है। इस समय बालक स्वतन्त्र रूप से गुरु के पास निवास कर अध्ययन करने के योग्य हो जाता है। गुरु विद्यार्थी अथवा ब्रह्मचारी को नित्य-नैमित्तिक सन्ध्यावन्दनादि तथा ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों के विषय में उपदेश देता है। ब्रह्मचारी चार व्रत लेता है।

प्रथम मन वचन एव कर्म से ब्रह्मचर्य का दृढता पूर्वक पालन करना है। द्वितीय, भोजन एव वस्त्र मे सादगी रखना है। तृतीय, गुरु की आज्ञा का पूर्ण एव अक्षरश पालन करना तथा चतुर्थ व्रत विद्या को विधि-पूर्वक प्राप्त करना है। ब्रह्मचर्याश्रम का जीवन मे वही महत्व है, जो किसी भवन के निर्माण करने मे उसकी नीव का होता है। यह व्रत साधारणत पुरुषो को २५ वर्ष की अवस्था तक और स्त्रियो को १६ वर्ष की अवस्था तक पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य-जीवन मे वेदाध्ययन करना ही ब्रह्मचारी के लिए महत् तप समझा जाता है। ब्रह्मचारी को सभी के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। इन्द्रियो को वश मे रखकर ब्रह्मचर्य जीवन के विहित नियमो का विधिवत पालन करना चाहिए। मादक द्रव्य, गध, माला, रस तथा स्त्रियो से दूर रहना चाहिए। किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। उपटन तथा अजन आदि न लगाए। छाता तथा जूते का प्रयोग न करे। काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत तथा वादन आदि से दूर रहे। जुआ आदि न खेले। मिथ्या भाषण न करे। सूर्योदय से पूर्व ही शैया त्याग दे। किसी स्त्री से एकान्त मे बातें न करे। गोधूलि की वेला मे शयन न करे। प्रतिदिन नियमपूर्वक सन्ध्या तथा अग्निहोत्र आदि करे। कूप आदि मे न झांके।

ब्रह्मचर्य काल की अवधि मे ब्रह्मचारी अपने माता-पिता के सम्पर्क से दूर एकान्त मे गुरु के समीप, आश्रम के प्राकृतिक वातावरण मे ज्ञानोपार्जन करता है। प्राय: शिक्षा समाप्ति के उपरान्त ही बालक अपने घर जाता था, अन्यथा समावर्तन सस्कार तक वह आश्रम मे ही निवास करता था। उसके भोजन, वस्त्र आदि का प्रबन्ध गुरु द्वारा ही किया जाता था। गुरु की आज्ञा से ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए ग्रामो तथा नगरो मे भी जाते थे। गुरु कोई अनिवार्य शुल्क, शिक्षा के लिए, ब्रह्मचारी से नही लेता था। गुरु सेवा ही शुल्क समझा जाता था।

शिक्षा के क्षेत्र मे प्रारम्भिक माध्यमिक एव विश्वविद्यालयीय विभाग थे। प्रारम्भिक शिक्षा मे व्याकरण सम्बन्धी नियमो का ज्ञान बालक को कराया जाता था। माध्यमिक मे साहित्य एव भाषा सम्बन्धी अध्ययन करना

सोम नामक स्फूर्तिदायक पौष्टिक एवं मादक द्रव्य निकाला जाता था, जो सोम कहलाता था। सोम का यज्ञ में भी प्रयोग किया जाता था। सोम देवताओं का एक प्रिय पदार्थ था। सोम के अतिरिक्त सुरा भी एक मादक पेय था, जिसका उपयोग भी पर्याप्त मात्रा मे किया जाता था।

भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल से ही भोजन पकाने की कला में अत्यधिक उन्नति हो चुकी थी। संसार के अन्य अनेक देशो मे, जो सभ्य कहलाते हैं, आज भी भोजन कला मे उतना विकास नही हुआ। आयुर्वेद की प्रगति ने, विभिन्न ऋतुओ मे तथा विशिष्ट अवसरो पर अधिक लाभदायक पदार्थों का उल्लेख कर, हमारे जीवन को अधिक स्वस्थ और सुन्दर बनाने मे योग दिया है।

वस्त्र तथा आभूषण—भोजन के बाद दूसरी आवश्यकता अपने शरीर को ढकने की है। विभिन्न ऋतुओ के हानिकारक प्रभाव से बचने के लिए तथा शरीर को सौन्दर्ययुक्त बनाने के लिए भी वस्त्रो की आवश्यकता होती है। सभ्यता के आदिकाल मे मानव नग्न अवस्था में रहता था, किन्तु कालान्तर मे उसने छालो तथा मारे हुए पशुओं की खालो से अपने शरीर के विशिष्ट भागो को ढकना आरम्भ कर दिया।

वैदिक काल मे वस्त्र-कला मे पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। मनुष्य एक अधोवस्त्र तथा उसके ऊपर अगरखा पहनते थे। ऊपर से उत्तरीय पहनने की प्रथा भी थी। स्त्रियाँ प्रायः वासस् (साडी) पहनती थीं। इन साडियों पर प्राय कढाई की फूल पत्तियाँ भी बनी होती थी। सुई-धागे का अत्यन्त सुन्दर काम इन साडियो पर किया जाता था। मनुष्य का अधोवस्त्र (धोती) प्रायः सादा और सफेद रंग का होता था। स्त्रियों के वस्त्र प्रायः रंगीन होते थे। धनिक वर्ग मे स्त्रियो के वस्त्रो पर सोने के पतले-पतले धागो का सुन्दर काम किया जाता था। स्त्रियाँ अपने वक्ष-स्थल के लिए चोली का प्रयोग भी करती थीं। स्त्री पुरुष विशेष प्रकार से वस्त्रों को बाँधते थे, जिससे सामने कुछ चुन्नटें पड जाती थीं जो देखने मे अत्यन्त मनोहर लगती थी। उस समय की मूर्तियो के देखने से इस बात का पर्याप्त ज्ञान होता है। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही उत्तरीय का प्रयोग भी करते थे।

पद और व्यवसाय विशेष पर भी मनुष्यों के वस्त्र आधारित रहते थे। धार्मिक कार्यों मे उष्णीष अर्थात् पगडी का प्रयोग भी होता था। राजा अपने वस्त्रों के ऊपर एक विशेष वस्त्र को धारण करता था। सैनिकों के लिए एक विशेष प्रकार के वस्त्र निश्चित थे। प्राचीन काल में कातने एवं बुनने की कला मे भी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। वधू के वस्त्र चमकीले, सुनहले धागों से काढ़े जाते थे। वे देखने मे अत्यन्त सुन्दर लगते थे। राजा अपने सिर पर मुकट तथा सैनिक शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। युद्ध मे जाते समय लोहे के कवचो के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। रानियाँ भी मुकुट धारण करती थीं, किन्तु यह प्रायः राजा के मुकुट से छोटा होता था। मुकुट प्राय स्वर्ण के होते थे और उन पर रत्न जड़े रहते थे। पैर के लिए उपानह का प्रयोग होता था, किन्तु प्रायः लकड़ी की खड़ाऊँ का प्रचलन अधिक था, पुरोहितों के वस्त्र साधारण स्त्री पुरुषो के वस्त्रों से भिन्न होते थे।

ये वस्त्र प्रायः रुई के बनाये जाते थे। रुई के अतिरिक्त रेशम, ऊन एवं चमड़े का प्रयोग भी होता था। भेंड़ का ऊन प्राय शीत ऋतु में प्रयुक्त होता था। धनिक वर्ग मे रेशम का अत्यधिक प्रयोग होता था। मुगलकाल मे वस्त्र-कला मे और अधिक विकास हुआ।

विभिन्न उपकरणो से शरीर को सजाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही समान रूप से अपने शरीर को अलंकारों से भूषित करते थे। ये आभूषण धातुओ, रत्नो, हड्डियों, घोंघों तथा मिट्टी के बनाये जाते थे। धनिक वर्ग स्वर्ण एवं रत्नों के आभूषणो का प्रयोग करता था, जब कि मध्यम और अधम वर्ग ताँबे हड्डी, मिट्टी आदि के आभूषणों का। ये आभूषण आधुनिक काल की भाँति शरीर के विभिन्न अंगो में प्रयुक्त किये जाते थे। वैदिक तथा लौकिक दोनों साहित्यों मे इन आभूषणों का अत्यन्त रोचक वर्णन उपलब्ध होता है।

कानों मे कर्णफूल, बालियाँ तथा कुण्डल पहने जाते थे। बाहुओ मे केयूर, कटक, बाहुबंद तथा कंकण का प्रयोग होता था। अंगुलियों मे अंगूठी (अंगुली-

यक) का प्रयोग भी होता था। गले में रत्न-जटित हार तथा मालाएं प्रयुक्त होती थी। मध्यशरीर में स्वर्णसूत्र, उदरबन्ध, मेखला तथा कटिसूत्र का प्रयोग किया जाता था। पैरों में भी नूपुर नाम के आभूषण प्रयुक्त होते थे।

गुहाओं तथा अत्यन्त प्राचीन प्रस्तर प्रतिमाओं पर खोदे गये इन विभिन्न आभूषणों के द्वारा उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में वस्त्र एवं आभूषण कला भारतवर्ष में अत्यन्त विकसित अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी।

गृह एवं गृहोपयोगी उपकरण (फर्नीचर)

प्राणियों की प्राण रक्षा के निमित्त आवास-व्यवस्था भी अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है। गृहों में हम ग्रीष्म, वर्षा एवं वायु आदि से रक्षा के हेतु शरण प्राप्त करते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में मानव कन्दराओं में निवास करता था। वैदिक काल में तथा मोहन्जोदड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यता के समय में, ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व भी, हमारे पूर्वजों ने गृह-निर्माण कला में कौशल प्राप्त किया था। हड़प्पा एवं मोहन्जोदड़ो के ध्वंसावशेष अब भी इस बात के प्रतीक हैं कि उस समय गृह-निर्माण, स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों और सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर किया जाता था। ये ध्वंसावशेष उनकी कला-प्रियता को भी अभिव्यक्त करते हैं।

कन्दराओं एवं गुहाओं के बाद मानव ने स्वरचित गृहों का निर्माण करना प्रारम्भ किया, किन्तु उसने अनुकरण इन्हीं प्राकृतिक पर्वतीय गुहाओं और कन्दराओं का किया। ये गृह मानव को अपेक्षाकृत वायु और प्रकाश आदि की अधिक सुविधा प्रदान करते थे। मानव ने पत्थरों को काटकर स्वयं गुहा गृहों का निर्माण किया, जिनमें प्रकोष्ठ, छत भित्तियाँ एवं (कुट्टिम) फर्श आदि अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर एवं कलात्मक थे। इसी प्रकार चैत्य, विहार एवं गुहा-मन्दिरों का निर्माण भी हुआ।

गुहा-गृहों के पश्चात् मानव ने विभिन्न उपकरणों को एकत्रित कर भूमि पर गृह-निर्माण करना प्रारम्भ किया। इन गृहों की रचना के लिए उसने

ईंट पत्थर, बांस, लकड़ी, मिट्टी, घास आदि वस्तुओं का उपयोग किया। कालान्तर मे लोहा, चूना आदि का भी उपयोग किया गया। इन गृहो के निर्माण मे नालियो, खिड़कियो, झरोखो रोशनदानो एव ताको (आलो) की ओर विशेष रूप मे ध्यान दिया जाता था।

गृहो के प्रकोष्ठ, बरामदा, आँगन, स्नानगृह आदि विभिन्न विभाग होते थे। इनमे स्तम्भो मीनारों, छज्जो एव गुम्बदों का प्रयोग भी होता था। सिन्धु घाटी की सभ्यता के दिग्दर्शन से यह ज्ञात होता है कि उस समय कई मंजिलों के गृहों का निर्माण होता था। छोटे गृहों मे दो या तीन प्रकोष्ठ होते थे तथा बडों मे अनेक। नालियो का विशेष प्रबन्ध था। गृहो की नालियाँ मार्ग की बडी नालियो मे मिलती थी, जो नीची होती थी। मोहन्जोदडो मे एक विशाल स्नानागार प्राप्त हुआ है, जिसके मध्य मे एक तालाब है तथा ऊपर चारो ओर छोटे-छोटे स्नानगृह हैं। तालाब उन्तालिस फिट लम्बा, तेइस फिट चौडा एव तीन फिट गहरा है। सम्भवत यहा जल-चिकित्सा भी प्रचलित थी।

पूर्व-वैदिक काल मे बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भवनो की दृढता पर अधिक ध्यान दिया गया। तेइस फिट लम्बी ईंटों का प्रयोग भी इस समय किया गया तथा चार या पाँच इच चौडे चूने मिश्रित गारे का प्रयोग किया गया जो आज भी प्राप्त है। उत्तर वैदिक काल के ध्वसावशेष प्राय अप्राप्त हैं।

वैदिक वर्णनो से हमे ज्ञात होता है कि उस समय एक सौ दरवाजे और एक सहस्र खम्भे वाले राज प्रासाद के विशाल प्रासाद भी विद्यमान थे अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार मनुष्य उस समय गृह-रचना करते थे। राजा प्रासादो मे निवास करते थे और धनिक वर्ग सुन्दर भवनो मे, जो हर्म्य कहलाते थे। निर्धन लोग प्राय मिट्टी, बास, लकडी आदि के कच्चे गृहो म वास करते थे। धनिको के यहाँ अग्निशाला, पत्नीगृह एव यज्ञशाला अथवा अग्नि-प्रकोष्ठ अलग होते थे।

प्राय मन्दिरो का निर्माण इस काल म नही हुआ। हाँ कुछ स्तूप आदि इस समय के प्राप्त हैं। कुछ लोग बडे बडे चबूतरो का भी निर्माण करते थे।

एवं राजा को उनके कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं।

वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने पर यह पत्नी की इच्छा पर निर्भर था कि यह पति के साथ वन में जाय अथवा पुत्र के पास परिवार में ही निवास करे। प्राय: पत्नी अपने पति के साथ ही वनवास करना अधिक उत्तम समझती थी। फिर भी पुत्र के पास रहने के लिए वह स्वतन्त्र थी।

संन्यास आश्रम—संन्यासाश्रम के विषय में मनु कहते हैं:—

> वनेषु च विहृत्यैव तृतीयं भागमायुषः
> चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्।

अर्थात् आयु का तृतीय भाग वन में बिताने के बाद, जैसे ही चतुर्थ भाग प्रारम्भ हो तब वन को भी छोड़ दे। यदि स्त्री साथ में हो तो उसको भी त्याग कर परिव्राजक बन जाय। ब्राह्मणग्रन्थों के मतानुसार परिव्राजक बनने के लिए कोई समय निर्धारित नहीं है, जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय तभी सन्यासी हुआ जा सकता है।

संन्यासी को चाहिए कि अपनी वाणी और मन को अधर्म से रोककर ज्ञान और आत्मा की ओर प्रवृत करे। सब विषयों से चित को खींचकर एक परमात्मा में उसको स्थिर करना ही योग है। "योगश्चित्त-वृत्तिनिरोध:।" योगी और सन्यासी में कोई भेद नहीं है। यद्यपि गीता के छठे अध्याय में सन्यासी और योगी के लक्षण तथा उनके कर्तव्य विस्तार से बतलाए गए हैं, पर यहाँ इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि—

> अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
> स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।

कर्मफल का आश्रय छोड़कर जो महात्मा सब धार्मिक कर्मों को निरन्तर करता रहता है, वही संन्यासी है और वही योगी है। यह कहना कि अब हम संन्यासी हो गए— अब हमारा कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, ठीक नहीं है। अग्निहोत्र आदि धर्म-कार्यों से अपने को क्या सरोकार? ऐसा कहने वालों को गीता

के उपर्युक्त कथन का मनन करना चाहिए। भगवान् ने कहा है-- कि परोपकारादि सब धार्मिक कार्य संन्यासी को भी करने चाहिए, पर उसके फल में आशक्ति नहीं रखनी चाहिए।

इस प्रकार मनुष्य की शतवर्षीय आयु का अन्तिम चतुर्थांश २५ वर्ष सन्यासाश्रम के लिए विहित है। यह वानप्रस्थाश्रम के उपरान्त ७६ वर्ष की आयु से प्रारम्भ होता है। संयासी मनुष्यों से अपने सम्बन्ध तोड़कर पर्वतों की कन्दराओं में चला जाता है वह ग्रामों अथवा नगरों में प्रवेश नहीं कर सकता। वन अथवा पर्वतों में ही उसे वैराग्य एवं त्यागमय जीवन यापन करना पड़ता है। वह समस्त सांसारिक सम्बन्धों को त्याग देता है। संन्यासी अपने केश, नख, दाढ़ी, मूंछ आदि का भी त्याग कर देता है। वह केवल दण्ड, कमण्डलु तथा एक भिक्षापात्र रखता है। वह निरन्तर भ्रमण करता रहता है और इसी लिए परिव्राट् कहलाता है। वह बिना मांगे प्राप्त भोजन को केवल जीवित रहने के उद्देश्य से ग्रहण करता है। स्वाद के उद्देश्य से नहीं। वह भूमि पर शयन करता है तथा कम से कम वस्त्रों का उपयोग करता है। प्रायः ये वस्त्र गेरुए रंग के होते हैं। वह प्रायः मौन रहता है।

यम-नियम

पारिवारिक जीवन में यम, नियम के पैलान पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। इनसे व्यक्तिगत कल्याण तो होता ही था पर सम्पूर्ण परिवार के लिए भी ये हितकर सिद्ध होते थे।

यम—इनकी संख्या १० है। (१) ब्रह्मचर्य (२) दया (३) क्षमा (४) ध्यान (५) सत्य (६) नम्रता (७) अहिंसा (८) चोरी न करना (९) मधुर स्वभाव तथा (१०) इन्द्रिय दमन।

नियम— (१) स्नान (२) मौन (३) उपवास (४) यज्ञ (५)

स्वाध्याय (६) इन्द्रिय-निग्रह (७) गुरु-सेवा (८) शौच (९) अक्रोध तथा (१०) अप्रमाद।

वर्ग-चतुष्टय—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति जीवन का मुख्य लक्ष्य माना जाता था। सामाजिक व्यवस्था में चार आश्रमों का विधान इसी दृष्टिकोण को रखकर किया गया था कि इनसे वर्ग-चतुष्टय की पूर्ति निर्विघ्न होती रहे।

धर्म—प्राचीन भारत में प्रत्येक व्यक्ति को धर्म के अनुकूल आचरण करना पड़ता था. धर्म का नियन्त्रण सम्पूर्ण समाज पर तो होता ही था, राजनीति पर भी था। यह धर्म अत्यन्त व्यापक एवं उदार था। भारतीय व्यक्ति का जीवन आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सर्वोच्च था।

अर्थ—अर्थ के अभाव में धर्म तथा काम की सिद्धि असम्भव थी। अतः समाज में धनोपार्जन का भी पर्याप्त महत्व एवं विधान था। भौतिकता के सभी साधन अर्थ से ही जुटाए जा सकते थे।

काम—अर्थात् इन्द्रियों को सब प्रकार से सन्तुष्ट करने का विधान भी था। किन्तु अपने उत्तरदायित्वों एवं कर्तव्यों से मुँह मोड़ कर आमोद-प्रमोद में लगे रहना कदापि उचित नहीं समझा जाता था। "अति सर्वत्र वर्जयेत्"।

मोक्ष—मोक्ष प्राप्त करना मानव-जीवन का परम महत्वपूर्ण एवं सर्वोच्च उद्देश्य होता था। संन्यासाश्रम का विधान इसकी पूर्ति में सहायक माना गया है।

संन्यासी को राग-द्वेष की भावना से मुक्ति मिल जाती है। न वह मृत्यु की कामना करता है न दीर्घ जीवन की। वह मृत्यु का भी अत्यन्त प्रसन्नता तथा शान्तिपूर्वक आलिंगन करता है। सन्यासी का महत्व एक राजा से भी अधिक है। मार्ग में संन्यासी एवं राजा के परस्पर सम्मुख आ जाने पर राजा को सन्यासी के लिए मार्ग छोड़ने का विधान है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था का जीवन में अत्यधिक महत्व है। आर्य जीवन के इतना पवित्र और गौरवपूर्ण होने का आधार यह व्यवस्था ही थी। इसके अभाव में आज आर्य जाति पतन की ओर उन्मुख हो रही है।

भोजन—भोजन एक ऐसी आवश्यकता है जिसके बिना मानव का जीवन

स्थित नहीं रह सकता। अत्यन्त प्राचीन अवस्था में मनुष्य शाकाहार एवं मांसाहार दोनों पर आश्रित रहता था। वनो मे स्वतः उत्पन्न वनस्पतियों से तथा सरलता से मारे जाने योग्य वन्य पशुओं के मास से वह अपना निर्वाह करता था। मास को भूनकर खाने की भी प्रथा थी। सभ्यता के विकास के साथ साथ भोजन को पकाने तथा घृत, तैल तथा मसालों आदि के सयोग से भोजन अधिक स्वादिष्ट बनाया गया।

सभ्यता के प्रभातकाल से ही दुग्ध हमारे भोजन का एक प्रधान अग रहा है। समय की गति के साथ कालान्तर मे दुग्ध से उत्पन्न अन्य वस्तुओं का प्रयोग भी किया जाने लगा। दधि, घृत, मक्खन का उल्लेख तो ऋग्वेद मे है। मावा, मलाई और छेना बाद मे यज्ञों मे प्रयुक्त होने लगे।

स्वभावत. उगी हुई वनस्पतियो के प्रयोग के पश्चात् मानव ने स्वयं अपने प्रयत्नो द्वारा कृषि से खाद्यान्नो को उत्पन्न करना प्रारम्भ किया। मोहन्जोदडो की खुदाई मे प्राप्त गेहूँ तथा यव आदि से सिद्ध होता है कि ईसा से लगभग ३००० अथवा ३५०० वर्ष पूर्व भी भारत में गेहूँ, यव, तिल आदि कृषि द्वारा उत्पन्न किये जाते थे। कुछ लोगों का मत है कि ऋग्वेद मे चावल का कहीं उल्लेख नहीं है, अत. चावल की खेती बाद में की गई। अन्नो के अतिरिक्त वैदिककाल मे फल तथा कन्द-मूल आदि का भी व्यापक प्रयोग होता था। हमारे ऋषि, मुनि तो फल और कन्द-मूल का ही आहार करते थे।

मास का भी वैदिक काल मे प्रयोग होता था। घोड़ा, बैल, भैंस, बकरा तथा मछली आदि के मास के प्रयोग का वर्णन ऋग्वेद मे उपलब्ध है। गाय यद्यपि 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) थी, किन्तु विशिष्ट अवसरो पर उसकी भी प्रतीक बलि का उल्लेख हमे प्राप्त होता है।

प्रायः अन्न के पदार्थ का रोटी के रूप मे पका कर अथवा भून कर तथा मांस को लोहे की सलाखो पर भून कर प्रयोग किया जाता था। कुछ समय पश्चात् तरकारियों का प्रयोग भी किया जाने लगा। विभिन्न मसालो का ज्ञान होने पर, उनके प्रयोग से भोजन अधिक सुगन्धित एव स्वादिष्ट होने लगा।

पेय पदार्थों मे सोम का अत्यधिक प्रचलन था। एक विशेष वनस्पति से

धनिक तथा मध्यम वर्ग मे अधिक सुविधा एव सुख के निमित्त फर्नीचर का प्रयोग होता था। आन्दी एक प्रकार की कुर्सी थी, जिसका प्रयोग धनिक वर्ग करता था। राजा अपने राजकार्य के समय सिंहासन का उपयोग करता था। प्रौष्ठ पाद एक प्रकार की आरामकुर्सी थी। पर्यंक प्राय आधुनिक पलग के समान होता था। विवाहित स्त्रियाँ विशाल तल्पो का प्रयोग करती थी। तल्प, आधुनिक खाट की अपेक्षा, कुछ अधिक आरामदायक खाट थी। सुसम्पन्न और समृद्ध गृहो की वधुएँ रमणीय शय्याओ का प्रयोग करती थी। बेंचो तथा गद्देदार कुर्सियों का भी उस समय प्रचलन था। कुर्सियो पर गद्दियाँ तथा पर्यंक आदि पर गद्दो एव तकियो का प्रयोग भी होता था। इन वस्तुओ को कन्या पक्ष के सदस्य वरपक्ष के सदस्यो को दहेज मे भी देते थे। कुछ लोग आसनो का प्रयोग करते थे जो सन घास अथवा कुश आदि के बने होते थे। चटाई भी प्रयुक्त होती थी।

पूर्व-वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल मे प्राय इन वस्तुओं में समानता थी। रामायण के वर्णनों से ज्ञात होता है कि अयोध्या के महान भवनो मे स्वर्ण और रत्नजटित इन वस्तुओ का अत्यधिक मात्रा मे प्रयोग होता था, बौद्ध काल मे विहार चैत्य, स्तूप एव गुहाकक्ष अत्यधिक सख्या मे बनाए गये। अशोक ने ८४००० स्तूपों की रचना की। कुएँ, तालाब स्नानगृह तथा अतिथि-शालाएँ भिन्न भिन्न स्थानो पर बनाई गईं। बौद्ध काल के पश्चात हिन्दुओं और जैनों ने अपने मन्दिर तथा सार्वजनिक पूजागृहो का निर्माण कराया जो आज भी उपलब्ध है।

वर्ण एवं जाति

जाति तथा वर्ण मे पर्याप्त अन्तर है। जाति जन्मसिद्ध होती है पर वर्ण कर्म पर आधारित है जाति व्यवस्था मे अस्पृश्यता का प्राबल्य रहता है। वैदिक काल मे वर्ण-व्यवस्था थी। जाति प्रथा का आरम्भ मनु के उपरान्त प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात जातियों तथा उपजातियों का युग आ गया। हिन्दू जाति सहस्रो जातियो तथा उपजातियो मे विभक्त होती चली गई।

विदेशियो के भारत मे प्रविष्ट होने से भी नवीन जातियों का विकास हुआ। विभिन्न व्यापार तथा व्यवसाय करने वालो की अलग-अलग उपजातियाँ बन गईं। नवीन धार्मिक सम्प्रदायो के विकास से भी जातियो, उपजातियो में वृद्धि हुई।

जाति प्रथा से कुछ लाभ भी हुए, परन्तु आधुनिक जाति-प्रथा भारत के लिए अभिशापस्वरूप प्रतीत होनी जा रही है। फिर भी भारत मे इस प्रथा का मिटाना नितान्त दुर्लभ है, ऐसा विद्वानो का मत है।

चारो वर्ण क्यो बनाये गये ? क्या मनुष्य-जाति मे परस्पर वैमनस्य डालने के लिए ? नही ! बल्कि इसलिए बनाये गये कि जिससे सृष्टि का और राष्ट्र का कार्य यथाविधि, उचित रूप से चलता रहे। गवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
> तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम ॥

अर्थात मैंने गुण कर्म के अनुसार चारो वर्णों को बनाया है। मैं तो स्वयं अकर्त्ता अविनाशी हूँ। इस पाखण्ड मे पडने की मुझे आवश्यकता भी नहीं, किन्तु सृष्टि के तथा राष्ट्र के कार्य निर्विघ्न सम्पादित होते रहे– इसी से मुझे कर्त्ता बनना पडा।

महाभारत मे भी यही उल्लेख मिलता है कि वर्णों में कोई विशेषता नही। सारा ससार परमात्मा का बनाया हुआ है। कर्म के कारण चारों वर्णों की सृष्टि हुई है।

> न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिद जगत्।
> ब्रह्मणः पूर्वसृष्ट हि कर्मभिवर्णतां गतम् ॥

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है—'पुरुष के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई, उसकी भुजाओं से क्षत्रिय की (राजन्य), उसकी जंघाओं से वैश्य की और उसके चरण के शूद्र की उत्पत्ति हुई।'' इस प्रकार ये चारो वर्ण तब ही

शरीर के अंग है। इनमे से कोई अस्पृश्य नही है। समाज में गोघातक को छोड़कर अन्य कोई कार्य करने वाला अस्पृश्य नही है।

आधुनिक जाति प्रथा भारत के लिए एक अभिशाप कही जाती है। भारतीय समाज मे अनेक जातियाँ तथा उन जातियो मे भी अगणित उपजातियाँ हैं जो भारतवर्ष के बहुमुखी विकास के लिए बाधाओ के रूप मे प्रस्तुत होती हैं। पूर्व-वैदिक काल और विशेषत उत्तर-वैदिक काल मे यही जाति-प्रथा, वर्णाश्रम रूप मे, भारतीय उन्नति एव प्रगति के लिए वरदान थी।

वैदिक काल के उपरान्त भारतीय धर्मसूत्रकारो एव स्मृतिकारो ने विभिन्न वर्णों एव जातियो के कर्तव्य निश्चित कर दिये थे। जातिप्रथा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक जातिप्रथा के विपरीत, उस समय जाति एव वर्ण, कर्म के साथ जन्म से भी माना जाने लगा था। आधुनिक समाज का आलोचनात्मक अध्ययन करने पर हमे ज्ञात होगा कि जाति प्राय पैतृक होती है। वह जन्म पर आश्रित होती है। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण एव शूद्र का पुत्र शूद्र ही होगा। उनके कर्म भले ही अपने वर्ण के विपरीत हो। वे प्राय अपनी ही जाति मे कुछ विशिष्ट सम्बन्धियो को छोड कर शादी करते है। भोजन आदि ग्रहण करने पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। प्राय एक जाति के सदस्य एक ही प्रकार का कार्य करते हैं। कुछ जातियाँ अत्यन्त उच्च हैं और कुछ अत्यन्त निकृष्ट, यहाँ तक कि अछूत। प्राचीन काल मे इस प्रकार के जाति-सम्बन्धी नियम नही थे। आधुनिक काल में भी कुछ ऐसे कार्य हैं, जो केवल किसी विशिष्ट जाति के सदस्य ही कर सकते हैं, जैसे पौरोहित्य कर्म केवल ब्राह्मण (का पुत्र) ही कर सकता है।

वर्ण का शाब्दिक अर्थ होता है 'रग'। पूर्व वैदिक काल के प्रारम्भ मे केवल दो ही जातियाँ थी आर्य और अनार्य अथवा दास, दस्यु। आर्य प्राय गौर वर्ण के होते थे और अनार्य अथवा दास कृष्ण वर्ण के। उत्तर वैदिक काल मे इसका स्थान चार मुख्य वर्णों ने ले लिया। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे पुरुष-सूक्त के अन्तर्गत हमे स्पष्ट रूप से चारो वर्णों के नाम प्राप्त होते हैं। ये चार वर्ण है (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य

एव (४) शूद्र ।

इन चारो वर्णों में ब्राह्मणो को समाज मे अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त था। क्षत्रिय अथवा राजन्य प्रायः राजा अथवा उच्चकुल-प्रसूत व्यक्ति हुआ करते थे जो प्रजा के ऊपर शासन करते थे। एक पिता के दो पुत्रो मे से एक पुरोहित तथा एक राजा हो सकता था। ऋषि सेन के दो पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र देवापि एक पुरोहित तथा कनिष्ट शान्तनु राजा था। ऋग्वेद मे एक स्थान पर मन्त्रद्रष्टा कहता है कि मैं मन्त्रो का उच्चारण करता हूँ, मेरा पिता एक वैद्य है तथा माता अन्न पीसती है। हम विभिन्न रूप से धनोपार्जन करते हैं।

वैदिक काल मे शूद्रो को कोई निकृष्ट स्थान नही प्राप्त था। शूद्र की उपमा अश्व से दी गई है। शूद्र को यज्ञ करने की आवश्यकता नही थी। वे मनुष्यो को पालकी आदि मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया करते थे तथा अन्य उच्चवर्ग की सेवावृत्ति के कार्य करते थे। यही समाजसेवा उनका यज्ञ था, जिससे उन्हे सद्गति मिलती थी।

ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य उच्चवर्णों मे थे और सामूहिक रूप से द्विज अथवा आर्य कहलाते थे। तीनो वर्णों के अपने-अपने विशिष्ट कार्यों का विभाजन कर दिया गया था। वही उनका विशिष्ट धर्म था।

ब्राह्मण—ब्राह्मण मानव-समाज रूपी शरीर का मुख है। मुख या शिरोभाग ज्ञान-प्रधान होता है; अत ब्राह्मणो का कर्तव्य था कि वे विद्या एव ज्ञान से सब वर्णों की सेवा करें। भगवद्गीता मे भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण के कर्तव्य इस प्रकार बतलाये हैं —

शमो दमस्तपः शौच क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

अर्थात् शम—(मन से बुरे काम की इच्छा न करना तथा उसे अधर्म मे न प्रवृत्त होने देना) दम—(सब इन्द्रियों को बुरे कार्य से रोक कर अच्छे मे लगाना) शौच—(शरीर तथा मन को पवित्र रखना) क्षान्ति- (निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख हानि-लाभ, जीवन-मरण, हर्ष शोक, मान अपमान, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वो में अपने मन को समान रखना) आर्जव—कोमलता एव सरलता

धारण करना, सीधा सच्चा होकर अभिमान की भावना को त्यागना) ज्ञान—(अध्ययन, अध्यापन तथा बुद्धि-विवेक धारण करना) विज्ञान—(जीव, ईश्वर, सृष्टि आदि का सम्बन्ध ज्ञात कर संसार के हितार्थ उनका उपयोग करना) आस्तिक्य—(ईश्वर की उपासना करना तथा गुरुजनों के प्रति सेवा-भक्ति की भावना बनाये रखना) ये सभी कर्त्तव्य ब्राह्मण के है। अन्य-वर्णों को भी चाहिये कि इन्हे अपने अनुसार ग्रहण करें, किन्तु ब्राह्मण के लिए तो ये सब स्वाभाविक हो हैं। यदि वह ऐसा न करे तो शोचनीय है। ब्राह्मण का जन्म छोटे एवं साधारण कार्यों के लिए नहीं हुआ, अपितु उनका जीवन तप एवं मोक्ष की साधना के लिए है। वेदो का अभ्यास करना ब्राह्मण का तप है। यदि ब्राह्मण वेद न पढ़ कर अन्य बाह्य विषयो का अध्ययन करते हुए पतित हो जाता है, तो समाज के पतित हो जाने की भी पूर्ण सम्भावना रहती है।

ब्राह्मणो का स्थान सर्वोच्च था। वे मानव रूपधारी देवता थे। जिनको साक्षात् शारीरिक रूप से प्रत्यक्ष देखा-जा-सकता था। जो राजा ब्राह्मणो का आदर-सत्कार करता था उसके राज्य में सुख और समृद्धि का निवास रहता था। ब्राह्मणो का अपमान तथा उनसे घृणा करने वाले राजा के राज्य की प्रगति रुक जाती थी तथा अनेक प्रकार के अनिष्ट होते थे। ब्राह्मण-पुत्र को क्षत्रिय पुत्र की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती थी। विद्यादान का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जब ब्राह्मण गार्ग्य राजा अजातशत्रु के पास ब्रह्मविद्या के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए पहुँचे, तो अजातशत्रु ने कहा कि यह तो परम्परा के विपरीत है कि एक ब्राह्मण क्षत्रिय से ब्रह्मविद्या प्राप्त करे।

धर्म-सूत्रो तथा विशेष कर मनुस्मृति मे इन वर्णों के कर्त्तव्यों का विशद वर्णन किया गया है। वेदो का अध्ययन, यज्ञ तथा दान ये तीन कर्म समान रूप से द्विजों के लिए विहित हैं। ब्राह्मण के विशेष कर्त्तव्यो मे वेद के अध्ययन के साथ अध्यापन अथवा पठन के साथ पाठन का भी वर्णन किया गया है। ब्रह्मविद्या के उपदेश का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसके कुछ अपवाद भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ याज्ञ-

वल्क्य ने राजा जनक से तथा गार्ग्य ने अजातशत्रु से ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त किया। ब्राह्मण का दूसरा कर्त्तव्य यज्ञ करने के साथ ही यज्ञ-कर्म का सम्पादन कराना अर्थात् पौरोहित्य कर्म करना था। किन्तु सब ब्राह्मण न तो प्राचीन काल मे ही पुरोहित होते थे और न आधुनिक काल मे ही होते है। कुछ ब्राह्मण राजकुलों के पुरोहित होते थे और कुछ साधारण गृहस्थों के। नैमित्तिक कार्यों म यज्ञ-यागादि अनुष्ठान के लिए इन ब्राह्मणो को निमन्त्रित किया जाता था। यज्ञ आदि के बाद ब्राह्मण को दक्षिणा देने का भी विधान था। जो यजमान जितनी अधिक दक्षिणा ब्राह्मण को देता था, ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुसार उसे उतना ही श्रेष्ठ फल प्राप्त होता था। ब्राह्मण का अपमान करने वाले तथा उन्हे दु ख देने वाले व्यक्तियो का अनिष्ट होता था। जो राजा ब्राह्मणो को दण्ड देता था वह नरक का अधिकारी होता था। ब्राह्मण का तीसरा मुख्य कर्तव्य दान देना तथा दान लेना था। यह दान केवल योग्य द्विजो द्वारा ही दिया जाता था, जिसे ब्राह्मण स्वीकार करते थे। अयोग्य शूद्रो से दान लेना ब्राह्मण के लिए निषिद्ध था। दान किस व्यक्ति से लेना चाहिए और किस अवसर पर देना चाहिए आदि विषयो के निर्धारण के लिए नियम बनाये गये। मनुस्मृति म ब्राह्मण के इन कर्तव्यो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

> अध्यापनमध्ययनं यजन याजन तथा।
> दान प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।

ब्राह्मण के आदर्श निर्धनता, सरल तथा सादा जीवन एव उच्च विचार थे। वह धनोपार्जन के लिए अधिक प्रयत्न नही करता था। केवल जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक तथा उचित धन उसे प्राप्त करना होता था। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास का वह सदा प्रयत्न करता था। धन का अधिक अर्जन करना ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व के पद से गिरा देता था।

क्षत्रिय—क्षत्रिय का प्रधान कर्तव्य प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध करना था। राष्ट्र की समृद्धि एवं सुख का उत्तरदायित्व प्रधान रूप से राजन्य वर्ग का था। वेदो का अध्ययन, यज्ञ तथा दान देना ब्राह्मण के समान उसके भी कर्तव्य

थे। जनक और अजातशत्रु आदि कुछ अपवाद स्वरूप ऐसे क्षत्रिय हुए, जिन्होंने ब्राह्मणों को भी ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, यद्यपि यह उनके कर्तव्य के विरुद्ध था। जो क्षत्रिय ब्राह्मणों का आदर करता, उसके साम्राज्य में शान्ति तथा समृद्धि रहती थी। मार्ग में ब्राह्मण तथा राजा के परस्पर सम्मुख हो जाने पर क्षत्रिय को ब्राह्मण के लिए मार्ग छोड़ देना उचित था। राजसूय यज्ञ में अवश्य राजा का स्थान तथा आसन ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं उच्च होता था। क्षत्रिय को स्वाभाविक रूप से विषय तथा भोग-विलास से दूर रहना चाहिए। उसमें शूरता, तेज, धैर्य, चतुरता तथा वीरता होनी चाहिए। रण-क्षेत्र से उसे कभी पलायन नहीं करना चाहिए। क्षत्रिय के इन कर्तव्यों का वर्णन करते हुए मनु ने कहा है—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

क्षत्रिय को राजनीति, आचार-नीति, दण्ड-नीति तथा अर्थ-शास्त्रादि विद्याओं का पण्डित होना चाहिए। रामायण तथा महाभारत में महान् राजन्यों की वीर एवं अमर गाथाएँ हैं। सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा करते हुए अनेक उत्पातों से प्रजा की रक्षा करना एवं अपराधी को दण्ड देना क्षत्रिय का कर्तव्य होता है। भगवद्गीता में कहा है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥

तात्पर्य यह कि (१) शौर्य—हजारों शत्रुओं से भी अकेले युद्ध करने में भयभीत न होना। (२) तेज—अपनी तेजस्विता (प्रतिष्ठा की रक्षा) से दुष्टों पर आतंक रखना। (३) धृति—साहसिक, धैर्यवान् एवं दृढ़ रहना। (४) दाक्ष्य—राजनीति का यथेष्ट ज्ञान एवं शासन-कार्य में दक्ष होना। (५) युद्ध में पलायन न कर शत्रुओं का नाश करना। (६) विद्या एवं दान आदि से प्रजा का समुचित पालन करना। (७) अकारण किसी भी प्राणी को कष्ट न देना तथा सब जगह सदा ईश्वर को देखना। उपर्युक्त बातों का स्वरू

एवं आचरण क्षत्रिय को भली प्रकार करना चाहिए। क्षत्रिय कर्म-प्रधान होता है। ब्राह्मण जो कुछ सोचता है, क्षत्रिय उसे यथार्थरूप मे परिणत करता है। ब्राह्मण द्वारा निर्मित विधान का पालन करने वालों की रक्षा करना तथा विघटन करने वालों को दण्ड देना क्षत्रिय का उत्तरदायित्व होता है।

वैश्य—राष्ट्र के आर्थिक, व्यापारिक एवं कृषि-सम्बन्धी कार्यों का उत्तरदायित्व वैश्य के ऊपर होता है। वैश्य पशुओं की रक्षा तथा पालन करता है। आर्थिक क्षेत्र मे राष्ट्र की समृद्धि वैश्य पर आश्रित रहती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पशुओं मे जो स्थान गाय का होता है, मनुष्यों मे वही स्थान वैश्य का होता है। वह नि.स्वार्थ भाव से राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की सेवा मे रत रहता है। वेदों का अध्ययन, यज्ञ तथा दान करने के अतिरिक्त वैश्य को क्षत्रिय अथवा राजन्य वर्ग को कर भी देना पडता था। वैश्य लोग ब्राह्मणों और क्षत्रियों के पूर्णतया आज्ञाकारी होते थे। मनु ने वैश्यों के कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार किया है :—

> पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
> वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

चतुर्थ और अन्तिम वर्ण था शूद्र। यद्यपि शूद्रों का स्थान ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग की अपेक्षा कुछ निम्नकोटि का है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसका राष्ट्र अथवा समाज के लिए कम महत्व है। जो स्थान शरीर में पैरों का होता है, वही स्थान चारों वर्णों मे शूद्र का है। शूद्र का केवल एक ही कर्तव्य बतलाया गया है और वह है ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग की सेवा करना। मनु ने कहा है.—

> एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
> एतेषामेववर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

शूद्र को निन्दा, अभिमान एवं ईर्ष्या आदि को त्याग कर द्विजों की सेवा तथा अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। द्विजों की सेवा से ही शूद्रों की जीविका का निर्वाह होता था। शूद्र को ब्राह्मणों की सेवा करने से, क्षत्रिय

अथवा वैश्य की सेवा करने की अपेक्षा अधिक लाभ होता था। शूद्रों को यज्ञ करने तथा ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। द्विजों की सेवा के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर शूद्र पशुओं की रक्षा, कृषि-कर्म तथा वस्तुओं के विक्रय करने में प्रवृत्त हो सकता है। स्मृतिकारों के अनुसार शूद्र को धन सञ्चय नहीं करना चाहिए।

इन वर्णों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि ये वर्ण कर्म के अनुसार होते थे, जन्म से नहीं। धर्म का आचरण करने से निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति, कर्मों के अनुसार अपने से उत्तम वर्णों को प्राप्त होता था और वह उस वर्ण में गिना जाता था, जिसके योग्य होता था। अधर्माचरण से तथा अपने वर्ण के उपयुक्त कर्तव्यों का पालन न करने से उच्चवर्ण का व्यक्ति भी अपने से निम्नवर्ग को प्राप्त होता था। अतः स्पष्ट है कि शूद्रकुल में उत्पन्न होकर भी कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण को प्राप्त किया जा सकता था तथा कर्तव्य से च्युत होकर ब्राह्मण भी शूद्रत्व को प्राप्त होता था। इसी बात का संकेत करते हुए मनु ने अपनी मनुस्मृति में कहा है :—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

अध्याय ३

अमोद-प्रमोद एवं शिष्टाचार

संगीत—प्राचीन भारत मे गायन, वादन और नृत्य समाज के लिए लोकप्रिय मनोरंजन के साधन माने जाते थे। भारत के नाट्यशास्त्र मे इनके शिक्षण की वैज्ञानिक पद्धति का अच्छा विवरण मिलता है। संगीत मे ७ स्वर, ३ ग्रामे १९ या २१ मूर्छनाएँ, ४९ तानें और २२ श्रुतियां बहुत प्राचीन काल से स्वीकृत हैं। इनके अतिरिक्त नट भी अपने कला-प्रदर्शन से समाज का विनोद करता था। 'नट-नाटक' यह मिला-जुला शब्द रामायण तथा महाभारत मे स्थल-स्थल पर मिलता है। राम का नट-नर्तक-संकुल* विदूषको से मनोविनोद करने का वर्णन रामायण मे मिलता है। ये नट लोग प्रायः गायन तथा नृत्य के साथ कथाएं भी सुनाते थे। नटी या शैलूषी भी नटो के साथ कार्य करती थी। महाभारत† मे शैलूषी के कृत्रिम विलापो तथा प्रलापो के अभिनय के प्रसग का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। ये लोग प्रायः नाराशसी या दन्तकथाओ से कथावस्तु ग्रहण करके कुछ प्रहसन भी जोड दिया करते थे, जिनसे जनता का विनोद और मनोरंजन होता था। विविध यज्ञो के महोत्सव मे नट लोग प्राय. अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। हरिवंश पुराण मे कृष्ण के पुत्रो के द्वारा एक नाटक 'कौवेर-रम्भाभिसार' का अभिनय किये जाने का वर्णन मिलता है। इसमे कैलास तथा आकाश से जाते हुए विमानो के दृश्य दिखाये गये थे। इस नाटक मे प्रद्युम्न ने नलकूबर का, मनोवती ने रम्भा का तथा साम्ब ने विदूषक का अभिनय किया था। ईसा से छटी शताब्दी पूर्व वैयाकरण पाणिनि ने शिलालिन् और कृशाश्व नाम के दो 'नट सूत्रकारो' का उल्लेख किया है। अनुमानतः इससे पूर्व भारत मे नाटको का अभिनय अवश्य होता था।

*—नटनर्तकसंकुलानः, रामायण—१ १८, १८,

† —महाभारत—४, १६ ४०,

कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक के पूर्वरंग में ही सूत्रधार से, ग्रीष्म-ऋतु के आरम्भ को लक्ष्य करके कोई मनोहर गीत गाने का आदेश, नटी को दिलाया है। उस गायन में नटी को इतनी सफलता मिली है कि राग के माधुर्य में चित्तवृत्ति के लीन हो जाने से सारे दर्शकगण, चित्र में लिखे से, अवाक् रह जाते हैं। पाँचवें अंक के आदि में तो संगीतशाला का उल्लेख भी मिलता है। विदूषक दुष्यन्त से संगीतशाला के भीतर से आती हुई मधुर ध्वनि की ओर ध्यान देने का आग्रह करता है, जहाँ हंसपदिका विशुद्ध नाम की गीत के आलाप का अभ्यास कर रही है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में भी मालविका के नृत्य तथा अभिनय करने का वर्णन मिलता है। भवभूति ने तो 'उत्तर रामचरित' नाटक के अन्तर्गत एक ऐसे नाटक का अभिनय कराया है, जिसमें राम, दर्शक के रूप में, अपने ही जीवन की घटनाओं को रंगमंच पर अभिनीत होते हुए देखते है।

वाद्यवृन्द में तीन प्रकार के बाजे होते थे— (१) आनद्ध (मढ़े हुए), (२) तत (तार या ताँत से कसे हुए) और (३) सुषिर (फूँक कर बजाने के)। इनमें से तत बाजों में वीणा का विशेष महत्त्व था। संगीत की अधिष्ठातृ देवता सरस्वती जी अपनी कच्छपी वीणा बजाकर कवियों और कलाकारों का मनोविनोद करती है। नारद जी उदुम्बरी वीणा बजाते हुए पुराणों तथा काव्यों में दिखाई देते है। गुप्तकाल के कुछ ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुए है, जिनमें सम्राट् वीणा-वादन करते हुये दिखाये गये है। आनद्ध वाद्यों में मृदंग या पखावज को तथा सुषिर बाजों में बंशी को भी विशेष स्थान प्राप्त है।

कठपुतली का नाच भी सामाजिक विनोद का एक साधन था। महाभारत के सूत्रधार के सूत्र के सहारे से पुतली के नाचने का उल्लेख मिलता है। कुछ लोग सूत्रधार शब्द के प्रयोग के आधार पर कठपुतली के नाच को ही नाटक का पूर्व रूप मानते हैं, किन्तु इस बात के कोई पुष्ट प्रमाण नहीं हैं।

विद्वानों के मनोरंजनार्थ यज्ञों के महोत्सवों और राजाओं के दरबारों में शास्त्रीय विषयों पर वाद-विवाद या शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

खेल-कूद—रामायण* तथा महाभारत काल के राजाओ को आखेट और द्यूत की क्रीडाएं प्रिय थी। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का मन भी आखेट खेलने मे रमता था। कहते है कि रावण को उसके साहसिक कृत्यो से विरत रखने के लिए ही मन्दोदरी ने चतुरग (शतरज) के खेल का-सूत्र पात किया था। नल, विराट् और युधिष्ठिर को द्यूत अत्यन्त प्रिय था। प्राचीन साहित्य मे इन दोनो खेलो का राजाओ के प्रसग मे इतना अधिक उल्लेख हुआ है कि नृप-समाज मे इनकी लोकप्रियता की स्पष्ट सूचना मिल जाती है। आखेट-प्रिय होने के कारण ही राजाओ को उपदा मे श्वानो के दिये जाने का उल्लेख रामायण तक में हुआ है।

नदियों म जल-विहार या जलक्रीडा करना भारतीयो को बहुत प्राचीन काल से प्रिय रहा है। लोग अपने बधु बान्धवो तथा इष्ट-मित्रो के साथ तरण की प्रतिद्वंद्विता म भाग लेने बडे समारोह से जाया करते थे। महाभारत मे प्रमाण कोटि के जल-विहार का वणन बडी रुचि से अकित किया हुआ मिलता है। जलविहार के अवसर पर राजाओ के साथ उनकी रानियाँ भी बडी उमग से भाग लिया करती थी। नर्मदा नदी के स्वच्छ जल मे सहस्रार्जुन का रमणियो के साथ जलविहार करने का वर्णन स्थल-स्थल में प्राप्त होता है।

लोगो के मनोरंजन के लिए गदा-युद्ध और धनुर्विद्या के खेलो की प्रतिद्वन्द्विताएँ भी आयोजित की जाती थी। सामाजिक उत्सवो, यज्ञो और पर्वों के अवसर पर द्वन्द्वयुद्ध भी हुआ करते थे। इन्ही म कभी-कभी योद्धाओ के भाग्य का निर्णय भी हो जाता था। मल्लयुद्ध अथवा कुश्ती की कला भारत मे बहुत प्राचीन कालसे चली आती है। रामायण मे बालि और सुग्रीव का मल्ल-युद्ध प्रसिद्ध ही है। महाभारत* म भी इसका उल्लेख मिलता है। राजमहलो के पास प्राय एक अखाडा भी होता था, जहाँ दूर-दूर से पहलवान लोग अपने पेंचो की करामातें

१—रामायण २ ७० ३०
२—महाभारत -४१३ ४१-४२

दिखाने के हेतु आमन्त्रित होकर आते थे तथा उनकी कुश्तियाँ देखने के लिए विशाल जन समुदाय एकत्र हो जाता था।

महाभारत मे एक लोहे की गेंद से मैदान मे खेले जाने वाले वीटा नामक खेल का वर्णन मिलता है। इसमे, यह लोहे की गेंद मैदान मे डडे से खेली जाती थी। गेहान्त क्रीडाओ मे लडकियो के द्वारा खेले जाने वाले गेंद और गुडियो के खेल घर के भीतर खेले जाते थे। महाभारत के अनुसार कुमारियाँ अपने पितृ-गृह मे यह खेल खेला करती थी। जब पाण्डवो के अज्ञातवास का पता लगाने के लिए कौरवो की सेना ने विराट् के नगर को घेरा था और बृहन्नला रूप मे अर्जुन उत्तर के साथ उनसे युद्ध करने जा रहे थे, उस समय उत्तरा ने, उनसे योद्धा राजकुमारों के रग-बिरगे वस्त्र, अपनी गुडियों के लिए, लाने की प्रार्थना की थी।

रामायण में राम के विलाप के प्रसग मे तथा महाभारत मे दमयन्ती के विलाप के अवसर पर आँख-मिचौनी के खेल का भी उल्लेख मिलता है। यह खेल घरो मे प्राय बच्चे खेलते थे। इनके अतिरिक्त कथा-वार्ता कविता-पाठ, साहित्यिक गोष्ठी, उद्यान-यात्रा और इन्द्रजाल या असम्भव को सम्भव दिखाने-वाले जादू के खेल मनोविनोद के प्रमुख साधन थे। द्यूतक्रीडा का उल्लेख तो ऋग्वेद के अक्षसूक्त तक मे मिलता है। रामायण और महाभारत काल की द्यूत-क्रीडाओ का उल्लेख तो हो ही चुका है। आचार्य कौटिल्य के मत मे द्यूतक्रीडा पर राज्य का नियन्त्रण होना आवश्यक है। कौटिल्य ने मद्यपान पर भी सर-कारी नियन्त्रण का समर्थन किया है। मनोविनोद के अवसरो पर लोग उल्लास और उत्साहपूर्वक स्वच्छ और सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण करते थे। मनो-विनोद के विविध साधनो मे उदारता और प्रगतिशीलता के साथ ही साथ सामाजिक विकास की भी समुचित योजनाएँ रही थी।

शिष्टाचार—समाज के विविध वर्गों को एक सूत्र मे अक्षुण्ण रखने के लिए भारतीयो ने स्नेह और श्रद्धा के प्रतीकस्वरूप शिष्टाचार के कुछ विधानो का आवि-ष्कार किया था। भारतीयो ने सदा ही शिष्टाचार के पालन मे सावधानी

रखी है। प्राय शिष्टाचार के इन प्रयोगो मे मानवीय गुणो के विकसित तथा समाज के परिष्कृत होने के सकेत अन्तर्हित रहते हैं । अत. शिष्टाचार ही किसी सस्कृति के सौष्ठव की परीक्षा के लिए सर्वोत्तम कसौटी है। सामान्यतः भारतीय शिष्टाचार मे, ब्राह्मण, गौ और राजा के लिए मार्ग छोडना आवश्यक था। ब्राह्मण और राजा समाज के हित मे विशेष महत्व रखते हैं। अत प्रत्येक व्यक्ति को उनके प्रति श्रद्धा और आदर की भावना रखनी चाहिए। क्योंकि व्यक्ति को समाज के साथ सामञ्जस्य करने मे अपने निजी स्वार्थों की बलि समाज को स्वस्थ रखने के लिए सहायक होती है। इसी लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर वयोवृद्ध, भारग्रस्त, दुर्बल व्यक्ति तथा गर्भिणी स्त्री को भी मार्ग देने का नियम है। मानवोचित श्रद्धा एवं करुणा के विकास और प्रसार के लिए ये मर्यादाएँ बाँधी गई है।

बडे-बूढो के साथ वार्तालाप करते समय वाचिक शिष्टाचार की बडी आवश्यकता होती है, क्योंकि उनमे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। बडो से अमूल्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके प्रति अवज्ञासूचक तू-तडाक का प्रयोग करना निषिद्ध है। कायिक शिष्टाचार के अन्तर्गत बडो का अभिवादन करने का विशेष महत्व है। हिन्दू धर्माचार्यों ने छोटो को बडो के चरण-स्पर्श करने का उपदेश दिया है। स्मृतियों मे भी अभिवादन-शील पुरुष की आयु विद्या यश और बल के बढने की बात कही गई है। अभिवादन से प्रसन्न होकर ही बडे छोटो को अपना ज्ञान तथा अमोघ आशीर्वाद देते है। बाल्यावस्था से ही पारिवारिक बच्चो को माता-पिता और गुरु के चरण-स्पर्श करने की शिक्षा दी जाती थी, जिससे बडो के महत्व की स्वीकृति प्रकट होती थी। रामायण मे राम और भरत तथा महाभारत मे नल और युधिष्ठिर आदि सभी लोग बडो के प्रति यह शिष्टाचार निभाते है। चरण छूने के पहले बडो के लिये अभ्युत्थान (खडे होना) और प्रत्युद्गमन (आगे बढकर उनका स्वागत करना) तथा विदावेला मे उनका अभिनन्दन करके कुछ दूर पहुँचाना भी शिष्टाचार के अन्तर्गत आता है। धार्मिक स्थान की देव प्रतिमाओ तथा लोक हित चिंतक महापुरुषो के चरणस्पर्शादि करना भी शिष्टाचार ही है। महाभारत के अनुसार विद्वान के चरण का

अभिवादन अपने नामोच्चारण-पूर्वक तथा स्त्री और अपठित व्यक्ति को अभिवादन करते समय केवल 'अयमहम्' कहकर चरणस्पर्श करने का विधान है। महाभरत मे गुरु का अभिवादन करने समय शिष्य अपनी हथेली ऊपर रखकर दाईं हथेली से दाहिना चरण और बाईं हथेली से बायाँ चरण छूना है। दण्डी सन्यासियो मे दण्डवत प्रणाम की प्रथा आज तक प्रचलित है।

प्रस्थान के समय या यात्रा से लौटकर बडो के चरण छूना अनिवार्य था। किसी कार्य की सफलता के उद्देश्य से जाते समय बडो का अभिवादन छोटो की कामना की सिद्धि के आशीर्वाद दिलाता है। रामायण और महाभारत मे योद्धा लोग युद्ध क्षेत्र के लिए प्रस्थान करने से पूर्व अपने से बडो का अभिवादन करते हुए दिखाई देते हैं। महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व युधिष्ठिर भीष्म और द्रोण का अभिवादन करके उनसे विजयी होने का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। रामायण और महाभारत मे प्रस्थान के समय देवस्थानो तथा पूज्य-जनो की परिक्रमा करने का उल्लेख जगह-जगह मिलता है। देवालयो और ऋषिआश्रमो मे प्रह्वमुद्रा से प्रवेश करने का नियम है। ऐश्वर्य और सजावट के आभरणों को उतारकर दीन-भाव से मन्दिरो तथा आश्रमो मे जाना श्रेयस्कर होता है। युद्ध मे प्रस्थान करते समय वीर लोग ब्राह्मणो को अभिवादन के साथ उपहार भी भेंट किया करते थे। शिष्टाचार के प्रणाम और आशीर्वादो की भाँति दोनो ओर से प्रसाद और उपहार देने की प्रथा थी। रामायण और महाभारत मे मित्रो तथा समान वयस्को म मिलते समय हाथ मिलाने का उल्लेख भी हुआ है।

सम्बोधन के समय राजन् महर्षे और ब्रह्मन् आदि सम्बोधन के विविध प्रकारो के साथ 'तात' सम्बोधन छोटे और बडो के द्वारा समान रूप मे प्रयुक्त होता था। सस्कृत-साहित्य मे सर्वत्र ही बडो को आर्य तथा अपने से बडी महिलाओ को आर्या कहकर सम्बोधित करने की प्रथा थी। स्त्रियाँ पति को आर्य-पुत्र कहकर सम्बोधित करती थी। राजाओ को जगाने के लिए प्रबोधमगल नाम का कौतुकपूर्ण शिष्टाचार प्रचलित था। राजा के मस्तक पर राज्य-

हित-चिन्तन और कन्धों पर प्रजा-रक्षण का उत्तरदायित्व निरन्तर बना रहता था। प्रभात होते ही उसे अपने यशस्वी गुरुजनों के गुण-वर्णन सुनकर उत्साह होता था। साथ ही इस शिष्टाचार में उसे यह स्मरण भी करा दिया जाता था कि —

'जगद्धि सर्वं स्वपिति'

त्वयि सुप्ते नराधिप! (रामायण-७, ३७ ३-६)

अर्थात राजन! तुम्हारे सोते रहने पर सारा जगत् सोता है। अतः तुम जाग कर संसार को जीवन क्षेत्र में प्रवृत्त करो, यह ध्वनि निकलती है। चारण लोग अपनी मधुर गीत-लहरी के द्वारा प्रजा-रक्षण के धार्मिक व्रत का स्मरण करनेवाले वचनों के कहकर उसे दिनभर के लिए सावधान कर देते थे। ऐसे उत्साह-वर्धक गीत सुनकर मधुर ध्वनि के बीच राजा उठकर महल के द्वार पर स्थित अपनी सन्तति सी प्रिय प्रजा से मिलता था। यह प्रबोध-मंगल राजाओं का ही होता था। इसी से राम के वन-गमन के उपरान्त भरत ने बन्दीजनों को प्रबोध-मंगल करने से रोक दिया था। किन्तु रामायण-काल से कालिदास के समय तक आने पर युवराजों का प्रबोध-मंगल भी होने लगा था। रघुवंश के पंचम सर्ग में कालिदास ने अज के लिए इन्दुमती के स्वयंवर में जाने से पूर्व बड़े गौरवपूर्ण प्रबोध मंगल का प्रयोग कराया है —

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानु-
रह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम्।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते
किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति।' (रघु० ५-७१)

प्रतापी सूर्य जब तक उदित हो तब तक अरुण ने ही अंधकार को नाश की बात में दूर कर दिया। हे वीरवर! जब तुम्हीं ने संग्राम का नायकत्व ग्रहण किया है तो क्या तुम्हारे पिता शत्रुओं का स्वयं संहार करेंगे। ऐसी मार्मिक उक्तियों को सुन कर —

तत्र दक्षिणाविहृतशिल्पमुज्झितस्वतार॥"

अज ने अपने पलँग को तत्काल ही त्याग दिया, जैसे उन्मत्त राजहंसो के मधुर शब्द सुनकर जागा हुआ सुप्रतीक नामक सुरगज गगा के रेतीले तट को छोड देता है।

शिष्टाचार के नाते बराबर वालो मे परस्पर के आलिंगन से भी प्रेमप्रदर्शन व्यक्त किया जाता था। राम और सुग्रीव ने विधिपूर्वक मित्रता करके एक दूसरे का आलिंगन किया था। महाभारत मे धृतराष्ट्र, भीष्म तथा द्रोण ने द्रुपद को आलिंगन का सन्देश कहलाया है। बाण की कादम्बरी भी महाश्वेता को सन्देश भेजते हुए 'दृढदत्तकण्ठग्रहा' के रूप मे अभिनन्दन का प्रयोग करती है। महाभारत मे बराबर वालो के आलिंगन तथा छोटे-बडो के आलिंगन मे कुछ भेद दिखाई देता है। पिता पुत्र का आलिंगन एक हाथ से करता था और बराबर वाले दोनों भुजाओ से आलिंगन करते थे। स्वामी द्वारा सेवक का आलिंगन उसकी प्रतिष्ठा बढाने को होता था। हनुमान् जी को सीता का समाचार लाने पर राम ने दृढ आलिंगन से प्रतिष्ठित तथा पुरस्कृत किया था। समान मित्रो मे भी दृढ आलिंगन होता था, जब कि पिता पुत्र का आलिंगन करके शिर का चुम्बन भी करता था।

गुरुजनो के अभिनन्दन, अभिवादन, अभ्युत्थान, अर्घदान, परिक्रमण और उपहार-भेंट आदि के द्वारा श्रद्धा और आदर की भावना व्यक्त करने के साथ, छोटे लोग शक्ति का आवाहन भी करते हैं, जो सदा उनके हित मे है। इसी प्रकार रामायण और महाभारत के अनुसार अवगुण्ठन या पर्दे की प्रथा स्त्रियो की प्रतिष्ठा बढाने के लिए प्रयुक्त होती थी। सीता को वनवास के पूर्व पक्षियो तक ने न देखा था। रामचन्द्र ने रामायण मे इस प्रथा को राजकीय शिष्टाचार कहा है। पाणिनि के इस सूत्र'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' (३-२-३६) के उदाहरण 'असूर्यम्पश्या राजदारा'मे भी राजाके अन्त पुर के प्रति आदर तथा प्रतिष्ठा की भावना निहित है। दमयन्ती को भी वन-गमन से पूर्व 'असूर्यम्पश्या' (सूर्य के लिए भी अदृश्य) कहा गया है। दुर्योधन की सभा मे केशाकर्षण के समय द्रौपदी ने विलाप कर कहा था कि आज से पहले स्वयंवर के अतिरिक्त उसे वायु और सूर्य भी न देख पाये थे।

अध्याय ४

आर्थिक जीवन

आजीविका के साधन—

भारतीय वर्णव्यवस्था जन्म पर आश्रित न होकर प्रारम्भ में कर्म पर आश्रित थी। जो व्यक्ति जिस कर्म के योग्य होता था वह उसी वर्ण का अधिकारी होता था। योग्यता एवं शक्ति के अनुसार ही उसे अपने योग्य आजीविका के साधन को चुनने का अधिकार भी था। प्राचीन भारत में आजीविका के मुख्य साधन—कृषि, पशुपालन, उद्यान, व्यापार एवं अन्य उद्योग-धन्धे थे।

हमारा प्रचीन समाज भी आधुनिक समाज की भाँति ही कृषि-प्रधान था, अत कृषि उस काल में आजीविका का मुख्य साधन था। कृषि में जोतना, बोना, काटना तथा अनाज को साफ करके निकालना, ये चार क्रियाएँ प्रमुख होती थीं। कृषि में पशुओं की विशेष आवश्यकता होती ही है। अत गाय, भैंस आदि से दुग्ध की प्राप्ति होने के कारण, पशुपालन का भी उस समाज में विशेष महत्व था। पशुपालन भी एक स्वतन्त्र आजीविका का साधन था। वैश्य लोग प्राय वाणिज्य और व्यापार करते थे और उससे प्राप्त होने वाली सम्पत्ति से अपने परिवार का भरण-पोषण करने के अतिरिक्त अपने व्यापार का विकास भी करते थे। व्याज पर रुपया ऋण देकर अतिरिक्त सम्पत्ति का अर्जन करना भी उस युग का एक प्रधान धनोपार्जन का साधन था। व्याज की दर निश्चित थी और अधिक व्याज लेने वाले व्यक्तियों को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था।

ब्राह्मणों की आजीविका के हेतु, शिक्षण धार्मिक कृत्यों का सम्पादन, यज्ञ आदि कराकर दक्षिणा प्राप्त करना तथा दान आदि से प्राप्त धन ही मुख्य साधन

थे। ब्राह्मण प्रायः पौरोहित्य कर्म तथा शिक्षण कार्य करते थे। कुछ ब्राह्मणों को धार्मिक अध्ययन के हेतु राज्य से तथा धनिक वर्ग से उपहार भी प्राप्त होते थे।

क्षत्रिय प्रायः शूरता और वीरता सम्बन्धी कार्य करके धनोपार्जन करते थे। देश, समाज तथा राष्ट्र की रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था। एतदर्थ वे सेना आदि में सहर्ष कार्य करते थे। क्षत्रियों को प्रायः पैतृक सम्पत्ति प्राप्त होती थी।

कृषि, पशुपालन, उद्योग, वाणिज्य, व्यापार एवं ब्याज पर ऋण देना ये वैश्यों के प्रमुख आजीविका के साधन थे। शूद्रों का मुख्य कर्त्तव्य द्विजों की सेवा करना था। उनकी आजीविका का साधन भी उनके इस शारीरिक परिश्रम तथा सेवा-कार्य से प्राप्त होने वाला धन ही था। इस प्रकार यहाँ प्रायः स्पष्ट ही है कि प्राचीन काल में आजीविका के साधन वर्ण-व्यवस्था पर आश्रित रहते थे।

कुछ व्यक्ति अपराध-मूलक अवैध साधनों का भी धनोपार्जन हेतु प्रयोग करते थे। ये साधन मुख्यतया, घूस, डकैती, चोरी, द्यूत, धोखा देना तथा जासूसी आदि थे। किन्तु ये त्याज्य थे और इनसे सम्पत्ति का अर्जन करने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाता था।

अधिकार तथा स्वामित्व

आदिकालीन युग में व्यक्तिगत संपत्ति स्वीकृति नहीं थी। आधुनिक पद्धति के अनुरूप ही हिन्दू समाज ने अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पत्ति के स्वामित्व का निर्धारण किया था। कुछ सम्पत्तियों को राष्ट्रीय माना गया, कुछ को व्यक्तिगत तथा कुछ पर परिवार एवं जाति का अधिकार स्वीकृत किया गया।

प्रायः कृषियोग्य भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार होता था। जो व्यक्ति जहाँ कृषि स्वयं करता था, उस भूमि का वह स्वयं ही स्वामी होता था। गोचर भूमि पर, जहाँ सम्पूर्ण गाँव के पशु चरा करते थे, सम्पूर्ण गाँव का सम्मिलित अधिकार होता था। वन की भूमि पर, उस व्यक्ति का अधिकार होता था, जो उसे काट कर साफ करना था।

राज्य की भूमि पर लगाये करों तथा राजस्व से प्राप्त होने वाली आय जनतन्त्र में राष्ट्रीय सम्पत्ति होती थी, किन्तु यही सम्पत्ति वंशपरम्परागत राजतन्त्र में राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी।

कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था तथा राजतन्त्र में विकास होने के साथ स्वामित्व की व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन होने लगा। केवल स्वतन्त्र व्यक्ति ही सम्पत्ति के अधिकारी हो सकते थे, शूद्र, सेवक तथा पराधीन व्यक्ति नहीं। यदि वर्ण हीन व्यक्ति की सम्पत्ति का कोई अधिकारी नहीं होता था तो उस सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता था।

उत्तराधिकार, क्रय-धन का विभाजन आदि, गौतम मुनि के अनुसार कुछ साधन थे, जिनसे मनुष्य का सम्पत्ति पर स्वामित्व तथा अधिकार होता था। ब्राह्मणों को कुछ वस्तुएँ उपहार रूप में भी प्राप्त होती थीं तथा उन वस्तुओं पर उनका स्वामित्व होता था। युद्ध में विजय से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति का अधिकारी क्षत्रिय होता था। कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यापार आदि में प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर वैश्य का अधिकार होता था। शूद्रों का स्वामित्व तथा अधिकार उनके शारीरिक श्रम तथा सेवा पर ही निर्भर था।

अतः यह स्पष्ट है कि धन सम्पत्ति का अधिकार एवं स्वामित्व वैज्ञानिक आधार पर आश्रित था।

कृषि

आदि काल में मानव भी पशु-पक्षियों के समान ही अपने लिए स्वयं खाद्य पदार्थों का उत्पादन करने में असमर्थ था। कालान्तर में शताब्दियों के पश्चात ही बीज बोकर तथा फसल काटकर कृषि-कर्म सम्भव हो सका। कृषि-व्यवस्था उस समय उतनी वैज्ञानिक तथा विकसित नहीं थी, जितनी कि आधुनिक काल में है। उस समय मिट्टी के गुणों के अनुसार फसल बोने, खाद देने तथा सिंचाई आदि के साधनों की सुन्दर एवं उचित व्यवस्था न थी। सामयिक तथा आवश्यकतानुसार जलवृष्टि के लिए तथा भूमि के उर्वरा होने के लिए यज्ञ किए जाते

थे तथा ईश्वर से सामूहिक प्रार्थनाएँ भी की जाती थी।

मोहन्जोदड़ो में खुदाई में प्राप्त गेहूँ तथा जौ आदि इस बात के प्रमाण है कि ३०००ई० पू० में भी भारतीयो को कृषिकार्य का ज्ञान था। ई० पू० चौथी शताब्दी में तो चन्द्रगुप्त ने कृषि के विकास के लिए नहरें तथा बम्बे आदि बनवाये, जिससे कृषक को सिंचाई आदि में सुविधा होने से, अधिक अन्न का उत्पादन हुआ।

ऋग्वैदिक काल मे भी कृषि होती थी। यव (जौ) तिल, माष आदि उस समय की मुख्य उपजें थी। गेहूँ का भी उत्पादन किया जाता था, किंतु चावल का उल्लेख प्राय. उस समय नही प्राप्त होता है। चावल का वर्णन हमें अथर्ववेद मे प्राप्त होता है, अत. चावल कुछ बाद की उपज है। तरकारियों तथा कपास और जूट आदि की उत्पत्ति भी कृषि के द्वारा उस समय की जाती थी। आधुनिक युग के समान उस समय भी जोतना, बीज बोना, फसल काटना तथा अनाज को साफ करना आदि चार वैज्ञानिक क्रियायें प्रचलित थी। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे इनका पूर्ण विधान पाया जाता है। वर्ष मे दो फसलें होती थी। चावल भी दो बार बोया जाता था। गेहूँ, जौ, चावल, माष, तिल आदि के बोये तथा काटे जाने के समय निश्चित थे।

कपास, रेशम तथा ऊन आदि की उत्पत्ति भी कृषि द्वारा ही की जाती थी और इन्हें प्राय: वस्त्र बनाने के हेतु प्रयोग में लाया जाता था। कृषि कर्म के लिये हँसिया, फावड़ा तथा हल आदि विभिन्न औजारो का प्रयोग भी किया जाता था। हल प्राय: छोटे होते थे और खेत जोतने के लिए दो बैलो वाले हलो का प्रयोग होता था; किन्तु कभी-कभी इतने भारी हलो का भी प्रयोग किया जाता था जिन्हे चौबीस और छत्तीस बैलो के द्वारा भी खींचा जाता था। अधिक और उत्तम अन्न के उत्पादन के लिये प्राय. खेतो मे गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था।

खेतो की रक्षा के निमित्त चारो ओर मेंड़ें बनाई जाती थी। सिंचाई की सुविधा के लिए खेतो मे छोटी-छोटी नालियाँ बनाई जाती थी। आधुनिक युग

की भाँति उस युग में भी गाय का विशेष महत्व था। गाय के दूध का प्रयोग किया जाता था और उसके बछड़े खेत जोतने के कार्य में प्रयुक्त किये जाते थे। बैल छोटी-छोटी गाड़ियों को खींचने तथा सिंचाई के कार्य में भी प्रयुक्त होते थे। सिंचाई प्रायः कुओं से चमड़े के बने बड़े-बड़े पुरों से की जाती थी और इन पुरों को बैल खींचा करते थे। मनुष्य प्रायः ईमानदार होते थे, खेतों में चोरी का भय नहीं था; किन्तु फसल की जंगली जानवरों तथा पक्षियों से तो रक्षा करनी ही पड़ती थी। कभी-कभी अनावृष्टि या अतिवृष्टि से भी कृषि को पर्याप्त हानि पहुँचती थी पशु-पक्षी, चूहे, टिड्डीदल एवं ओलों से भी कृषि नष्ट हो जाती थी। कृषि को रोग-मुक्त एवं उन्नत बनाने के हेतु अथर्ववेद में कुछ मन्त्रों-तन्त्रों का उल्लेख हुआ है।

अतः हम देखते हैं कि कृषि उस समय भी आजीविका का प्रधान साधन थी। यद्यपि आधुनिक काल की भाँति उस समय वैज्ञानिक साधनों का कृषि में प्रयोग नहीं होता था। फिर भी वह उन्नत दशा में थी।

उद्योग

उद्योग का प्रयोजन कच्चे माल को व्यापार के योग्य बना देना है। मोहँजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त होने वाले विभिन्न अवशिष्ट इस बात के प्रमाण है कि ३००० वर्ष ई०पू० में भी भारत में विभिन्न उद्योगों का विकास हो चुका था। विभिन्न उद्योगों पर ही भारतीय वर्ण-व्यवस्था आधारित थी। उद्योगों के द्वारा परम्परागत भारतीय कला को भी अपने विकास में यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई। लकड़ी, खनिज पदार्थ, ईंट, पत्थर तथा विभिन्न धातुओं को औद्योगिक कार्य के हेतु प्रयुक्त किया जाता था। हाथी-दाँत की भी सुन्दर कलात्मक विविध वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। कुम्हार मिट्टी से खिलौने, घड़े तथा अन्य छोटे-छोटे दैनिक गृहकार्य में प्रयुक्त होने वाले मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करता था। बढ़ई रथ, हल, आसन्दी, शय्या आदि अनेक लकड़ी की वस्तुओं को बनाता था। भवन बनाने के लिए भी किवाड़, चौखट, खिड़की आदि वस्तुओं में लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। जुलाहे कपास का सूत कात कर

सुन्दर वस्त्रों को बुनते थे। कपास के अतिरिक्त रेशम तथा ऊन को भी वस्त्रों के निर्माण के हेतु प्रयुक्त किया जाता था। स्त्रियों की वेश-भूषा पुरुषों से भिन्न थी। वधुओं की पोशाक साधारण पोशाक से अधिक सुन्दर एवं मूल्यवान् होती थी। उसमें स्थान-स्थान पर कढ़ाई भी की जाती थी। लोहार धनुष-बाण, भाले, तलवार, कुल्हाड़ी आदि शस्त्र तथा हल का फाल, हँसिया तथा फावड़ा आदि कृषि के औजार तथा उस्तरे आदि अन्य वस्तुओं का निर्माण करता था। पीतल की भी सुन्दर मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। मोहन्जोदड़ों की खुदाई में पीतल की नर्तकी की मूर्ति प्राप्त हुई है। स्वर्णकार सोने के हाथ, गले, नाक, कान आदि विभिन्न अंगों के सुन्दर आभूषण बनाता था स्त्रियों के समान पुरुष भी विभिन्न अंगों में आभूषण पहनते थे, इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। राजा आदि कुछ धनिक व्यक्ति स्वर्ण की मूर्तियों का निर्माण भी कराते थे। औद्योगिक क्षेत्र में विदेशियों से स्पर्धा न होने के कारण राजकीय संरक्षण की विशेष आवश्यकता न थी। आधुनिक युग की भाँति औद्योगिक स्वाधीनता उस समय भी विद्यमान थी।

वाणिज्य एवं व्यापार

विभिन्न प्रकार की कृषि-सम्बन्धी तथा अन्य औद्योगिक एवं गृह-सम्बन्धी, दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली, वस्तुओं के विनिमय करने अथवा धन से क्रय-विक्रय करने का नाम ही व्यापार है। सुदूर स्थित राष्ट्रों में व्यापार-सम्बन्धी वस्तुओं का विनिमय वाणिज्य कहलाता है। वाणिज्य राष्ट्रों और देशों के धनिकवर्ग में होता है। वाणिज्य की उन्नति के लिए संचार, यातायात तथा आवागमन के साधनों के विकास की तथा बड़े-बड़े राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हाटों-बाजारों की विशेष आवश्यकता होती है। देश में बैंकों तथा बीमा कम्पनियों आदि के विकास से वाणिज्य की उन्नति में अत्यधिक प्रोत्साहन तथा सहायता प्राप्त होती है। आधुनिक युग में जल, स्थल एवं हवाई मार्गों द्वारा यातायात की विशेष सुविधा होने से तथा बैंक आदि के सुन्दर प्रबन्ध से वाणिज्य एवं व्यापार का अत्यधिक प्रसार हुआ है और भविष्य में भी [illegible]

प्राचीन काल में देश में आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त विदेशों से भी जलमार्ग द्वारा व्यापार एवं वाणिज्य होता था। भारतीय व्यापारी ताम्रलिप्ति से जावा, सुमात्रा, स्याम तथा ब्रह्मा आदि पूर्वीय स्थानों पर तथा मिश्र और अरब आदि स्थानों पर जाते थे। तिब्बत, चीन, अफगानिस्तान आदि देशों से भी व्यापार होता था। साधारणतया विनिमय अर्थात् वस्तुओं से वस्तुओं की बदलने की प्रथा का प्रचलन था, किन्तु व्यापार के लिए सोने, चाँदी तथा उनसे निर्मित मुद्राओं का प्रयोग होता था।

व्यापार की सुविधा एवं आवागमन की सरलता के हेतु सुन्दर एवं मजबूत मार्गों का निर्माण कराना राजा का कर्तव्य था। व्यापारियों तथा यात्रियों की सुविधा की दृष्टि से एवं धार्मिक भावना से मार्गों में यत्र-तत्र कुएँ खोदे जाते थे तथा धर्मशालाओं का निर्माण कराया जाता था।

लगभग २५०० ई० पू० के उत्तर-वैदिककाल में व्यापार विकसित तथा उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका था। वैदिककाल में प्राय विनिमय प्रथा का प्रचलन था। वस्तु के मूल्य निर्धारण तथा उसकी उपयोगिता को निश्चित करने का माध्यम गाय थी। पूर्व वैदिककाल में पणिस् लोग व्यापार के लिए विनिमय का प्रयोग करते थे, ऐसा ऋग्वेद में उल्लेख है। उत्तर-वैदिककाल में क्रय-विक्रय के हेतु मुद्राओं का प्रयोग भी किया जाता था। ये मुद्राएँ सोने, चाँदी तथा ताँबे आदि धातुओं की बनी होती थीं। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए बाजार अथवा हाट या हट्ट भी लगा करते थे। व्यापार तथा व्यापारियों की सुरक्षा के हेतु राज्य की ओर से सशस्त्र सेवक नियुक्त रहते थे।

मौर्य-काल में व्यापार तथा आवागमन की सुविधा के लिए तीन विशाल मार्ग, भारत की राजधानी पाटलिपुत्र से, तीन विभिन्न दिशाओं को जाते थे। प्रथम मार्ग नैपाल और पाटलिपुत्र को जोडता था। द्वितीय मार्ग कौशाम्बी तथा उज्जयिनी होता हुआ पहुँचता था। तृतीय मार्ग मथुरा होता हुआ बैक्ट्रिया तक जाता था। काबुल का भी मार्ग द्वारा पाटलिपुत्र से सम्बन्ध था। चीनी यात्री, व्यापारी तथा बौद्ध-भिक्षु स्थल मार्गों द्वारा भारत आया करते थे।

मिश्र तथा अफ्रीका के पूर्वीय तट से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। भारत में विभिन्न स्थानों पर जल-मार्ग के लिए बन्दरगाह बने हुए थे। ताम्रलिप्ति बंगाल का सर्वश्रेष्ठ बन्दरगाह था। यहाँ से भारतीय व्यापारी पूर्वीय देशों को गये और वहां जाकर उन्होंने भारतीय उपनिवेश स्थापित किये, जिसका साक्षी इतिहास है। देश के आन्तरिक व्यापार के लिए भी जलमार्ग एक प्रमुख साधन था। बड़ी-बड़ी नदियों में विशाल नौकाओं तथा छोटे-छोटे जहाजों का प्रयोग होता था।

विदेशों में भारतीय व्यापारियों ने व्यापारिक-सम्बन्ध तथा उपनिवेश तो स्थापित किये ही, साथ ही वहाँ भारतीय शैव, वैष्णव एवं बौद्ध-धर्मों का भी प्रचार किया गया। रामायण तथा महाभारत के युग में भी मार्गों तथा यातायात के साधनों में उन्नति हुई तथा विदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया गया। व्यापार के नाप तथा तौल के सर्वमान्य साधनों का भी प्रयोग किया जाता था। नाप-तौल में सत्य का व्यवहार किया जाता था। व्यापार में असत्य व्यवहार, धोखा-धड़ी तथा छल-कपट आदि प्रायः असम्भव थे। छल-कपट करने वालों को राज्य की ओर से कड़े दण्ड दिये जाते थे, जिनसे फिर वे तथा अन्य व्यक्ति वैसा करने का साहस भी न करते थे। अतः यह सर्वसिद्ध है कि व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में भारत ने एक अत्यन्त उन्नत स्थान प्राप्त कर रखा था।

प्राचीन भारत में दस्तकारी का काम भी पर्याप्त उन्नत अवस्था में था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर कताई एवं बुनाई का विवरण मिलता है तथा रथ बनाने के लिए धातुओं को गलाने, आभूषण बनाने, अस्त्र, शस्त्र बनाने, गृह बनाने आदि का एवं कुछ अन्य उद्योग-धन्धों का उल्लेख भी है। भिन्न-भिन्न उद्योगों एवं व्यापारों में संलग्न व्यक्तियों को संगठित करने की योजना भी थी, जिससे कई प्रकार के संघों का निर्माण किया गया। इन संघों को 'पूग', 'श्रेणी', 'निगम' आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।

यद्यपि प्राचीन भारत में आध्यात्मिकता को जीवन का सर्वस्व समझा

जाता था, फिर भी द्रव्योपार्जन का जीवन में विशेष महत्त्व था। वर्ग-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति ही मानव-जीवन का उद्देश्य था। इस प्रकार अर्थ के अभाव में व्यक्ति धर्म एवं काम किसी को भी प्राप्त नहीं कर सकता था। गृहस्थ के लिए अर्थ का महत्व अधिकाधिक था। हाँ, यह अवश्य था कि धन जीवन का चरम लक्ष्य न होकर उसके यापन करने का साधन मात्र था।

सिक्का

प्राचीन काल के नगरों में तथा आधुनिक काल में भी ग्रामों में अपनी आवश्यकता की वस्तु का अन्य व्यक्तियों की वस्तुओं से विनिमय किया जाता है। इस वस्तु से वस्तु के विनिमय की प्रथा में अनेक असुविधाएँ थी, और है। प्रायः विनिमय-पद्धति में दुहरा-संयोग नहीं मिल पाता। उदाहरणार्थ मोहन के पास गेहूँ अधिक है और वह घी चाहता है, राम के पास घी अधिक है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उसे गेहूँ की आवश्यकता हो। ऐसी अवस्था में उन्हें तीसरे व्यक्ति को ढूँढना पड़ेगा जिसे कपड़ा देने में तथा गेहूँ लेने में कोई आपत्ति न हो। इसके अतिरिक्त विनिमय के लिए सर्वमान्य माप का अभाव रहता है। किस वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु कितनी दी जाये यह एक बहुत कठिन समस्या होती है। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके विभाग करने पर उनकी सारी उपयोगिता ही नष्ट हो जाती है। इन सब कठिनाइयों के अतिरिक्त वस्तु-विनिमय-कर्ताओं का परिश्रम नष्ट होना और व्यर्थ में परेशान होना आदि भी अनेक कठिनाइयाँ हैं।

इन कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से सिक्के का आविष्कार किया गया। निर्धारित सिक्कों के अभाव में किसी वस्तु का मूल्य भी निर्धारित नहीं किया जा सकता। व्यापार का प्रसार एवं उन्नति किसी निर्धारित एवं सर्वमान्य सिक्के के बिना असम्भव है; अतः व्यापार के विकास एवं प्रसार के लिए सिक्के का आविर्भाव किया गया। सिक्का एक ऐसा सरल, साधारण तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम है, जिससे वस्तुओं के क्रय-विक्रय में अत्यधिक सर-

प्रता हो जाती है ।

प्राचीन काल मे सिक्को का निर्माण सोने तथा अन्य मूल्यवान धातुओं से होता था। सिक्के भिन्न-भिन्न आकार के होते थे। इन सिक्कों पर मूल्य निर्धारण के लिए चिह्न अंकित रहते थे। इन्ही सिक्कों के समान नाप-तौल आदि के लिए माध्यम के रूप मे विभिन्न बाँटो आदि का प्रयोग होता था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार संभवतः नाप-तौल के साधनो मे सिक्को का प्रचलन भारत मे ही किया।

भारत मे मुख्यतः सोने, चांदी और तांबे के सिक्को का प्रचलन था। सोने के दो प्रकार के सिक्के प्रचलित थे सुवर्ण और निष्क, चांदी के तीन प्रकार के धरन, पूपण तथा शतमान और तांबे का केवल एक ही प्रकार का कार्षापण सिक्का प्रचलित था।

पूर्व-वैदिक-काल तथा उत्तर-वैदिक-काल में सिक्के प्रचलित थे, इसका स्पष्ट प्रमाण ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण मे है। दोनों मे स्वर्ण मुद्राओं का वर्णन है। पाणिनि कृत सिद्धान्त-कौमुदी मे रूप्य का वर्णन आया है जो एक चाँदी का सिक्का था। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थो, जातकों तथा त्रिपिटक मे सोने-चाँदी तथा तांबे के सिक्को का वर्णन प्राप्त होता है।

ग्रीक आक्रमणकारियों ने भी विभिन्न प्रकार के विदेशी सिक्के भारत में चलाये। उनका अनुकरण कर चालुक्य, गुप्त, पाल तथा सेन वंश के राजाओं ने भी अनेक प्रकार के सिक्के चलाये। इन सिक्कों का निर्माण दो प्रकार से किया जाता था। धातु की पतली चादर को काटकर तथा छोटे-छोटे सिक्कों के रूप मे ढाल कर। इन सिक्कों को उनके मूल्य के अनुसार छाप भी दिया जाता था। भारत के प्राचीन सिक्के स्वयं भारत की ही देन थे। उन पर विदेशी प्रभाव किंचिन्मात्र भी न पड़ा था। मनु के अनुसार बाँटों से सिक्कों का प्रचलन हुआ तथा दोनो का परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा।

गुप्त-काल को आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक आदि सभी दृष्टियों से भारत का स्वर्णयुग माना गया है। उस समय व्यापार तथा वाणिज्य अत्यन्त

उन्नत अवस्था को प्राप्त थे। चन्द्रगुप्त ने उनकी प्रगति तथा विकास के लिए अनेक प्रकार के सिक्के चलवाये। कुछ सिक्कों पर स्वयं चन्द्रगुप्त का वीणावादन करते हुए चित्र अंकित है। मुगल काल के राजाओं ने भी अनेक प्रकार के सिक्के चलाए और व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उस समय सोने और चांदी की अपेक्षा तांबे के सिक्कों का अधिक प्रचलन था। आधुनिक युग में सिक्कों की जैसी वैज्ञानिक तथा पूर्ण पद्धति प्रचलित है, शायद वैसी किसी युग में नहीं रही। आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए मुद्रा आदि बदलने का कार्य बैंकों की सहायता से अत्यन्त सरलतापूर्वक किया जाता है।

अध्याय ५

भारतीय संस्कृति एवं दर्शन

भारतीय संस्कृति के प्रत्यक अंकुर या बीज ऋग्वेद मे मिलता है। अत षड्दर्शनो का मूल स्रोत भी ऋग्वेद मे निहित दिखाई देता है। वैदिक ऋषि प्रकृति की जिन दिव्य शक्तियो का आवाहन करता है, उनके विषय मे यत्र-तत्र सदेश के साथ सन्देह की भावना भी दिखाई देती है। यही सदेह की स्थिति दर्शनशास्त्र का सर्जन करती है। ऐसी अवस्था मे, मन्त्र द्रष्टा प्रश्नो की लडी सी बाँध देता है। फिर उन्ही के समाधान रूप मे, विविध गुह्य तथ्यो का उद्घाटन करता प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ पुरुष सूक्त मे सृष्टि का क्रम पुरुष के बलिदान मे चलता है। ऐसे मे कई प्रश्न एक साथ उठ खडे होते हैं। "उस पुरुष का मुख, उसके बाहु, उसके ऊरु और चरण क्या हो गये ?" उत्तर मे चारो वर्णों का विन्यास हो जाता है, जो भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूत्र मे "कस्मै देवाय हविषा विधेम" किस प्रजापति को मैं अपनी हवि अर्पित करूँ ? इसके उत्तर मे सर्वशक्तिमान हिरण्यगर्भ की विभूतियो का उद्घाटन किया जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त वाक् आदि सूक्तो मे भी सृष्टि, जीव और ईश्वर सम्बन्धी, दर्शन के विविध तत्त्व प्राप्त होते है। भारतीय विचारो मे दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती है—(१) प्रज्ञामूलक तथा (२) तर्कमूलक। इनमे से प्रथम प्रतिभामूलक का उदाहरण वेदात है तथा तर्क मूलक प्रवृत्ति, शेष पाँच दर्शनो मे दिखाई देती है। यद्यपि दर्शनो के मूल-स्रोत सहिता-भाग मे विद्यमान है, फिर भी उसका पूर्ण विकास ब्राह्मण आरण्यक एव उपनिषदो मे ही दिखाई देता है।

इस युग के समाज मे सयम, चिन्तन, प्रवचन, विचार स्वातन्त्र्य,

धर्मनिष्ठा आदि की सद्वृत्तियाँ विशेष रूप से प्रकट होती है। यह विद्याओं और उनके ज्ञान के विकास का समय था।

सांख्य सम्प्रदाय

कपिल मुनि का सांख्य-दर्शन वैदिक दर्शनों में सबसे प्राचीन है। उपनिषदों के विचारों के साथ सांख्य का साक्षात् सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई देता है। ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व विरचित ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका, प्राप्य सांख्य साहित्य में, सांख्य सम्प्रदाय की सबसे प्राचीन पुस्तक है। सांख्यकारिका पर सबसे प्राचीन भाष्य गौड़पाद का मिलता है। सांख्यकारिका की द्वितीय टीका वाचस्पति मिश्र लिखित 'सांख्य-तत्व-कौमुदी' के रूप में उपलब्ध है, जो इस सम्प्रदाय का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

सांख्य के अनुसार मानव-जीवन आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक इन तीन प्रकार के दुःखों से व्याप्त है। तत्वज्ञान होने पर ही तापत्रय से निवृत्ति हो सकती है। इस तत्वज्ञान का स्वरूप 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति' अर्थात् प्रकृति और पुरुष का विवेक या उनका अलग अलग ज्ञान ही है। दुःख त्रय से निवृत्ति पाना ही सांख्य का मोक्ष है। कपिल का समय, राम के पूर्वज, महाराज सगर का राज्यकाल सिद्ध होता है। सांख्य सत्कार्यवादी है। जो कार्य और कारण की अभिन्नता का प्रतिपादक है। कार्य और कारण एक ही पदार्थ के दो रूप हैं एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। अव्यक्त रूप में जो कारण है वही व्यक्त होकर कार्य बन जाता है। सांख्य मूलप्रकृति नाम के एक ऐसे तत्व को स्वीकार करता है, जो स्वयं कारण-रहित होकर समस्त दृश्य प्रपञ्च का कारण है। इससे दो प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते है। एक प्रकृति-विकृति रूप जो सात है (बुद्धि अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) और दूसरे केवल विकार स्वरूप जो सोलह हैं (पञ्चमहाभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन)। इन सबसे भिन्न पुरुष नाम का पचीसवाँ तत्व है, जो न किसी का कारण है और न किसी का

कार्य। साख्य का पुरुष कर्त्ता न होकर केवल द्रष्टा है। साख्यशास्त्र दृष्ट, अनुमान, और आप्तवचन इन तीन ही प्रमाणो को मानता है।

योग–दर्शन

पतजलि का योग दर्शन प्राय. साख्य के ही दार्शनिक सिद्धान्तो को स्वीकार करता है। इस योग की प्रक्रिया से प्राय सभी दर्शनो का सम्बन्ध है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि चित्त की वृत्तियो का निरोध ही योग है। साख्य की भाँति योग मे भी दृष्ट, अनुमान और आप्त ये तीन प्रमाण माने जाते है। षड्दर्शनो मे स्वीकृत योगसूत्र, पतजलि की ही रचना है और उस पर व्यास कृत भाष्य सबसे प्राचीन और प्रामाणिक है। योगसूत्रो पर वाचस्पति मिश्र कृत तत्ववैशारदी, श्री विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक', शकरकृत भाष्य विवरण,' महाराज भोज-प्रणीत 'राजमार्त्तण्डवृत्ति,' भावागणेश कृत 'वृत्ति', नागोजी भट्ट 'वृत्ति' रामानन्द यतिविरचित 'मणिप्रभा' अनन्तपण्डित की 'योगचन्द्रिका', सदाशिवेन्द्र सरस्वती की 'योगसुधाकारी' राघवानन्द सरस्वती की 'पातञ्जल-रहस्य' और हरिहरानन्दअरण्य कृत 'भास्वती' टीका। इतना साहित्य सुप्रसिद्ध है।

साख्य के केवल बौद्धिक साक्षात्कार से कार्य-सचालन न हो सकने के कारण, व्यावहारिक रूप से ज्ञान के सिद्धान्तो को प्रत्यक्ष करने के लिए योग की आवश्यकता बडे महत्त्व की है। वस्तुत साख्य और योग एक ही तत्वज्ञान के दो पक्ष है। बौद्धिक चिन्तन क्षेत्र मे जो साख्य नाम से प्रसिद्ध है, वही व्यावहारिक क्षेत्र म योग कहलाता है। योग को सेश्वर- साख्य भी कहा जाता है, क्योकि इसमे ईश्वर की सत्ता अलग से स्वीकार की गई है। योगेतर समस्त दर्शनो का यत्र-यत्र खण्डन प्राप्त होता है, परन्तु योग के आगे सभी दर्शन नतमस्तक हो जाते है। केवल दार्शनिक क्षेत्र मे ही नही, अपितु जीवन के हर क्षेत्र मे योग की महत्ता है। "नास्ति साख्य सम ज्ञान, नास्ति योगसम बलम्।" — वाली कहावत बडी प्रामाणिक और सटीक है।

वैशेषिक दर्शन

सांख्य की भांति वैशेषिक दर्शन का सम्प्रदाय भी अत्यन्त प्राचीन है यद्यपि वैशेषिक सूत्रों की रचना बाद में हुई। भगवान् बुद्ध से ८०० वर्ष पूर्व महर्षि उलूक ने इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। कणाद मुनि का ही एक नाम उलूक भी था। आत्मा एवं अनात्मा के गुणों के विवेचन हेतु ही, वैशेषिक दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। रावण, प्रशस्तपाद, भरद्वाज, व्योमशिवाचार्य, उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य, श्रीवत्स, वल्लभाचार्य पद्मनाभ मिश्र अन्नमभट्ट आदि वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों में गिने जाते हैं। जीव एवं जगत के वास्तविक स्वरूप के निर्धारण हेतु इनके गुणों की खोज बीन की प्रेरणा ही दर्शन के प्रादुर्भाव का मूलस्रोत है। विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना से कणाददर्शन को वैशेषिक की संज्ञा प्राप्त हुई।

न्याय-दर्शन

वैशेषिक दर्शन में वस्तु-स्वरूप के विवेचन की प्रवृत्ति अवश्य लक्षित होती है फिर भी उसे एक परिष्कृत पद्धति नहीं कहा जा सकता। अतः तत्वज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के अभाव की पूर्ति हेतु न्याय-दर्शन का जन्म हुआ। न्याय एवं वैशेषिक के दार्शनिक सिद्धान्तों में बहुत कुछ साम्य दृष्टि-गोचर होती है। किन्तु उसमें कुछ सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त निहित रहने पर भी न्याय का मुख्य विषय प्रमाणों का निरूपण ही है।

न्याय दर्शन वैशेषिक से अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। फिर भी तर्कविद्या उपनिषद काल में ही प्रदुर्भूत होकर विकसित हो चली थी। उस समय भी अनेक तर्क प्रधान नियमों का अन्वेषण हो चुका था। इतना ही नहीं, उपनिषद् काल से पूर्व वैदिककाल में भी तर्कोन्नति के लक्षण प्राप्त होते हैं। अतः अन्यान्य दर्शनों की भांति न्यायदर्शन भी श्रुतिमूलक है। इस विषय में कोई विवाद या विप्रतिपत्ति नहीं है।

कतिपय विद्वानों के मतानुसार प्राचीन काल में 'न्याय' शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा के लिये होता था। सम्भवतः ब्राह्मण ग्रन्थों के यथेष्ट अर्थ का निर्धारण करने के लिये पूर्वमीमांसा में जिन नियमों का निर्माण किया गया, उन्हीं में 'अनुमान' का सर्जन और प्रारम्भिक विकास हुआ। फिर तो इस अनुमान को ही न्याय शब्द से अभिहित किया जाने लगा। अब अनुमान का निरूपण विस्तृत होने लगा और वह एक अलग विज्ञान बन गया,जो आगे चलकर न्याय-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हो गया। न्यायशास्त्र ने अपना दार्शनिक रूप वैशेषिक से ग्रहण किया है, क्योंकि अनुमान के साथ ही आत्मा, सुख दुःख, मोक्ष आदि तत्वों का निरूपण उसी के आधार पर किया गया है। भौतिक पदार्थों के स्वरूप-परक न्याय-सूत्र, वैशेषिक से ही गृहीत प्रतीत होते हैं। चरक-संहिता के अनुशीलन से भी यही स्पष्ट होता है कि न्याय और वैशेषिक एक दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि कुछ वैशेषिक सूत्र भी न्याय-सूत्रों के आधार पर बने हुए कहे जाते हैं, या कम से कम समसामयिक प्रतीत होते है, किन्तु यह तथ्य भी निःसंदिग्ध है कि वैशेषिक-सूत्र न्याय-सूत्रों से प्राचीन है। इन दोनों सम्प्रदायों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। उदयनाचार्य ने अपने ग्रन्थ में दोनों सम्प्रदायों के सम्मिश्रण का सफल प्रयत्न किया है। ११वी शती के बाद तो दोनों सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के नाम से एक सामान्य दर्शन के रूप में परिणत हो गये। वोडास के अनुसार न्याय वैशेषिक का इतिहास तीन भागों में विभक्त होता है —(१) सूत्र युग, (२) टीका युग तथा (३) प्रकरण ग्रन्थों या स्वतन्त्र निबन्धों का युग। डा० सतीशचन्द्र ने भी न्याय वैशेषिक को (१) प्राचीन काल, (२) मध्यकाल तथा (३) आधुनिक काल इन तीन भागों में बाँटा है। बलूनी ने उपर्युक्त विभागों को सदोष कहकर (१) प्रारम्भिक युग (दिङ्नाग से पूर्व का) (२) संघर्ष और विकास का युग (बौद्धों से शास्त्रार्थ, फलतः सिद्धान्तों का विकास, दिङ्नाग से ११ वीं शती तक), (३) ह्रास का युग (बौद्धों के निर्वासन के साथ गणेश का युग, जिसका प्रारम्भ १२ वीं शती से होता है)।

जहाँ तक न्याय-वैशेषिक का साम्य है, दोनों का उद्देश्य जीव-मोक्ष

है। अज्ञान को दोनों ही सब दुःखों का मूल मानते हैं। दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति को दोनों ने मोक्ष कहा है और यथार्थ ज्ञान से दोनों के मत में मोक्ष की प्राप्ति होती है। जहाँ तक दोनों की विषमता का सम्बन्ध है वैशेषिक केवल दो प्रमाण मानता है 'प्रत्यक्ष और अनुमान' जब कि न्याय चार प्रमाण स्वीकार करता है 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' और 'शब्द'। वैशेषिक मत द्रव्य, गुण कर्म आदि सात पदार्थ मानता है, किन्तु न्याय प्रमाण प्रमेय, संशय, प्रयोजनादि १६ पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है संघर्ष और विकास के द्वितीय युग के उपरान्त मे ही न्याय वैशेषिक के अनेक सम्मिलित प्रकरण-ग्रन्थ लिखे गये जो वैशेषिक से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। न्याय के ऐसे प्रकरण मे तार्किक-रक्षा' के उपरान्त केशव मिश्र की तर्क-भाषा का नाम उल्लेखनीय है, जो तेरहवीं शती की रचना है। गौतम के न्याय सूत्र पर वात्स्यायन का भाष्य, उस पर उद्योतकर का वार्तिक, तब उस पर वाचस्पति की तात्पर्य टीका, न्याय के विकास का यह क्रम उपलब्ध होता है। उधर कणाद के वैशेषिक सूत्र पर प्रशस्तपाद का भाष्य, उस पर उदयनाचार्य की 'किरणावली', श्रीधराचार्य की 'कंदली' आदि व्याख्याओं ने इन दोनों दर्शनों के रहस्य को स्पष्ट किया है। दोनों दर्शनों के एक साथ समन्वय का कार्य 'तर्क-भाषा' ने बड़े सुबोध और सरल ढंग से सम्पन्न किया है। वस्तुतः उदयनाचार्य के अभीष्ट व्याख्यान को केशव मिश्र ने तर्क-भाषा में उद्धृत किया है। उदयनाचार्य का उदय १०वीं शती के लगभग हुआ था। केशव मिश्र इनके परवर्ती सिद्ध होते हैं। उधर चिन्नम्भट्ट जो विजयनगरम् के राजा हरिहर (सन् १३७७ से १४०४ ई०) के आश्रित थे, उन्होंने तर्क-भाषा पर प्रथम टीका लिखी है। अतः केशव मिश्र का समय १३वीं शती के लगभग माना जाता है।

पूर्व मीमांसा

प्रत्येक वेद के चार भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

जो क्रमश चार आश्रमों से सम्बद्ध हैं । मन्त्रभाग (संहिता है जो) ब्रह्मचर्यावस्था में कंठाग्र करने से सम्बद्ध है । ब्राह्मणों में यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड है, जो गृहस्थों के प्रयोग का विषय है। इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ अंश आरण्यकों और आरण्यक के अवशिष्ट उपनिषद् हैं। इनमें से ब्राह्मण और उपनिषद् से क्रमशः सम्बन्ध रखने वाले दो दर्शन हैं। पहला ब्राह्मणों से सम्बद्ध होने के कारण पूर्व-मीमांसा कहलाता है, जिसके सूत्रकार जैमिनि हैं। दूसरा वेद का उत्तर भाग उपनिषदों से सम्बद्ध है, अतः उत्तर-मीमांसा या वेदान्त कहलाता है, जिसके सूत्रकार बादरायण व्यास हैं। ये दोनों दर्शन अपने-अपने भाग के वेद-वाक्यों का, उनसे सम्बन्धित अनुष्ठानों का एवं संश्लिष्ट विषयों का विवेचन करते हैं। पूर्व-मीमांसा में ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों तथा यज्ञ-यागादि के विधानों का विवेचन मिलता है, तो उत्तर-मीमांसा या वेदान्त में उपनिषदों के वाक्यों का और ब्रह्मविद्या का निदर्शन और निरूपण किया गया है। यद्यपि दर्शन से मीमांसा-शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता किन्तु मीमांसा-शास्त्र के अध्ययन से पता लग जाता है कि प्राचीन काल में पूर्व-मीमांसा-साहित्य के अन्तर्गत विशुद्ध दर्शन-शास्त्र की विविध समस्याओं का मार्मिक विवेचन और अनुशीलन किया गया था।

जैसा कहा जा चुका है, जैमिनि ने पूर्व-मीमांसा-दर्शन के सूत्रों से इस शास्त्र का सूत्रपात किया। षड्दर्शनों में से जैमिनि के सूत्र प्राचीनतम माने जाते हैं, या बादरायण के ब्रह्मसूत्रों के समकालीन तो हैं ही, जिनकी रचना ईसा की तृतीय शती से पूर्व हुई। मीमांसा सूत्र पर भर्तृमित्र, भवदास आदि ने अनेक भाष्य लिखे थे, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। इस समय मीमांसा-सूत्रों पर शबर स्वामी का भाष्य ही सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ है। ईसा की आठवीं शती में, दो प्रतिभाशाली दार्शनिक उदित हुए—प्रथम, कुमारिल भट्ट और द्वितीय, प्रभाकर गुरु। भारतीय दर्शन-शास्त्र में इन दोनों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर, गुरु-शिष्य थे। दोनों ही ने दिङ्नाग-सम्प्रदाय (न्याय-वैशेषिक) पर सवेग आक्रमण और प्रबल प्रहार करके मीमांसा

के यथार्थवाद को पुष्ट करते हुए कुछ ऐसे सिद्धान्तो का उद्घाटन किया जो यथार्थवाद की दृष्टि म आज भी अपना महत्व अक्षुण्ण रक्खे हुए हैं । यद्यपि कतिपय दार्शनिक विचार शाबर-भाष्य मे भी हैं, किन्तु मीमासा के क्षेत्र म दार्शनिक सिद्धान्ता को विशिष्ट रूप से,प्रस्तुत करने का वास्तविक गौरव कुमारिल और प्रभाकर को ही है । कुमारिल के अनुयायियो मे मण्डन मिश्र, पार्थसारथि और सोमेश्वर मुख्य हैं । प्रभाकर ने मीमासा के तर्कवाद पर बृहती टीका लिखी है जिस पर प्रभाकर के मतानुयायी सालिकनाथ ने 'ऋजु-विमला' नामक टीका की रचना की । यही यज्ञ एव कर्मकाण्ड से सम्बद्ध मीमासाशास्त्र की परम्परा का सक्षिप्त इतिहास है ।

उत्तर मीमासा या वेदान्त

उपनिषदो क तत्वज्ञान म सम्बद्ध वेदान्त के अनुसार परिवतनशील जगत के विविध रूप निरन्तर बदलत रहते है, उन सबका आधार रूप ब्रह्म ही एक मात्र यथार्थ तत्व है जो अखण्ड अद्वैत और एक-रस है । (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर) सक्षप म यही उपनिषदो का सिद्धान्त है जिसका सविस्तर प्रतिपादन बादरायण न ब्रह्मसूत्र या वदान्त सूत्र म किया है ।वेदान्त क पाँच सम्प्रदाय माने जाते है । बात यह है कि उपनिषदो के प्रतिपाद्य त व क स्वरूप के विषय म विद्वानो म मत-वैपरीत्य है । इसीलिए पाँच वादो का उदय हुआ—(१) शकर का अद्वैतवाद, (२) रामानुज का विशिष्टाद्वैत वाद (३) निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, (४)माध्व का द्वैतवाद और (५)वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद । इन सम्प्रदायो म शकर का अद्वैतवाद सवप्रधान है, जो सामान्यत वदान्त क नाम स अभिहित होता है । शकर का अद्वैतवाद बौद्धो क शून्यवाद एव विज्ञानवाद स प्रभावित है । उसके आधार पर ही शकर ने जगत को असत या भ्रममूलक प्रमाणित किया है । इसी स शकर का मायावाद प्रच्छन्न बौद्ध दशन कहा जाता है । वस्तुत प्रत्यक भारतीय दशन का मर्म उसके कारणवाद म निहित है । सांख्य और वदान्त दोनो सत्कार्यवादी है ।

अन्तर इतना है कि सांख्य का सत्कार्यवाद परिणामवाद या विकारवाद कहलाता है जब कि वह वेदान्त में आकर विवर्तवाद का रूप धारण कर लेता है। विकारवाद और विवर्तवाद का अन्तर स्पष्ट करने के लिए निम्न कारिका पठनीय है—

सतत्वतोऽन्यथाप्रथा विकारइत्युदीरितः।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृत.॥

वस्तुतः वेदान्त मे ब्रह्ममात्र सत्य है, जिस पर भ्रम से समस्त ससार का आरोप किया गया है। सत्य तो ब्रह्म ही है जिसमे जगत् का भ्रामात्मक ज्ञान होता है। शंकर के उपरान्त भी वेदान्त इसी सिद्धांत को पुष्ट करते हुए ब्रह्म को मोक्ष का स्वरूप मानता है।

अद्वैत सम्प्रदाय का साहित्य विशाल है। शकर के पूर्व भी माण्डूक्य उपनिषद पर गौडपाद की कारिका इस सम्प्रदाय का अमूल्य रत्न है। इसके उपरान्त शंकर ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखे। शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर अनेक टीकायें लिखी गई। शकरोत्तर काल मे वेदान्त के स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे—(१) श्री हर्ष का 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' (२) चित्सुख की 'चित्सुखी' एव (३) मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि ये तीन ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। यो तो वेदान्त के अनेक ग्रन्थ है, जो इस सम्प्रदाय का महत्व प्रतिपादित करते है।

अध्याय ६

संस्कृति धर्म और नैतिकता

अध्यात्मिक बल

भारत के दार्शनिकों ने मानव-जीवन के आध्यात्मिक और लौकिक या निवृत्ति और प्रवृत्ति दो मार्ग स्थिर किये है। आत्मा और परमात्मा की भिन्नता या अभिन्नता वाली अध्यात्म-भावना भारतीय संस्कृति की रग-रग मे व्याप्त है। यहाँ पग पग पर मंगलाचरण होते चलते है।

आध्यात्मिक शक्ति प्रधानत ऋषियो तथा ब्राह्मणो मे केन्द्रित रहती थी, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रयोग राष्ट्र तथा राज्य के हित मे अनिवार्यत होता था। शस्त्रास्त्रो के प्रयोग मे भी तन्त्र मन्त्रो का प्रयोग होता था। आग्नेयास्त्र तथा वरुणास्त्र के प्रयोग इस बात के प्रमाण हैं कि युद्ध आदि के अवसरो पर दैवी-शक्तियो का प्रयोग किया जाता था। रघुवंश के प्रथम सर्ग म ही नि.सन्तान दिलीप व्याकुल होकर रानी सहित वशिष्ठ के आश्रम मे जाते है और वहाँ गुरु के बताये हुए साधन से नन्दिनी की सेवा करने पर उन्हें रघु सा तेजस्वी पुत्र प्राप्त होता है। रघु के राज्यारोहण के समय भी वशिष्ठ द्वारा मन्त्र पढ़कर अभिसिंचन कर देने से उनके रथ मे आकाश, पाताल एवं पृथ्वी पर अबाधगति स जाने की शक्ति आ जाती है।

स्वस्त्ययन—प्रिय-जनों के प्रस्थान करते समय स्वजनवृन्द मंगलमय स्वस्त्ययन किया करते थे। इससे यात्रोत्सुक लोग प्रोत्साहन का अनुभव करते थे। रामायण तथा महाभारत मे युद्ध के हेतु प्रयाण करने वाले महारथियो के लिए बड़े महोत्सवपूर्ण ढग मे स्वस्त्ययन वाचन होता था। वैदिक-विधानो की दिव्य प्रक्रियाओ से अलौकिक होते हुए भी य स्वस्त्ययन, प्रचलन की परम्परा म

लौकिक सिद्ध हो चुके थे। यात्रियो का निवास-स्थान मगलमय वातावरण से उत्तरंगित हो उठता था। स्नानोपरान्त कौतुक नाम का मगलसूत्र मणिबन्ध मे बाँध कर गुरुजनो की अमोघ आशीर्वादात्मक ध्वनियो से अधिकाधिक उत्साहित होकर लोग कार्य-सिद्धि हेतु प्रस्थान करते थे। यात्री मे उल्लास की भावना भरने के लिए वैदिक ब्राह्मण विधिपूर्वक वेद की ऋचाओ का सस्वर पाठ करते थे। खीलें, पुष्पमालाएँ तथा कुमारियाँ आदि सभी शकुन-सूचक पदार्थ उन्हें दिखाए जाते थे, जिससे युद्ध-भूमि मे कोई भी अपशकुन उनके चित्त को निरुत्साहित न कर सके। मगलमय वाद्य निनादित करके कल्याणकारी ध्वनि मे वीरतापरक गाथाएँ गाई जाती थी। योद्धा निकट-सम्बन्धी सत्पात्रो को दान देते थे, और वीर लोग गुरुजनो का अभिवादन करके अपने गन्तव्य स्थान को जाते थे। गुरुजनो के आशीर्वाद, पण्डितो के प्रोत्साहन तथा स्वजनो की शुभ-कामनाएँ साथ जाती थी। रामायण और महाभारतकाल मे इस प्रथा का पूर्ण प्रचार था।

राज्याभिषेक—भारतीय नृपो मे राज्याभिषेक की प्रथा सामाजिक एव धार्मिक दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। इस अवसर पर राजा तथा प्रजा के मधुर सम्बन्ध के स्पष्ट दर्शन होते हैं। राज्याभिषेक के धार्मिक अनुष्ठान के उपरान्त ही राजा प्रजा पर शासन और सेना पर नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त कर लेता है। अभिषेक के पूर्व राज्याभिषेकार्थी को उपवास अवश्य रखना पडता है। वस्त्रो का स्पर्श किये बिना मृगचर्म पहन कर, हाथ मे हरिण का शृंग लेकर वह सयम और नियमपूर्वक तीन दिन धारता है। उपवासकर्म त्याग और तपस्या का प्रतीक है, साथ ही स्वास्थ्यप्रद भी है। वस्तुत. सिहासनारोहण जीवन की एक नई दिशा की ओर प्रस्थान है अत: इसमे स्वस्त्ययन के सभी नियम पूर्ण किये जाते है। शकुनरूप से मगलमय पदार्थ ही उसे प्रोत्साहित करने की कल्याण-कामना से सम्मुख लाय जाते हैं। मुख्यत: चावल, दूर्वा, दधि, मधु, श्वेत वस्त्र और श्वेत माल्य, सब प्रकार के बीज, भैषज्य, कन्याएँ और पशु उसके सामने उपस्थित किये जाते है। ये सब उसके आधिपत्य और सर्वतोन्मुख उत्तरदायित्व का भाव जागृत करने के लिए ही सकलित किये जाते

है। नृप को नाव की चौकी या उदम्बर (गूलर) की लकड़ी पर बैठा कर अमात्य लोग स्वयं सब तीर्थों से लाए हुए जल से अभिषेक (स्नान) कराते हैं। अमात्य प्रजा के प्रतिनिधि है, अतः उनके द्वारा स्नान, प्रजा के द्वारा स्नान है। सब तीर्थों के जल में समूचे राष्ट्र की पुनीत भावना रहने से संस्कार की विधि में गम्भीरता आ जाती है। वस्तुतः तीर्थ-जल बाह्य और आभ्यन्तर दोनों को स्वच्छ करता है। इस पुनीत अभिषेक के समय भी राजधर्म की कठोरता के प्रतीक रूप धनुष और तलवार राजा के समीप रखे जाते हैं। शस्त्र की अवहेलना से शास्त्र की रक्षा कठिन है अतः विजय की स्मृति सदा बनी रहनी चाहिए। अभिषेक (स्नान) के बाद शुभ्रवस्त्र और मुकुट धारण करके राजा सिंहासन पर बैठता है। इस समय राजा के छोटे भाई ही अनुचरों की भाँति उसकी सेवा करते हैं। छत्र और चँवर भी छोटे भाई ही ग्रहण करते हैं। तब श्रेणीमुख्य, गणमुख्य, सभासद, पौर तथा जानपद जनों की उपस्थिति में, वेद-मन्त्रों की मनमनय ध्वनि के साथ ब्राह्मण लोग राजा के मस्तक पर तिलक करते हैं। यह तिलक ही अमात्यों से लेकर सभी प्रजाजन के समर्थन की मुहर समझी जाती है। अभिषेक के आधार पर इस महोत्सव को राज्याभिषेक तथा तिलक के आधार पर राजतिलक भी कहते हैं। इसमें विविध दान, ब्रह्मभोज और बृहद् यज्ञ विधि का विधान है।

अर्घदान—सन्ध्योपासन के समय सूर्य को और पूजन के समय देवी-देवताओं को अर्घ देने के अतिरिक्त किसी सम्मानित अतिथि के आने के अवसर पर अर्घदान की परम्परा शिष्टाचार के रूप में वैदिक काल से ही चली आ रही है। गृहपति घर के द्वार पर शुचिवेश धारण करके सावधान मुद्रा में खड़े होकर, अपने सम्मानित अतिथि की ओर किसी पात्र से पृथ्वी पर जल छोड़ता है। महाभारत के अनुसार सौ गउओं का स्वामी भी, जो अग्निहोत्र न करता हो, सहस्र गउओं का स्वामी होते हुए भी, जो अयज्वा (यज्ञ न करनेवाला) हो तथा जो समृद्ध होकर भी तुच्छ हो, उसे अर्घ नहीं देना चाहिए। इससे अर्घ के महत्व की सूचना मिलती है।

भेंट-पूजा—ऋषिकल्प एवं गौरवशाली व्यक्तियों के दर्शन को जाते समय भारतीय आचार्यों ने भेंट लेकर मिलने का आदेश दिया है। महान् व्यक्तियों

के पास रिक्तपाणि जाने का निषेध है। राजा, ब्राह्मण और सती-साध्वी स्त्रियों के यहाँ जाते समय, दर्शनावसर पर,जो भेंट देना नहीं भूलता,उसे धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। रामायण मे सुग्रीव के दर्शन के लिए आने वाले वानर प्रजाजन, अनेक फलों के उपहार लाते हैं। महाभारत मे राजसूयादि यज्ञों के अवसर पर लोग राजाओं के लिए बहुमूल्य भेंटें प्रस्तुत करते रहे हैं।

प्रदक्षिणा—विदा लेते समय देव-स्थानों और पूज्य गुरुजनों की परिक्रमा करने का उल्लेख रामायण और महाभारत में स्थल स्थल पर मिलता है। यह प्रदक्षिणा दाहिनी ओर से की जाती है।

उपर्युक्त सभी सांस्कृतिक विधान धर्म की क्रियात्मकता के प्रतीक है। जहाँ तक नीति का सम्बन्ध है, वह व्यक्तिगत या वंशगत विशेषता होती है। धर्म की सी व्यापकता तथा सार्वभौमिकता नैतिकता को भले ही न मिले, किन्तु उससे वैयक्तिक निष्ठा की ऊँचाई का पता लग जाता है।

नैतिकबल

लौकिक आचरण में नैतिक नियमों का निर्वाह भारतीय सभ्यता का विशेष गुण है। व्यष्टि-रूप मे व्यक्ति के लिए जो नैतिकता होती है वही समष्टि-रूप में समाज के लिए धार्मिकता बन जाती है। नीति में सत् और असत् की पहचान आवश्यक होती है।

नीतिज्ञों ने रघु को सत् और असत् धर्मयुद्ध तथा कूटयुद्ध दोनों ही के मार्ग सुझा दिये थे, किन्तु उसने धर्मयुद्ध का ही मार्ग ग्रहण किया था। इस प्रकार आदर्शों को ग्रहण करके उन्हें अन्त तक निभाना आदर्श नृपतियों मे ही दिखाई देता है। साधारणत. राजाओं को तथा साधारण समाज को भी भलाई और बुराई के मध्य का मार्ग ही अपनाना पड़ता है। रघुवंश के आदर्श नृपतियों मे भी कालिदास ने रजोगुणी प्रवृत्तियों का समावेश दिखाया है। राजाओं के ऐसे निर्मल चरित्र और उज्ज्वल चित्र अंकित करना कालिदास जैसे भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि गायक का ही काम था। व्यक्तिगत जीवन,

तथा राजनीति दोनों ही में उनके चरित्रनायक आदर्श सिद्ध होते हैं, फिर भी उनमें सच्चे जीवन की व्यावहारिकता, पूर्ण विकसित रूप में, दिखाई देती है। ये गुण ऐसे सार्वभौम हैं कि पृथ्वी के किसी भी शासक का गौरव बढ़ा सकते हैं। उदात्त शासकों में रहने वाले ये गुण प्राय. दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो उनके मनुष्य रूप पर प्रकाश डालते है और दूसरे वे, जो उनके शासक रूप को उद्भासित करते है। कालिदास ने दोनों ही प्रकार के गुणों का समुचित वर्णन किया है।

भारवि तथा माघ ने भी अपने काव्यों में महाभारत के आश्रय से, ऐसे शासकों का वर्णन किया है, जिनमे दोनों प्रकार के गुण विद्यमान हैं, फिर भी उनके वर्णनो मे शासको के मानव-रूप की अपेक्षा उन गुणो का अधिक उल्लेख मिलता है, जो उन्हें शक्ति-सम्पन्न करते तथा गौरवपूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। विजय-प्राप्ति तथा ऐश्वर्योपलब्धि के लिए नैतिक आदर्शों का पालन भी आवश्यक प्रतीत होता है। किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर द्वारा नियुक्त वनेचर नाम का गुप्तचर दुर्योधन के राज्य की व्यवस्था का निरीक्षण करके वहाँ का समाचार प्रस्तुत करते हुए कहता है कि अब राजा राज्य को नीति के दृढ़ आधार पर स्थिर करने को यत्नशील है। स्वभाव से तो दुर्योधन कुटिल है, किन्तु वह ससार की दृष्टि मे स्वय को युधिष्ठिर से अधिक गुण-सम्पन्न सिद्ध कर देना चाहता है। उसने काम, क्रोध मद, लोभ आदि छहों दोषो को जीत लिया है। उसके गुणों के महत्व का चारो ओर यश फैल रहा है। उसका लक्ष्य है कि सदाचार पर आश्रित, मनु द्वारा प्रतिपादित प्रजापालन की पद्धति को अपने शासन-विधान में अपना ले। वह अपने समय का ठीक विभाजन करके आलस्यहीन होकर पुरुषार्थ करने में रत है वह गर्व त्याग कर सेवकों से ऐसा मृदु व्यवहार करता है मानो स्नेही सुहृद् हो। मित्रों से सगे सम्बन्धियों का सा भाव प्रदर्शित करता है और सम्बन्धियों की तो ऐसी आवभगत है जैसे वे ही राज्य के सच्चे स्वामी हों। गुणों का अनुराग ही उसके आदर या सत्कार-प्रदर्शन का आधार होता है। अपराधी शत्रु हो अथवा मित्र, वह उसे न्याय-विहित दण्ड ही देता है। वह कुपित होकर या लोभवश दण्ड

नहीं देता है बस न दृनु ही अपराधी का दण्डित करता है। मनस्वी और तेजस्वी धनुधर युद्ध मे कीर्ति व मान वाल सदा उसमे पुरस्कृत होते हैं। सवका का प्रभूत धन देकर भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता रहता है। सवक-वृन्द भी नि स्वाथ भाव से उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। सतर्नरिश्र गुप्तचर अन्य राजाओ के भावा तथा कार्यों को जानकर उस बता देत है। उसकी चेष्टाआ का ज्ञान उनम प्राप्त होने वाल फल से ही होता हैं। वह क्रोध से कभी अपना मुख कुटिल नहीं बनाता है। उसके गुणो पर अनुरक्त होकर ही अन्य नृपति उसकी आज्ञा को माला की भाँति शीश पर धारण करत है।

इस प्रकार वह स्वभावत धार्मिक वृत्ति का शासक न होते हुए भी प्रद-र्शनार्थ ही नैतिक आदर्शों का पालन करता हुआ दिखाई देता है। विजय-श्री प्राप्त करने क लोभ का संवरण वह नही कर सकता। भारवि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अधार्मिक वृत्ति का होते हुए भी दुर्योधन धार्मिकता का अभिनय करने म सफलता प्राप्त कर लेता है।

युधिष्ठिरादि पाण्डव धार्मिक वृत्ति के होते हुए भी टिक कर शासन नहीं कर पाते। कुपित भीम की उत्साहवर्धक प्रतिज्ञाएँ तथा नीतिपरायणा द्रौपदी की भर्त्सना भरी व्यंजनाएँ भी शान्तमना युधिष्ठिर को शीघ्र युद्ध के लिए सन्नद्ध करने में पहले सफल नहीं हो पाती हैं। नैतिक आदर्शों की दृष्टि से युधिष्ठिर, स्वच्छ आचरण के बल पर धर्मपुत्र कहलाते हैं।

संक्षेप म दुर्योधन अनैतिक होते हुए भी नैतिक आचरण का प्रदर्शन करता है इसी से उसके पक्ष को पराभूत करने हेतु श्रीकृष्ण, युधिष्ठर अर्जुन और भीम के द्वारा नैतिक लक्ष्य की सिद्ध करने के लिए द्रोण, कर्ण तथा दुर्योधन तक का वध अनैतिक आचरण के द्वारा करा देते हैं। दुर्योधन मे साध्य का अनौचित्य है जो उसके साधन के औचित्य को भी समाप्त कर देता है। दूसरी ओर पाण्डवों मे साध्य का औचित्य है, जो साधन के अनिवार्य अनौचित्य का निर्वाह कर लेता है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो राजनीतिज्ञ को बिना किसी की निन्दा या साधुवाद की चिन्ता किए हुए उसे सिद्ध करने को कटिबद्ध हो जाना चाहिए। यह है महाभारत काल की नीति, जो भारवि के काव्य मे भी लक्षित

होती है। अनैतिक सत्वों को समाप्त करने के लिए सर्वथा नैतिक आचरण, उस समय उपयुक्त न समझा जाता था। यों तो राम के आचरण में भी ताड़का, दूषण और बालि का बध करने से 'अनैतिकता का आरोप किया जाता है, किन्तु यहाँ नैतिकता की इतनी प्रधानता है कि इनीगिनी घटनाओं के कारण अनैतिक साधनों का प्रयोग रामायणकालीन मान्यताओं मे नहीं गिना जा सकता।

किरातार्जुनीय में राजनीतिक याथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय किया गया है, जब कि, शिशुपाल बध मे सामाजिक तथा वैयक्तिक कल्याण का ऐश्वर्य तथा शक्ति से वैसा घनिष्ठ सम्बन्ध नही दिखाई देता। कृष्ण के सम्मुख यह समस्या थी कि निरंतर अधिक सशक्त तथा उद्दण्ड होते हुए शिशुपाल का निग्रह पहले किया जाय या पहले युधिष्ठिर के यज्ञ मे भाग लिया जाय। बलराम का मत था कि पहले शत्रु को समाप्त किया जाय, जब कि उद्धव का सुझाव था कि प्रतीक्षा करते हुये युधिष्ठिर का यज्ञ सम्पन्न होने दिया जाय। दोनों ही *आत्महित की राजनीति का आश्रय लेने के पक्ष में हैं। बलराम की* नीति के केवल दो मुख्य तत्व हैं—अपना उदय और शत्रु की हानि। कृष्ण और शिशुपाल का वैर बद्धमूल हो चुका है, अतः कृष्ण को तत्काल शिशुपाल पर आक्रमण कर देना चाहिए। उद्धव की दृष्टि भी पूर्णतः यथार्थवादी है, किन्तु उनका कथन है कि शासक की उन्नति प्रज्ञा और उत्साह दोनो पर अवलम्बित रहनी चाहिए। बुद्धिमान राजा न केवल तेज पर निर्भर रहता है और न केवल पुरुषार्थ पर। दोनों का समन्वय ही उसके लिए श्रेयस्कर है। शिशुपाल से युद्ध छेड़ कर, युधिष्ठिर के यज्ञ के समय दोनों पक्षों के राजाओं को आन्दोलित करना ठीक नहीं। इसमें आदर्शवाद का कोई पुट नहीं है। कालिदास से भारवि में और भारवि की अपेक्षा माघ मे नैतिक आचरण अधिकाधिक यथार्थवादी प्रतीत होता है। संस्कृतकाव्यों मे यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती दिखायी देती है।

अध्याय ७

संस्कृति और कलायें एवं साहित्य

स्थापत्य और वास्तु कला

चित्रकला के समान ही प्राचीन भारत मे स्थापत्य, वास्तु और मूर्तिकला भी बडी उन्नत अवस्था म थी। बौद्ध और गुप्तकाल मे ये अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त थी। इन सभी कलाओ पर चित्रकला क समान ही धर्म का भारी प्रभाव था। यह कहना अनुचित न होगा कि कलाओ का उपयोग धर्म के तत्वों को समझाने के लिए विशेष रूप स किया जाता था।

जैसा कि पुस्तक म पीछे उल्लेख किया जा चुका है भारतीय वास्तुकला का इतिहास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद म पुर और व्रज आदि का उल्लेख है जिनसे तत्कालीन किलों का बोध होता है। ऋग्वेद में घरो का भी उल्लेख है। कई मत्रो मे गृहदेवताओ की भी स्तुति की गई है। कितने ही स्थलों पर गृह, सद्म, प्रसद्म, दीर्घ-प्रसद्म आदि का उल्लेख है जिनसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल म छोटे-बडे सभी प्रकार के मकान बनाये जाते थे। मोहनजोदडो, हडप्पा और लोथल की खुदाई म जो प्राचीन अवशेष मिले है उनम भी उस युग के इस कला के विकास के प्रमाण मिलते है। बड़े-बड़े कमरे, स्नानागार, जल-निष्कासन और सिंचाई की व्यवस्था आदि क जो भग्ना-वशेष मिले है वे उन्नत वास्तुकला क गौरवमय चिह्न हैं।

कलाओ की भांति स्थापत्य का आरम्भ और इतिकर्मता धर्म पर निभर थी। वैदिक यज्ञो के लिए आवश्यक यज्ञ-वेदियो और यज्ञ शालाओ के निर्माण के साथ स्थापत्य का मूल आरम्भ हुआ जैसा तैत्तिरीय सहिता मे लिखा है। वेदियो का निर्माण विभिन्न आकृतियो म किया जाता था जैसे श्येनचिति रथचिति अथवा पुरुषचिति और इनसे नाना आकृतियो के निर्माण क लिए भी सुयोग मिले।

मलाबार के कैननोर नामक स्थान मे एक अध गोलाकार पहाडी गुफा के बीच मे एक चिमनी जैसा घमाला बना है उसे ही वैदिक वेदिका का रूप समझा गया है। मालाबार म तेलिलचरी क समीप पहाड काटकर बनाई गई कुछ समाधियो को वैदिकक लीन समझा जाता है। लोरियान दगढ (बिहार) मे वैदिककालीन शवनिखात टीले पाये गये है जिनमे एक सोने के पत्र पर वैदिक श्मशान सूत्र म वर्णित पृथिवी दवी की मूर्ति मिली है। इसी के बाद राजगृह की प्राचीन राजधानी म मिली हुई लम्बी आकार भी उल्लेखनीय है जो पत्थर के स्थूल सस्कार हीन महाकाय ढोको से बनी है और उस युग के पाषाण निर्मित स्थापत्य का विरल उदाहरण है। यह पाषाण चिति बिम्बसार (लगभग ६०३-६५१ ई० पू०) के समय की थी जिसने गिरिव्रज के पवत वष्ठित पुर की नीव डाली। पीछे उसने अपनी राजधानी बदलकर राजगृह मे कर ली। उसके महा स्थपति एव नगरमापन विशेषज्ञ का नाम महागोविन्द मिलता है। उसके पुत्र अजातशत्रु (लगभग ५५१ ४१० ई० पू) ने जो जीवन के उत्तर भाग म बौद्ध हो गया था राजगृह की पहाडी पर सप्तपर्णि गुफा के द्वार पर एक मण्डप बनवाया था जिसम द्वितीय बौद्ध सगीत की सभा हुई और भिक्षुओं के लिए सब सुविधाएँ प्रस्तुत की गईं।

इस युग मे प्राप्त दूसरे प्रकार के अवशेष स्तूप है जिसका शब्दार्थ थूहा या टीला है। महात्मा पुरुषो की शरीर धातुओ पर एक थूहा बना दिया जाता था जिसे चत्य (चिता सबधी) कहते थ। आगे चलकर चत्य शब्द का अथ और विस्तृत हो गया और यह न केवल स्तूप का वाचक रहा बल्कि मन्दिर या शरीरावशेष के लिए निर्मित किसी प्रकार क वस्तु या थूह या मण्डप के लिए प्रयुक्त होने लगा। *

पिपराहा स्तूप—उत्तर प्रदेश म बस्ती जिले का पिपराहा स्तूप भारत की वास्तु निर्माण कला का प्राचीनतम नमूना है। यह गर्भ चैत्य है। गौतम बुद्ध के निर्वाण क पश्चात उनकी राख उनके शिष्यो म बाँ दी गई थी। इस छोटे-छोटे पात्रो म रखकर जमीन म गाड दिया गया था। और इस स्थान पर एक स्मा

* राधा कुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता पृष्ट—३०३।

कर भी बना दिया गया था इन राख के स्मारको का गर्भ चैत्य कहते है। बाद मे उनके जीवन की घटनाओ से सम्बन्धित स्थलो पर भी स्मारक खड़े किये गये थे। इनको मूल चैत्य कहते हैं।

पिपराहा का स्तूप ईंट का बना था और उसके भीतर की पटी पर यह लेख उत्कीर्ण था—"भगवान् बुद्ध की शरीर धातुओं का यह पवित्र स्मारक (सुकिति) शाक्यो ने, उनके भ्राताओ ने, अपनी भगिनी और पुत्र-दाराओ के साथ मिलकर बनवाया।" जब इसकी खुदाई हुई थी तब यह पक्की ईंटो का चुना हुआ ठोस अण्डाकृति गोल था, जो भूमिगत व्यास मे ११६ फुट और ऊँचाई मे २२ फुट था। इसके भीतर पत्थर की एक बडी पेटी थी जिसके भीतर कई छोटी बडी मजूषा और डिबियो मे बुद्ध की धातुएँ रखी हुई थी। गारे की जुड़ाई से चुनी हुई इसकी ईंटें १६—१×१३ इंच थी। "इस स्तूप की इष्टिका चिति अपने ढग की अनूठी है जिसकी जुडाई बढिया और अच्छी है। पत्थर की बडी पेटी उससे अच्छी नहीं बन सकती थी। सोने, चाँदी, प्रवाल, स्फटिक और रत्नो के आभूषण और पुष्पो से विदित होता है कि रत्नवैकटिक एवं स्वर्णकार की कला ऊँचे दर्जे पर पहुँच गई थी।" (वी० ए० स्मिथ, इम्पीरियल गजेटियर २/१०२–३)।*

साँची स्तूप—बौद्ध और मौर्यकाल के अन्य प्राचीन स्तूप भी वर्तमान है। इनमें भारहुत स्तूप एव साँची स्तूप मुख्य हैं। साँची (मध्य प्रदेश) का स्तूप विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। भूपाल के समीप स्थित इस स्तूप का व्यास आधार के समीप १०० फीट है। इसकी पूरी ऊँचाई ७७ फीट है। यह लाल रग के पत्थर का बना है। इसके चारो ओर ऊँची मेधि है। यह प्राचीन समय मे प्रदक्षिणा-पथ का काम देती थी। स्तूप के दक्षिणी भाग मे एक दोहरा सोपान मार्ग है। यह चार चतुर्कोणो मे विभक्त है, जिन्हे चार सुन्दर द्वार एक दूसरे से अलग करते है। चारो द्वारो पर नाना प्रकार की मूर्तियाँ और चित्र उत्कीर्ण हैं। यहाँ बौद्धधर्म की अनेक गाथाओ को भी लक्ष्य किया गया है। यह भारतीय स्थापत्य एव मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस स्तूप से प्राचीन भारतीय वास्तु एव स्थापत्य कला पर विशेष प्रभाव पडा है।

*राधा कुमुद मुकर्जी—'हिन्दू सभ्यता'—३०३।

सांची के स्तूप की पत्थर की चहारदीवारी व उसमे बन हुए तोरणो पर उत्कीर्ण चित्रों की उत्कृष्ठ कला से उस समय के शिल्पियो के कौशल का पता लगता है। अन्य स्तूपा की अपेक्षा सांची की कला विशेष रूप म उन्नत है और अपन चरम उत्कर्ष को पहुँची प्रतीत होती है। इन तोरणो पर बौद्ध देव लोक, सम्राट् बिम्बसार का भगवान् बुद्ध के दर्शनो के लिए राज-दरबारियों के साथ राजगृह मे निकलना, निरजना नदी मे बुद्ध को डूबने से बचाने के लिए शिष्यो सहित काश्यप का शीघ्रता म नाव मे बैठाकर जाना, बुद्ध का पानी के ऊपर चलकर आना प्रभृति दृश्य बडी कुशलतापूर्वक उत्कीर्ण किये गय हैं।

भारहुत का स्तूप—भारहुत का स्तूप ईसा पूव दूसरी शताब्दि का बना हुआ है। इसकी चहारदीवारी व तोरणो पर गौतम बुद्ध के जीवन की घटनाएँ तथा जातको की कथाएँ चित्ररूप म काटकर बनाई गई हैं। एक स्थान पर नाग जातक का वर्णन चित्रित है तथा दूसरे स्थान पर बुद्ध की माता माया देवी का स्वप्न उत्कीर्ण किया गया है। एक और स्थान पर श्रावस्ती के जेतवन का चित्र है जिसमे भूमि, वृक्ष व विभिन्न स्थल तथा अनाथपिण्डक का सिक्को से भरी बैलगाडी खाली करना दिखलाया गया है। इसी प्रकार अजातशत्रु व प्रसन्नजित का एक बडे जुलूस मे बुद्ध से मिलना अकित है। ऐसा ही दृश्य बौद्ध गया के मन्दिर की चहारदीवारी के स्तम्भो पर उत्कीर्ण है।

अशोक-स्तम्भ—इन स्तूपो के अतिरिक्त भी उस काल की स्थापत्य कला की उत्कृष्टता बतलाने वाल और अच्छे-अच्छे नमूने आज भी विद्यमान हैं। सम्राट् अशोक के द्वारा निर्मित स्तम्भ आज भी कई स्थानो मे सुरक्षित हैं। इन स्तम्भों व इनके ऊपर के लेख म तत्कालीन शिल्प की श्रेष्ठता का स्वत ही अनुमान किया जा सकता है। ये स्तम्भ वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। ये रेतीले पत्थर के बन हुए हैं तथा साधारणतया ५० फुट ऊँचे और ५० टन वजन के हैं। इन पर इतना अच्छा लेप लगा हुआ है कि उसके कारण वे फौलाद के से बन मालूम होते हैं। आज भी वह लेप ताजा ही मालूम होता है। कदाचित यही लप वराहमिहिरकृत बृहत् सहिता मे उल्लिखित हजार वर्ष तक टिकनेवाला वज्रलप है।

सारनाथ (बनारस) में जो अशोक-स्तम्भ है, उसके ऊपरी सिरे पर एक ही ओर पीठ किये हुए चार सिंहों की मूर्तियाँ है। ये मूर्तियाँ अब सारनाथ के संग्रहालय में रखी गई हैं और इन्हीं के चित्र को स्वतन्त्र भारत ने अपनी राजमुद्रा के लिए स्वीकार किया है। ये मूर्तियाँ इतनी अच्छी व सजीवतापूर्ण है कि देखने में मालूम होता है कि साक्षात सिंह ही बैठे हों। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० विन्सेंट स्मिथ का तो कहना है कि इतनी अच्छी मूर्ति बनाने का शिल्प भारत के अतिरिक्त कहीं नहीं दिखाई देता।

मूर्तिकला

इस काल की और भी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ उपलब्ध है। भारत में मूर्तियों के निर्माण का इतिहास भी कुछ कम पुराना नहीं है। मोहनजोदड़ो व हड़प्पा से यक्ष, पृथ्वी, पशुपति आदि की छोटी-छोटी मूर्तियाँ मिट्टी की बनी अन्य वस्तुओं के साथ प्राप्त हुई थी। बेसनगर (मध्य प्रदेश) में स्त्री की दो बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ मिली है, जो बड़ी आकर्षक और सजीव सी हैं। महाकाय यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियाँ भी बौद्ध और मौर्य काल की हैं। मथुरा के निकट परखम से प्राप्त होने वाली यक्ष की मूर्ति व सारनाथ में प्राप्त होने वाली बोधिसत्व की मूर्ति, यूनानियों के द्वारा परिष्कृत किये जाने के पूर्व की मथुरा-कला के नमूने है।

भारतीय मूर्तिकला के तीन विभिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं—गांधार कला, मथुरा-कला व अमरावती-कला। सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारतीय कलाविद् एवं शिल्पी यूनानी कलाविदों के सम्पर्क में आये। यूनानी कला से प्रभावित पश्चिमोत्तर भारत में जो कला विकसित हुई वह गांधार कला कहलाती है। उन दिनों बौद्धधर्म भारत के अन्य भागों ही के समान पश्चिमोत्तर भारत में भी खूब प्रचलित था। फलस्वरूप इस क्षेत्र में भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ बहुतायत में बनाई गईं। ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। इन पर पत्थर में कपड़े के जो मोड़ बनाये गये हैं, वे बड़े आकर्षक और स्वाभाविक हैं। भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं तथा जातक कथाओं के आधार पर अनेक मूर्तियाँ बनाई गईं।

है। रचनाशैली के अतिरिक्त इन पर उत्कीर्ण लेखों के आधार पर इन मूर्तियों को यक्ष और यक्षी की मूर्तियाँ कहकर स्वीकार किया गया है। इन मूर्तियों को भारतीय मूर्ति-कला की जनसाधारण की कला या लोक-कला के रूप में माना गया है। इन यक्ष-मूर्तियों को कलात्मक सुन्दरता के विषय में श्री आनन्दकुमार स्वामी का मत है कि 'ये आश्चर्यजनक शारीरिक बल की प्रतीक हैं, जिसका प्रभाव इनकी शिल्पगत अपरिष्कृतता में कुण्ठित नहीं होता। इनके भीतर का अतिशय भौतिक बल मूर्ति के महाकाय भौतिक परिमाण में प्रकट दिखाई देता है।' इन प्राचीन काल की मथुरा-कला की यक्ष मूर्तियों का प्रभाव भारहुत और साँची की कितनी ही छोटे देवी-देवताओं की मूर्तियों में स्पष्ट है और श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार उसके फूल-पत्तियों के तथा अन्य अलंकरण भी बाद की कला की सजावट में सुरक्षित हैं।

भारतीय मूर्तिकला और मूर्तिपूजा का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बड़ी-बड़ी मूर्तियों के होने के सबसे प्राचीन लिखित प्रमाण कौटिलीय अर्थशास्त्र में मिलते हैं। गांधार में मिली हुई बुद्ध की भिन्न-भिन्न आकार की मूर्तियाँ तथा मथुरा में प्राप्त होने वाली जैन मूर्तियाँ और सम्राट-कनिष्क आदि की मूर्तियाँ ये सब ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व मानी गई हैं। इनसे भी सौ दो सौ वर्ष पूर्व हिन्दुओं के मन्दिरों के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। विदिशा (बेसनगर) तथा चित्तौड़ के पास मिले शिला लेखों से भागवत सम्प्रदाय के विष्णु-मन्दिरों के ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में भी होना सिद्ध हुआ है। बेसनगर के विशाल स्तम्भ के शिलालेख से ज्ञात है कि "राजा ऐंटियालकिडस के समय तक्षशिला (पंजाब) नगर के रहनेवाले दिय (डिआन) के पुत्र हेलियोदौर ने जो भागवत बनवाया (वैष्णव) था, देवताओं के देवता वासुदेव (विष्णु) का यह 'गरुड़ ध्वज' बनवाया गया'* इसी प्रकार चित्तौड़ के पास मिले शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि अश्वमेध यज्ञ करनेवाले पाराशरी पुत्र सर्वतात ने नारायण-वट नामक स्थान पर भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए

*ओझा—मध्यकालीन संस्कृति—१४३

शिला-प्राकार बनवाया । मूर्तिपूजा के ये दोनो उदाहरण बौद्धो द्वारा भगवान् बुद्ध की मूर्तिपूजा से भी पहिले के हैं ।

मूर्तिपूजा के फलस्वरूप नाना प्रकार के मन्दिरो के निर्माण ने भारतीय मूर्तिकला, स्थापत्य एव वास्तुकला के विकास मे विशेष सहायता पहुँचाई। उदयपुर राज्य मे स्थित बाडोली के मन्दिर की तक्षण-कला की प्रशसा करते हुए 'राजस्थान' के इतिहास के सुप्रसिद्ध लेखक कर्नल टाड ने लिखा है—"उसकी विचित्र और भव्य रचना का यथावत वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है । स्तम्भ, छत और शिखर का एक एक पत्थर छोटे मे मन्दिर का दृश्य बतलाता है । प्रत्येक स्तम्भ पर खुदाई का काम इतना सुन्दर और बारीकी से किया गया है कि उसका वर्णन नही हो सकता।" इन मन्दिरो की उत्कृष्ट रचना के विषय मे कुछ अन्य विद्वानो के मत भी यहाँ उद्धृत करना अप्रासगिक न होगा ।

आबू के इतिहास-प्रसिद्ध मन्दिरो की चर्चा करते हुए फर्गुसन ने अपनी 'पिक्चर्स इलसट्रेशस आफ आर्किटैक्चर इन हिन्दुस्तान' नामक पुस्तक में लिखा है— आबू के मन्दिरो मे जो सगमरमर के बने हुए है, अत्यन्त बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ बनाई गई है कि उसकी नकल कागज पर बनाने मे कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका।' इसी प्रकार सुप्रसिद्ध इतिहासकार विसेंट स्मिथ ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया' (भारत मे ललित कलाओ का इतिहास) मे हैलेबिड के मन्दिर के विषय मे लिखा है—'यह मन्दिर धैर्यशील मानव जाति के श्रम का अत्यन्त आश्चर्यजनक नमूना है । इसकी सुन्दर कारीगरी के काम देखते-देखते आँखे तृप्त नही होती ।' इसी मन्दिर के विषय मे प्रो० ए० ए० मैक्डोनल ने अपनी 'इन्डियाज़ पास्ट' मे लिखा है कि 'ससार भर मे शायद दूसरा ऐसा मन्दिर न होगा, जिसके बाहरी भाग मे ऐसा अद्भुत खुदाई का काम किया गया हो । नीचे की चौतरफ हाथियो वाली पक्ति (गजथर) में दो हजार हाथी बनाये गये हैं, जिनमे से आकृति मे कोई भी दो परस्पर नही मिलते ।

मथुरा के प्राचीन मन्दिरो का वैभव तो इतिहास में अद्वितीय है। महमूद गजनवी ने भारत से गजनी के अपने एक अधिकारी को मथुरा के मन्दिरो की चर्चा करते हुए लिखा था कि 'यहाँ असख्य मन्दिरो के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानो के ईमान के सदृश दृढ है। उनमे से कई तो सगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने मे करोडो दीनार खर्च हुए होगे। ऐसी इमारतें यदि दो सौ वर्ष लगें तो भी नही बन सकती।'

सोमनाथ के मन्दिर म तो सोने और चाँदी की अनेक रत्नजटित मूर्तियाँ थी, जो तत्कालिन भारत के वैभव के साथ ही उसकी उत्कृष्ट शिल्पकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

भारतीय शिल्पकला की असाधारण उत्कृष्टता की चर्चा करते हुए 'इडियन स्कल्पचर एड पेंटिंग' मे हैवेल ने लिखा है कि 'भारतीय शिल्पकला का स्थान यूरोप और एशिया की सब शैलियो मे सर्वोत्तम है। भारतीय शिल्प की मूर्ति मे प्रदर्शित जो गहराई तथा आतरिक भाव दीख पड़ते हैं, वे ग्रीस मे भी नहीं पाये जाते।'

यवनो के आक्रमण के पूर्व भारतीय वस्तुकला और मूर्तिकला अपनी चरम उन्नति को पहुँच चुकी थी। हाथ की कारीगरी के साथ तत्सम्बन्धी वैज्ञानिक साहित्य भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध था। नगर और दुर्ग आदि के लिए उचित भूमि का चयन, शहर बसाने, उसके चारो ओर खाई बनाने राजाओ के विभिन्न प्रकार के महल, उद्यान तथा मूर्तियाँ आदि बनाने के लिए अच्छे ग्रन्थ बनाये गये थे। इन ग्रन्थो मे से जो प्राचीन ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं उनमे महाराजा भोजकृत 'समरांगण सूत्रधार' विशेष उल्लेखनीय है। मुसलिम आक्रमण के बाद भारतीय कला का स्वतन्त्र विकास एकदम अवरुद्ध हो गया और एक प्रकार से उसका अन्त सा हो गया।

प्राचीन भारतीय चित्रकला

चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य म अत्यन्त प्राचीनकाल से है। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिए उसने संस्कृति के जिन अंगों से श्रीगणेश किया

था, उनमे चित्रकला भी एक थी। भारत में भी अत्यन्त प्राचीनकाल से बने अनेक प्रकार के चित्र उपलब्ध है। ये चित्र विषय, शैली तथा सामग्री की दृष्टि से उस समय के मानव-जीवन के प्रतीक है। जो चित्र मिले है उनकी भिन्न-भिन्न अकन-शैलियाँ और चित्रकारियो के अनेक स्तर हैं। मोहनजोदडो, हडप्पा और काठियावाड के लोथल नामक स्थान मे पाये गये मिट्टी के बर्तनो को देखने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीयो का कलाप्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि वे अपने दैनिक व्यवहार के पात्रो को भी चित्रित करते थे और कला उनके जीवन ही नहीं मरण तक की सगिनी थी। इन पात्रो पर अकित चित्रो मे ज्यामितिक आकृतियो को अर्थात् सरल रेखाओ, कोणो, वृत्तो और वृत्ताशो से बने अलकरणो की अधिकता है। इनके अतिरिक्त फूलो, पत्तियो और पशु—पक्षियो का भी उपयोग किया गया है। मुख्यत: पशु-पक्षियो की आकृतियो से ही इस कला की आरम्भिकता प्रकट होती है। कुछ रचना-प्रकार तो ऐसे हैं जिनकी परम्परा भारतीय चित्रकला मे अभी तक बनी है।

ऋग्वेद (१, १४६) मे चमडे पर बने अग्नि के चित्र का उल्लेख है। इससे भारतीय चित्र की परम्परा वैदिककाल से ही सिद्ध हो जाती है। पाणिनि ने सघ राज्यो के अको और लक्षणो की चर्चा की है। इन लक्षणो (चिह्नो) को बनाने के लिए रेखाकन आवश्यक हो जाता है। अतएव पाणिनि के समय मे भी चित्रकला का पर्याप्त प्रचार अवश्य रहा होगा। बुद्ध के समय मे चित्रकला का इतना प्रचार था कि उन्हे अपने शिष्यो को उसमे न प्रवृत्त होने की आज्ञा देनी पडी। बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक तथा थेरी-थेरी गाथा मे चित्रो का उल्लेख है। पूर्व-बौद्धकालीन साहित्य रामायण तथा महाभारत मे भी चित्र लेखन कला का उल्लेख है। मेघदूत मे कालिदास ने विरही यक्ष की पत्नी द्वारा उसके भावगम्य चित्र बनाने की चर्चा की है। शाकुन्तलम् मे दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाता है।

जोगीमारा गुफाएँ— प्राचीन काल की चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण तत्कालीन गुहाओ मे अकित भित्तिचित्रो के रूप मे अब भी देखने को मिलते है। सरगुजा रियासत की रामगढ पहाडी की जोगीमारा गुफा मे वैदिककाल

प्रैंधैतिहासिक काल तक के चित्रकारों द्वारा अंकित चित्र मिले हैं। प्राचीन काल के अधिकांश चित्र गुहाओं में अंकित ही प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के चित्र भित्ति-चित्र भी कहे जाते हैं। इन चित्रों की तिथि तो अभी तक निश्चित नहीं की जा सकी है, परन्तु विद्वानों का मत है कि यह गुहा पूर्व अशोक-काल की है। इन चित्रों में यह स्पष्ट हो जाता है कि इस गुहा के चित्रकारों को रेखाओं का अच्छा अभ्यास था और वे रेखाओं के द्वारा ही चित्रों को भली भांति अलंकृत करने में समर्थ थे। कलाकारों ने देवताओं के चित्र बड़े सुन्दर ढंग से बनाये हैं। उनको देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। कुछ चित्रों में ऋषियों के आश्रमों का दृश्य अंकित किया गया है। इन चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में विद्याध्ययन आश्रमों में किया जाता था। जोगीमारा गुफा के भित्तिचित्र ऐतिहासिक काल की भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने हैं।

जोगीमारा गुफाओं के पश्चात् हैदराबाद में (वर्तमान आंध्र प्रदेश) अजन्ता की गुफाओं की अनिर्वचनीय चित्रकारी विशेष उल्लेखनीय है। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी ईसापूर्व पहली शताब्दि से लेकर नवीं शताब्दि तक के काल में की गई थी।

अजन्ता की कला— अजन्ता की गुहाएँ हैदराबाद की वाघोरा नदी के उद्गम के पास स्थित हैं। इनमें भारतीय चित्रकला के भव्य दर्शन होते हैं। यह कला वाकाटक वंश से सम्बद्ध है। यद्यपि इस कला का प्रारम्भ शुंगकाल से हो ही चुका था, किन्तु यह ६०० ई० तक लगातार चलती रही। इसने भारतेतर देशों की कलाओं को भी बौद्धधर्म के माध्यम से प्रभावित किया है।

अजन्ता में छोटी बड़ी कुल २९ गुहाएँ हैं। इनमें दीवालों पर चित्र खींचे गये हैं। ये गुहाएँ दो प्रकार की हैं, विहार और चैत्य (स्तूप)। इनकी दीवालों पर भूसा और मिट्टी का लेप करके चित्र बनाये गये हैं। ये चित्र व उनके रंग आज भी नवीन प्रतीत होते हैं। फर्गुसन् तथा बर्गेस के अनुसार ९-१०-१२ और १६ नम्बर की गुहाएँ सबसे प्राचीन हैं। लूडर्स ने भूगर्भ सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर सिद्ध किया है कि १० नं० की गुहा सबसे अधिक प्राचीन है।

अजन्ता की गुहाओं की चित्रकारी में भारतीय जीवन के विभिन्न दृश्य अंकित मिलते हैं। कुछ चित्रों में जातक कथाओं के विभिन्न स्थलों से साम्य मिलता है। कहीं-कहीं पर सुन्दर श्लोक भी लिखे मिलते हैं, उदाहरणार्थ एक चित्र में निम्नलिखित श्लोक अंकित है —

अलंक्रियन्ते कुसुमैर्महीरुहा-
स्तडिद्गुणैस्तोयविलम्बिनो घनाः ।
सरांसि मत्तभ्रमरैः सरोरुहैः-
गुणैर्विशेषाधिगतैस्तु देहिनः ॥

अजन्ता की १९वीं गुफा, यहाँ की सबसे बड़ी स्तूप गुफा है और उसका द्वार बड़ा ही भव्य एवं रमणीक है। दोनों प्रकार की गुफाएँ और उनमें का सारा मूर्तिशिल्प एक ही शैल में कटा हुआ है। शिल्प इतना सच्चा और सही है कि कहीं पर एक भी छैनी अधिक या कम नहीं लगी है। वैसे तो सभी गुफाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं परन्तु गुफा नं० १ का कौशल तो विशेष रूप से विस्मयजनक और आकर्षक है। यह गुफा १२० फीट तक भीतर काटी गई है। चित्र प्रायः सभी गुफाओं में बने हुए हैं परन्तु पहली, दूसरी १६वीं और १७वीं गुफाओं के चित्र ही विशेष अंश अभी तक सुरक्षित हैं। सर्व गुफाओं के चित्र अपेक्षाकृत अधिक खण्डित हो गये हैं। कहीं किसी का मुख, कहीं खण्डित हाथ पैर, कहीं घोड़े-हाथी या उनके सवारों के अंग इत्यादि बच रहे हैं। गुफा नं० १, २, ९, १०, १६, १७ २१ और २६ के चित्र दर्शनीय हैं। इनकी चित्रकारी, शिल्पकला और मूर्तिकला संसार में अद्वितीय गिनी जाती है। विशेषज्ञों का कथन है कि अजन्ता के चित्रों का स्थान अब भी सर्वोपरि है। यदि इन चित्रों की तुलना संसार के अन्य प्राचीन चित्रों से की जाय तो इनके तुल्य चित्र और कहीं नहीं प्राप्त होंगे।

अजन्ता की चित्रकला का निश्चित समय निर्धारित करना कठिन है, अधिकतर चित्र महात्मा बुद्ध के जन्म से सम्बन्धित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इन चित्रों का समय ५० ई० से ७०० ई० तक है। दूसरे विद्वान् इनको ईसा से २०० वर्ष पूर्व से लेकर छठी शताब्दि तक का बतलाते हैं। यह बात

सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि गुफा नं० ९ व १० सबसे प्राचीन है। इनमे अंकित चित्र अमरावती और सांची की मूर्तिकला से मिलते-जुलते है।

अजन्ता-चित्रों की विशेषताएँ— अजन्ता की गुफाएँ समय-समय पर बौद्ध धर्म मतावलम्बी राजाओ द्वारा वर्षा ऋतु मे बौद्ध भुनियों के आश्रय के लिए बनवाई गई थी। चैत्य गुफाएँ उपासना गृहों का काम देती थीं, और विहार श्रेणी की गुफाएँ सभाओं और आराधकों के निवासस्थान के हेतु बनी थी। इन गुफाओं की पत्थर की दीवारों पर मिट्टी, गोबर तथा भूस का लेप करके उन पर चित्र अंकित किये गए। यह चित्रकारी कितने काल और कितने वर्षों तक होती रही, यह निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता। ये गुफाएँ न जाने कितने समय तक अज्ञात अवस्था में पड़ी रही। १८१९ ई० मे अंग्रेजी सेना के एक दस्ते को अकस्मात् इन गुफाओं का पता लगा और १८४७ ई० में सर्वप्रथम मेजर गिल ने इन गुफाओं में अंकित कुछ चित्रों की प्रतिलिपि तैयार की। बाद मे जान ग्रिफिथ ने १८६५-१८८५ तक इन भित्ति-चित्रों की प्रतिलिपियाँ बनवाई। जान ग्रिफिथ ने अपनी पुस्तक 'अजन्ता की भित्तिचित्रकारी' मे इन चित्रों का वर्णन करते हुए लिखा है—
"वे कलाकार, जिन्होंने इन चित्रों को अंकित किया था, भित्तिचित्रकारी में अद्वितीय थे। दीवारों की लम्बमान की ओर की कुछ रेखाएँ जो तूलिका की एक ही घसीट मे खींच दी गई हैं—मुझे अति आश्चर्यजनक प्रतीत हुईं, परन्तु जब मैंने छत के क्षितिज तल पर, जहाँ निष्पादन इससे सहस्र गुना कठिन है दोष रहित, लम्बी, पूर्ण वक्र रेखाएँ खिंची देखीं तो वह मुझे बहुत ही आश्चर्य जनक प्रतीत हुईं।"

बाद में लेडी हैरिंघम और श्री यजदानी ने १९०९ से १९११ तक इन चित्रों की कुछ और प्रतिलिपियाँ तैयार की। इनको पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। श्री यज्दानी की पुस्तक की भूमिका म श्री लारेन्स बिनयोन ने इन चित्रों का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"अजन्ता के चित्रकारों ने चैतन्य पृथ्वी, अंकुरित पौधे, पक्षी, मृग, हाथी देवावतरण, मन्दरा तथा ओसारे प्रभृति जो भी चित्र अंकित किये हैं, वे विश्व के

लिए एवं साकार स्वप्न की भांति हैं। नगर, द्वार तथा पाहन तो हैं ही, इन सबके मध्य कोमलांगी स्त्री पुरुष तथा बालकों के जीवन के भी कुछ चित्र हैं। इनमें से कुछ तो स्वतन्त्र गतिशील तथा ध्यानमग्न मुद्राओं में क्रीड़ा करते हुए दिखाए गये हैं और कुछ सम्पूर्ण सांसारिक जीवन के सुख तथा दुःख को व्यक्त करने के हेतु बने हैं, परन्तु उनमें एक ऐसी आत्मा का दिग्दर्शन होता है, जो जीवन की वास्तविकता की ओर इंगित करती है। अजन्ता की चित्रकारी कई शताब्दियों पूर्व हुई थी, परन्तु आज भी रूप और रंग में उसका वास्तविक सौन्दर्य उसी प्रकार प्रभावशाली है।

अजन्ता के इन चित्रों की रूपरेखा बड़ी प्रभावशाली, सजीव और लोचदार है। उसमें वास्तविकता के साथ ही भावों का भी सफल अंकन है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल और चित्ताकर्षक है। कहीं भी फीके या उदास रंग नहीं लगे हैं। चित्रों के अवयवों में गोलाई, उभार और गहराई बड़ी सफलतापूर्वक अंकित किये गये हैं। हाथ की मुद्राओं से, आँख की चितवनों से और अंगों के लचाव और ठवन से भावों का बड़ा सफल चित्रण किया गया है। प्रेम, लज्जा, हर्ष शोक, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय आश्चर्य, चिंता, विरक्ति, निस्संगता, शान्ति आदि भाव बड़ी खूबी से दरशाये गये हैं। अधिकांश चित्रों का विषय धार्मिक होते हुए भी इनमें तत्कालीन समाज के जीवन के सभी अंग और पहलू पूरी सफलता के साथ अंकित हुए हैं। कला की उत्कृष्टता के साथ ही अजन्ता के चित्र सांस्कृतिक अध्ययन के दृष्टिकोण से तो और भी अधिक महत्वपूर्ण है। उस समय के रहन सहन, वेश-भूषा आदि आदि को अजन्ता के चित्रों के द्वारा ज्यों का त्यों देखा जा सकता है।

बाघ के गुफा-चित्र—अजन्ता के भित्तिचित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धकाल में चित्रकला भारत में अपने उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। अजन्ता के सुन्दर मनोहर चित्रों का अन्य स्थानों पर भी अनुकरण किया गया। बौद्धधर्म के साथ-साथ भारतीय चित्रकला विदेशों में भी पहुँची और उसने चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, स्याम और सुमात्रा तथा जावा प्रभृति की चित्रकला को प्रभावित किया। भारत में भी अजन्ता से मिलते-जुलते चित्र अन्य

गुफाओं में भी बनाये गये। इन गुफाओं में ग्वालियर के निकटवर्ती विन्ध्य पर्वत-स्थित बाघ की गुफाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन गुफाओं तक पहुँचने के लिए महू स्टेशन से पक्की सड़क बनी हुई है। गुफाएँ विन्ध्य पर्वत पर बाघ नदी के ऊपर स्थित हैं।

यहाँ बागेश्वरी देवी का एक प्राचीन मन्दिर है। यहाँ ६ गुफाएँ थीं। इनमें से तीन की छत गिर पड़ी है और गुफाओं का मार्ग बन्द हो गया है। ये गुफाएँ पंच-पांडव गुफाओं के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। गुफाएँ बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हैं और इनका निर्माण काल सातवीं या आठवीं सदी अनुमान किया जाता है। अजन्ता के समान ही ये गुफाएँ भी विहार या मठ हैं। इन गुफाओं की भी चित्रकारी अजन्ता के समान बड़ी सुन्दर है। इन चित्रों में बुद्धदेव का पूजन, गणेश, अश्वारोही भिक्षु तथा सेवक दिखलाये गये हैं। इन चित्रों की शैली अजन्ता से भिन्न नहीं है और ये चित्र वहाँ के चित्रों की तुलना में उन्नीस भी नहीं बैठते।

बाघ की ९ गुफाओं में से गुफा नं० ४ और ५ में सबसे अच्छे और सुन्दर चित्र हैं। एक रानी और उसकी सखी का चित्र बड़ा मर्मस्पर्शी है। इस चित्र में करुण-रस को बड़ी सुन्दरता से दर्शाया गया है। रानी अपना मुख बायें हाथ से ढके हुये है और उसकी सखी उसे सान्त्वना दे रही है। दूसरा चित्र एक सुन्दर नर्तकी का है, जिसके चारों ओर पाँच अन्य नर्तकियाँ हाथ में मजीरा तथा मृदंग लिये हुए नृत्य कर रही हैं। इस चित्र की तुलना अजन्ता की गुफा नं० १ के चित्रों से की जा सकती है। इनकी आकृतियों की मुद्राओं में भी अजन्ता के समान सजीवता दिखलाई पड़ती है। दर्शक इनको देखकर अजन्ता के भ्रम में पड़ जाते हैं। एक अन्य चित्र अश्वारोहियों का है। इसमें एक मनुष्य की मुख मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका घोड़ा खो गया हो और वह उसकी खोज में है। एक और चित्र में राज समारोह का चित्रण बड़ा ही सुन्दर हुआ है। सब शान्त मुद्रा में खड़े हुए हैं। हाथी पर पीले रंग की झूल पड़ी हुई है और वह आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है। घोड़े और हाथी इस वास्तविकता से बनाये गये हैं कि देखने वाले को यह भ्रम हो जाता है कि वह

भारतीय संगीतकला

भारत की संगीतकला अत्यन्त प्राचीन काल से जिस प्रकार विकसित होती चली आ रही है वह कलाओं के इतिहास में एक अनोखी घटना है। संसार के इतिहास में ऐसी निरन्तरता दुर्लभ है। भारतीय संगीत की उत्पत्ति दैविक कारणों से बताई जाती है। शंकर के डमरू से ध्वनियों की उत्पत्ति हुई हो या नारद इन्द्र के दरबार से इसे पृथ्वी पर लाये हों पर इतना निश्चय है कि हजारों वर्ष पहले जिस ढंग से संगीत के आदि स्थान सामवेद का गायन होता था बिल्कुल उसी ढंग से, उसी स्वर प्रणाली में, उसी उतार चढ़ाव के साथ आज भी सामगान करने वाले पंडित भारत में प्रस्तुत हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि संगीत के भी आदि आचार्य माने जा सकते हैं। कुछ लोग भरत नाम से आचार्यों की एक परम्परा मानते हैं। भरत नाम में तीन अक्षर हैं और ये संगीत के तीन पक्षों का द्योतन करते हैं।

भ = भाव, र = रस, त = ताल।

संगीत शब्द दो अर्थों में प्रचलित है। एक अर्थ में गायन-वादन और दूसरे में गायन-वादन-नृत्य आता है। संगीत का आधार स्वर है। संगीतोपयोगी ध्वनि को नाद कहते हैं और इस नाद की सात इकाइयाँ हैं, जिन्हें स्वर कहते हैं। ये हैं:—स रे ग म प ध नी। इनका एक सप्तक होता है। स और प अचल स्वरों में हैं। शेष के कोमल और तीव्र दो रूप हैं। इस प्रकार बारह स्वर होते हैं। स्वर की ऊँचाई और निचाई के विचार से तीन सप्तक हो जाते हैं। तार, मध्य और मन्द्र। गायन की चाल लय होती है। लय की विभिन्न प्रकारों की मापों को ताल कहते हैं। ताल देने के वाद्ययन्त्र (बाजे) कई हैं जैसे तबला, ढोलक, पखावज, मृदंग आदि। गले से कंठ संगीत और बाजे से वाद्य संगीत प्रस्तुत होता है। वाद्य भी कई प्रकार के हैं। सितार, सरोद, वीणा दिलरूबा इसराज बाँसुरी आदि। विभिन्न लोकधुनों पर आधारित स्वरों के तरह तरह के समुदाय—जिन्हें शास्त्रीय नियमों से अनुशासित किया गया है—राग कहलाते हैं। गायन की अनेक शैलियाँ हैं जैसे ध्रुपद धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि।

इसी प्रकार वादन और नृत्य मे भी अनेक शैलियाँ होती हैं। दक्षिण की कथकली, भरत नाट्यम; उत्तर भारत की कथक गुजरात की गरबा, आसाम की मणिपुरी आदि शैलियाँ और नृत्य प्रकार विश्व प्रसिद्ध हैं। भारत मे लोकधुनो और लोकनृत्यो का अपूर्व भडार मौजूद है। जितना विशाल देश है भारत, उससे कही अधिक विशाल है उसकी कला-सम्पत्ति।

मूल मे तो सारा भारतीय सगीत भरतमुनि को आधार मानता है पर समय प्रवाह मे उत्तरी और दक्षिणी (जिसे कर्नाटक सगीत भी कहते हैं।) सगीत प्रयोग और व्यवहार म अलग हो गए हैं। आधुनिक काल मे दोनों में फिर आदान प्रदान होने लगा है। जैसे उत्तर भारत म तानसेन का नाम प्रसिद्ध है उसी प्रकार दक्षिण म त्यागराज का नाम विख्यात है। शास्त्रकारो मे भरत के अतिरिक्त नारद, मातग, शारगदेव सोमनाथ, दामोदर मिश्र, अहोबल मुहम्मद रजा, नवाब सआदत अली खाँ भातखण्डे, देवधर ओकार नाथ ठाकुर आदि का नाम लिया जाता है। भारतीय सगीत मूलभावना मे आध्यात्मिक है। विश्व प्रसिद्ध वायलिन वादक योरप के यहूदी मेनूहिन के शब्दो मे भारतीय सगीत मनुष्य को विश्वनियता के निकट ले जाकर अपूर्व शाति देता है।

भारतीय संगीत का विकास

वैदिक सगीत—वैदिक युग मे सगीत की धरोहर पुरोहितों के अधिकार म रही। अत सगीत कला का विकास एव प्रचार भी उन्ही के द्वारा हुआ। उस युग म नर्तन, गायन और वादन ये तीनो कलाएँ सम्पन्न हुई। उस समय प्रधान वाद्य वीणा थी। उस समय गायन वादन और नर्तन तीनो ही, समाज मे आदृत थे। सगीत क विशाल आयोजन भी जब-तब होते थे। उनमे नर्तकियाँ निस्सकोच भाग लेती थी। ऋग्वेदीय युग का, रात्रिकालीन 'समन' सज्ञक उत्सव विशेष महत्वपूर्ण था। इसमें कुमारियाँ स्वेच्छया अभिलषित वर का चयन करती थी। इस उत्सव म युवकवर्ग भी सोत्साह सम्मिलित होता था। ऐसे उत्सवो मे कुमारियो की सगीत-परीक्षा भी होती थी और घुड़दौड़-यज्ञादि का भी प्रचलन था। यही समन बाद में समज्या नाम स विख्यात हो गया।

वैदिक युग मे गीतवाद्य के साथ नर्तनकला भी सुप्रचलित थी। नृत्य के समय नर्तकियाँ पैरो मे घुंघरू बांधती थी। इस प्रदर्शन के हेतु छोटे छोटे रगमच भी होते थे। स्त्री-पुरुष सभी सामूहिक रूप से नृत्य मे सम्मिलित होते थे और सोमरस-पान करते थे। तत्कालीन नृत्यो मे प्रकृतिनृत्य, पुष्पनृत्य, वसतनृत्य, अरुणनृत्य, रज्जुनृत्य और सलिलनृत्य प्रधान थे। नैतिक दृष्टि से नर्तन, गायन और वादन तीनो ही अत्यन्त उच्चस्तरीय थे। उस समय कलाकार कला के लिए ही जीते और कला के लिये ही मरते थे। कला ही उनका जीवन था।

वैदिक युगीन कलाकारों के ऊँचे चरित्र का एक कारण यह भी कहा जाता है कि वैदिक काल मे कला का विकास धर्म के सरक्षण मे हो रहा था। तत्कालीन सगीत यज्ञकाण्डो का अगभूत बना रहा।

वैदिक काल मे स्वर-विधान—स्वर विधान की समग्र सामग्री वैदिक साहित्य मे सुरक्षित है। ग्रामगेयगान, अरण्यगेयगान, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, स्तोम, स्तोब आदि विभिन्न पारिभाषिक शब्द तत्कालीन सगीत की उन्नति क ही सूचक हैं। सस्वर सछन्द सामवेदीय ऋचाओ के गान हेतु, गेय ऋचाओ के साथ उनके विशिष्ट स्वर-सधान के नियम भी दिये गए हैं। उस युग मे प्रचलित उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीनो प्रकार के स्वरो के सधान की विधियाँ, शिक्षा, प्रातिशाख्य एव स्वरवैदिकी आदि वैदिक स्वर-सम्बद्ध ग्रन्थों मे सविस्तार प्राप्य है। इन्ही तीनो स्वरो से पश्चात्काल मे षड्ज, ऋषभादि सप्तस्वरो का सृजन हुआ। इनमे से उदात्त स्वर से गान्धार एव निषाद अनुदात्त से धैवत एव ऋषभ तथा स्वरित से षड्ज, पचम और मध्यम स्वर प्रसूत हुए। तार भी उदात्त स्वर का ही नामान्तर है। इसी भांति उच्च, मन्द अथवा खाद मे अनुदात्त के ही नाम भेद है और स्वरित के दूसरे नाम समतारस्वर स्वर और मध्य है। मूल स्वरत्रय, अर्थात तार, मन्द एव मध्य, स्वरो से षड्जादि सप्त स्वरो के विकास का विवरण 'ऋक्प्रातिशाख्य' मे मिलता है। सामवेद के पूर्वार्चिक एव उत्तरार्चिक, ये दो विभाग हैं। उत्तरार्चिक की ऋचाएँ पुन ऊह एव ऊह्य दो श्रेणियो मे आबद्ध है। सर्वसाधारण, द्वारा अगेय, रहस्यमय गान ही ऊह एव ऊह्य है। यह साधना के अधिकार के क्षेत्र की वस्तु है। ग्रामवासियो के गाने योग्य ऋचाएँ ग्राम गेय थी। निर्जन वनस्थल निवासी वानप्रस्थो के हेतु अरण्यगेय गान का विधान था। ऋष्ट,

प्रथम, द्वितीय तृतीय, चतुर्थ मन्द एवं अतिस्वार्य ये सात स्वर वैदिक सामगान मे प्रयुक्त होते थे। ये नाम वैदिक साहित्य मे अभिनिहित, प्राश्लष्ट, जात्य, क्षैप्र पादवृत, तैरव्यञ्जन और तैरविराम के रूप मे पाए जाते है।

वैदिक सगीत के सात विभाग है—प्रस्तवा, हुकार, उद्गीथ, प्रतिहार, उप-द्रव, निधान एव प्रलख। तत्कालीन प्रमुख वाद्य दुन्दुभि, वीणा और वेणु है।

पुराण-कालीन सगीत सम्बन्धी मान्यताएँ—वैदिक काल की तुलना मे पौराणिक काल मे सगीत से सम्बन्धित नीति, प्रकार, नियम आदि बहुत बदल गये। पुराणो का सगीत सम्बन्धी दृष्टिकोण अधिक विकसित प्रतीत होता है। हरिवंश पुराण म गान्धार राग का उल्लेख है, जिसमे सप्त स्वरो का आरोह अवरोह अनेक रागिनियाँ और मन्द्र, मध्य, तार आदि स्थानो मूर्छना, नृत्य, नाट्य, वाद्य, आदि का भी पूरा परिचय मिलता है। इस पुराण मे उर्वशी रम्भा, मेनका, तिलोत्तमा आदि नृत्यागनाओ, उनके विविध वाद्य-यन्त्रों, और नृत्य से सम्बन्धित रीतियो का लेख मिलता है। 'मार्कण्डेय पुराण' मे धैवत, ऋषभ, पंचम आदि सप्तस्वरो का, पाँच प्रकारो के ग्राम-रागो और गीतो तथा १९ प्रकार की मूर्छनाओ और सगीत-पदो का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार 'वायु पुराण' मे भी सगीत के सप्त स्वर, तीनग्राम २१ मूर्छना और चार ताल वर्णित हैं। वैदिक काल से इस काल के वाद्यो मे भी अन्तर है। इस काल मे मुख्यत वीणा, पुष्कर, मृदग दुन्दुभी, पणव दुर्दुर इत्यादि वाद्यो का प्रयोग होता था।

रामायण एव महाभारत कालीन सगीत—रामायण एव महाभारत काल मे सगीत किसी वर्ग विशेष मे ही परिमित न रह कर, पूर्णत लोकप्रिय एव सर्वत्र व्याप्त हो गया था। 'रामायण' और 'महाभारत की कथाओं का प्रचार नट, नर्तकों और कुशीलवो ने, उनके साहित्यिक रूप मे आने से पहले, सगीत के आश्रय से किया था।

तत्कालीन उद्भट विद्वान्, रावण सगीत कला मे भी परमप्रवीण था। सस्वर वेदपाठ का प्रथम प्रचारक रावण ही था, ऐसी जनश्रुति है। रावण का स्वरज्ञान आश्चर्यजनक था। उसकी पत्नी मन्दोदरी भी सगीत विद्या मे परम

प्रवीण थी। रावण की राजसभा मे बहुत सी कुशल नर्तकियाँ एव अनेक सगीताचार्य थे। उसके सगीतकक्ष मे, भेरी, शख, मृदग, पणव, एव मुरज (पखावज) आदि अनेक वाद्य रहते थे। रावणकृत 'रावणीय' नामक सगीत परक ग्रन्थ प्राप्त होता है। वाल्मीकि सगीत के परम विद्वान् थे। लवकुश को रामायण की कथा स्वरबद्ध रूप मे महर्षि वाल्मीकि ने ही सिखायी थी।

महाभारत काल मे भी सगीत का प्रसार एव विस्तार हुआ। स्वय श्री कृष्ण अद्भुत सगीत विशारद थे। उनका वेणुवादन व रासलीलाएँ गोपिकाओं को अत्यन्त प्रिय थी। वे स्वय भी नृत्य एव गीत मे परम प्रवीण थी।

इस भक्ति प्रधान काल मे विविध देवताओ की अभ्यर्चना मे सगीत का विशिष्ट स्थान था। वृहन्नला के रूप मे अर्जुन ने विराटनरेश की पुत्री को सगीत की शिक्षा दी थी। वीणावादन मे वह अद्वितीय था। इस युग मे वैदिककालीन 'समन' उत्सव समज्जा' के नाम से प्रचलित था।

साहित्य मे सगीत का योग—प्राचीन भारत के पान्चाल, कोशल, वत्सादि जनपदो मे सगीत, व सगीताचार्य विशेष रूप से समादृत थे। पाणिनि, कौटिल्य व भास के समय मे भी सगीत, अत्यन्त लोकप्रिय था। विविध सामाजिक उत्सवो के समय सगीत का आयोजन होता था। उदयन व वासवदत्ता के प्रणय का आधार सगीत ही था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे शास्त्रीय सगीत उन्नत हुआ। कौटिलीय अर्थशास्त्र व मैगस्थनीज कृत 'इण्डिका' मे नाट्यशालाओं व सगीत गृहो का उल्लेख है।

भारतीय सगीत का उन्नतिशील काल कनिष्क का समय है। इस समय मे सगीत के नूतन विधान प्रकट हुए जो विदेशो मे भी प्रसृत हुए। तत्कालीन अश्वघोष के 'बुद्धचरित' मे सगीत सम्बन्धी अनेक तथ्य निहित हैं। नागार्जुन ने शून्य के प्रतिपादन और वैद्य चरक ने चिकित्सा-हेतु सगीत के आधार पर नवीन प्रयोग किए। ई० पू० प्रथम व द्वितीय शताब्दी मे नागो का पुनरभ्युदय हुआ यह जाति अत्यन्त सगीत प्रिय थी। नागकन्याएँ दक्ष नर्तकियाँ होती थी। नाट्यशास्त्र मे भी सगीत का विस्तृत—विवेचना है।

गुप्तकाल मे सगीत की विशेषउन्नति हुई। समुद्रगुप्त सगीतप्रिय था।

कालिदास के नाटकों मे सगीत के इस उन्नत रूप की झाँकी देखी जा सकती है। अन्य नाटककारो के नाटको मे भी सगीत की झलक प्राप्त होती है । सन्देश *काव्य और स्तोत्रग्रन्थ, गीतिकाव्यों के आदर्श रूप हैं।*

हिन्दू युग मे सगीत की अवस्था– राजपूतो के यहाँ सगीत की तुलना में चित्र कला को अधिक महत्व दिया गया । फिर भी भक्तिप्रधान युग होने से इस काल में सगीत का भी प्रचार था । सौराष्ट्र के सोमनाथ मन्दिर की नर्तकी चौलादेवी सुविख्यात वीणावादिनी थी । पृथ्वीराज चौहान भी वीणावादन विशेषज्ञ था ।

हिंदूकालीन सगीत का परिचय तत्कालीन चित्रकला से प्राप्त होता है । अजन्ता, एलोरा आदि के भित्तिचित्र सगीत के प्रति जनता व चित्रकारों की अभिरुचि के प्रतीक हैं।

मुगलकाल मे भारतीय सगीत की स्थिति मे अतर आया, पर अकबर ने इस सगीत को ईरानी सगीत के समकक्ष स्थान दिया । अबुल फजल की 'आईने अकबरी' मे वाद्ययन्त्रो की विस्तृत चर्चा है। डमराज, सरगी, दिलरुबा, मयूरी, *वीणा आदि का विशेष प्रचलन था ।*

आँग्ल शासन-काल में भारतीय सगीत पाश्चात्य सगीत से प्रभावित हुआ । फिर भी भारतीय सगीत की प्रचीन प्रणाली यथावत बनी रही । सगीत नाटक *अकादमी का भारतीय सगीत के विकास मे विशेष योगदान था ।*

सगीत शास्त्र मे वीणा का महत्व –तत वाद्यो मे वीणा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । उसकी उपयोगिता भी बहुत अधिक है । वेदकालीन वाद्यो मे वीणा अन्यतम है । नाद का ज्ञान वीणा से ही किया जाता है । अत: तन्त्वाद्यों की अधिष्ठात्री वीणा ही है जिसका गुणगान भारतीय साहित्य के अन्तर्गत मुक्तकण्ठ से किया गया है । तन्त्रवाद्य की प्रगति के साथ साथ स्वामी के० आर० पारवतीश कृत दत्तात्रेय वीणा आज तक की समस्त वीणाओ मे श्रेष्ठ है। इस वीणा मे समस्त सप्तकों की अवतारणा सरलता से की जा सकती है तथा इसी में मण्डन भी निर्मित है ।

संस्कृति और साहित्य

संस्कृति और साहित्य मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, साहित्य संस्कृति की लिखित अभिव्यक्ति है तो संस्कृति साहित्य की वह अन्तर्धारा है जो उसे उत्त-

रोत्तर विकास की प्रेरणा प्रदान करती है। दोनो एक दूसरे के प्रभाव से व्याप्त रहते हैं, क्योंकि दोनो एक दूसरे के पोषक और उन्नायक है। साहित्यकार सास्कृतिक परम्परा का पालन करते हुए भी उससे बधा नही रहता। अपनी मौलिक चिन्तन धारा से सस्कृति के प्रवाह मे वह नयी क्रातियाँ और नये मोड उपस्थित कर देता है। साहित्य का प्रयोजन मानव-जीवन की विविध भावनाओं आकाक्षाओं योजनाओ क्रियाओ एव प्रतिक्रियाओ का आकलन है। इसीलिये उसे जीवन की समीक्षा माना गया है। वाह्य जगत का घटना-कलाप मानव के हृदय मे जिन अनुभवो की सृष्टि करता है उनकी अभिव्यक्ति ही साहित्य का लक्ष्य है।

जीवन की वास्तविक घटनाओ को साहित्य मे यथार्थरूप मे अंकित किया जाए अथवा आदर्श के ढाँचे में ढाल कर प्रस्तुत किया जाए इस विषय मे विद्वदगण एकमत नही है। कोई जीवन का यथार्थरूप मे अंकित करने के पक्ष मे है तो दूसरा यथार्थ पर आदर्श का रग चढा कर प्रस्तुत करना चाहते है। इस प्रसग मे यह कथन युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि यदि जीवन और जगत का वास्तविक (कटु) अरसिक रूप ही साहित्य मे चित्रित होगा तो उसमे मानव को सत के प्रति प्रोत्साहन की प्रेरणा एव असत से निवृत्ति की लालसा कैसे होगी। अत शुष्क वास्तविकता मे योग-क्षेम की सरसता लाना साहित्यकार के लिए अपेक्षित हो जाता है। लोग कहते हैं, पहले काव्य को ही साहित्य माना जाता था। फिर गद्य के विकास के साथ भावाभिव्यक्ति की नई शैलियो तथा विधियो का सूत्रपात हुआ। काव्य, नाटक तथा चम्पू के साथ कथा कहानियो और लेखो को भी साहित्य का पद प्राप्त हो गया।

मानव जीवन मे लालित्य और सौन्दर्य लाने के लिए सस्कृति और साहित्य सतत प्रयत्नशील रहते है। जिस देश और राष्ट्र का साहित्य जितना उदात्त होता है, वहा की सस्कृति उतनी ही उत्कृष्ट होती है। साहित्य यदि सस्कृति का यशोगान करता है तो सस्कृति साहित्य को प्रेरणा और अभिव्यक्ति प्रदान करती है। साहित्य सस्कृति का मुख है तो सस्कृति साहित्य के अन्तर्जगत की अधिष्ठात्री देवी है। समूचे विश्व की सस्कृति का दर्पणतल समान है तो विश्व

के सभी देशों के साहित्य की आत्मा भी अभिन्न है। जैसे प्रत्येक देश की सस्कृति बाह्य (सभ्यता के) रूप मे भिन्न प्रतीत होती है, वैसे ही प्रत्येक देश का साहित्य भी वहाँ की विचित्र भाषा में विलग दिखाई देता है। भाषा साहित्य का बाह्य आवरण है, तो चिन्तनधारा उसका आन्तरिक रूप है। *सस्कृति के सूत्र इस चिन्तन-धारा मे अनुस्यूत रहते हैं।*

जब किसी देश की सस्कृति लुप्त या परिवर्तित होने लगती है, तो तत्काल साहित्य उसे सरक्षण देकर अमर कर देता है। राम या कृष्ण के काल की सस्कृति यदि आज भारत में न भी प्रचलित हो, तो वाल्मीकीय 'रामायण' और व्यास के 'महाभारत' मे अकित तत्कालीन पारिवारिक, सामाजिक, रीति-नीतिक, आर्थिक, धार्मिक, और सामरिक स्थिति, कला राजनीति, आचार-विचार तथा शील एव व्यसन आदि के चित्रण से स्पष्ट की जाती है।

सक्षेप मे किसी देश की साहित्यिक कृतियो को देख कर तत्कालीन सस्कृति का पता लग जाता है और किसी भी देश का समृद्ध साहित्य वहाँ की सस्कृति की सुरक्षा के लिए सर्वदा समर्थ होता है।

किसी देश की सस्कृति को नष्ट करने के लिए सबसे पहले वहाँ के *साहित्य को विकृत या नष्ट कर दिया जाता है। भारतीय सस्कृति का* मूलोच्छेद करने के लिए, विदेशियो ने हिन्दी भाषा और भारतीय साहित्य पर अनेक घातक प्रहार किये, किन्तु हमारे सौभाग्य से सस्कृति के मूलाधार इतनी गहराई तक पहुँच चुके थे जिन्हे वे उखाड न सके। आज भी कुछ लोगो का यह कहना कि यदि भारतवासी अग्रेजी को छोड कर अपनी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाएँगे तो विश्व के वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान मे पिछड जाएँगे—एक नितान्त भ्रान्त धारणा है। रूस चीन और जापान जैसे देश अग्रेजी को शिक्षा का माध्यम न बनाकर भी अपनी अपनी भाषा के द्वारा तकनीकी शिक्षा देते हुए, वैज्ञानिक प्रगति मे इगलैंड, फ्रांस, अमेरिका आदि *से पीछे नही हैं।*

साहित्य ही विश्व की विविध सस्कृतियो के सगम का केन्द्र कहा जा सकता है क्योकि एक देश का नागरिक, किसी दूसरे देश की सस्कृति के दर्शन, साहित्य

के माध्यम से कर सकता है। साहित्य के अभाव मे संस्कृति अधूरी रह जाती है, क्योकि उज्ज्वल चारित्र्य और मंगलकारी योजनाओ के शब्दचित्र प्रस्तुत करना तो साहित्य का ही काम है। साहित्य संस्कृति के अतीत का इतिहास है तो वर्तमान की विवेकपूर्ण विवेचना भी करता है और भावी स्वरूप को परिमार्जित, प्रशस्त तथा प्रभावशाली बनाता है। साहित्य संस्कृति की वाणी है तो संस्कृति साहित्य के प्राणवायु का संचालन करने वाली शक्ति, जो जीवन मे उल्लास लाकर चेतनता को प्रफुल्लित कर देती है।

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित भाव से सम्पृक्त सम्बन्ध होता है। सामाजिक परिस्थितियाँ यदि तत्कालीन साहित्य मे प्रतिबिम्बित न हुई तो सम्बद्ध साहित्यकार या तो नवशिक्षित है और या फिर सासारिक संवेदनाओ से ऊपर उठा हुआ निर्विकार योगी। साहित्य जगत मे मूर्धन्य स्थान प्राप्त करने वाली और सहृदयो को मुग्ध करने वाली रचनायें ऐसे लोगो की लेखनी से नही प्रणीत हुआ करती है। कला के संसार मे तो वही पारंगत समझा जाता है जो कला और सौन्दर्य (जो वस्तुत केवल बाह्य दृष्टि से ही दो है) के अविरल प्रवाह मे डूब कर रह जाय। बिहारी ने इस परम तत्व की अनुभूति से अनुप्राणित होकर ही तो लिखा था— 'अनबूडे बूडे, तिरे, जे बूडे सब अंग'। अत. संस्कृति और साहित्य का नित्य का संबन्ध है।

काव्य कला

कवि वस्तुत युगद्रष्टा होता है इसमे संदेह नही कि उसके प्रबन्ध मे चित्रित युग और उसमे विद्यमान विभिन्न पात्र ऐतिहासिक दृष्टि से कभी-कभी उसके अपने युग से बहुत पहले के हुआ करते हैं, परन्तु चरित्रो और प्रवृत्तियो का अकन करने मे वह अपने ही युग की सामाजिक प्रवृत्तियो, आदर्शों और 'सु' और 'कु' के भेदक मानदण्ड से भी प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए जिस पात्र को कवि अपने पाठको की दृष्टि मे ऊँचा उठाना चाहता है उसके चरित्र मे वह उन सभी गुणो का समावेश करने की चेष्टा करता है जो तत्कालीन समाज द्वारा आदर्श, अनुकरणीय, श्रेय और प्रेय समझे जाते हैं। इसके विपरीत जिन पात्रो के प्रति वह अपने पाठको के हृदय मे घृणा, क्रोध तथा अस-

हिण्णु जागाना चाहता है उनमे वह ऐसी सभी बुराइयो का उपस्थित कर देना है जिनके कारण सहृदय पाठका का मन सहज की उनसे खिंच जाता है। प्रत्येक महान् कवि इस प्रकार अपने समय की संस्कृति चेतना के प्रति जागरूक भाव रखना है। साहित्य को इसीलिए समाज का दर्पण कहा जाता है। भावुकता कलात्मकता और सौन्दर्य की परख कवि की अपनी विशेषतायें है। व्यक्ति और पदार्थ के बाह्य रूप ता सर्व नेत्र सुलभ होते हैं, परन्तु कवि की दृष्टि अन्तरात्मा तक पैठकर सागर की सीपो से मोती चुन-चुनकर लाती है। किसी भी युग की संस्कृति का सबसे अधिक प्रामाणिक चित्र, सम्भवत इसीलिए, तत्कालीन महाकवियो की कृतियो म उपलब्ध होता है। इस दृष्टि स यह सर्वथा उचित है कि विभिन्न युगो के प्रतिनिधि महाकवियो की प्रतिनिधि रचनाओं मे चित्रित संस्कृति का अलग से अध्ययन किया जाय। आगे के पृष्ठ इसी दिशा म प्रयास है।

कालिदास द्वारा अंकित संस्कृति

हम कह चुके है कि सभी मानवीय विद्याओ तथा कलाओ की कृतियाँ किसी न किसी देश और काल की संस्कृति की ओर प्रत्यक्ष संकेत करती हैं। लेकिन कलाओं मे काव्य-कला का मूर्धन्य स्थान है और नाटक काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है। अत नाटक के माध्यम स संस्कृति का अध्ययन समीचीन प्रतीत होता है। परीक्षा की कसौटी के रूप म पहले हम कालिदास के *'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक को ही ग्रहण करते है फिर अन्य काव्या को भी* लक्ष्य बनाया जायगा। इसमे कवि ने तत्कालीन पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक जीवन का जीता-जागता चित्र अंकित कर दिया है। वह समय था जब वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन तथा यज्ञ-यागादि के कार्य मे निरत थे। यज्ञ कराने वाला (होत्री) यजमान शिवरूप माना जाता था। राजन्य वर्ग प्रजा के हितसाधन तथा दुष्टो के दमन म संलग्न था। वैश्य व्यापार के माध्यम से दूर दूर के देशो की समुद्र यात्रा करके राष्ट्र की श्रीवृद्धि मे सहायक होते थे। शूद्र अपने विविध उद्योगो से राष्ट्र की सर्वांगीण समृद्धि मे योग देते थे।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था अपने उदात्त रूप में विद्यमान थी। परम्परा से निर्धारित कर्म गर्हित होने पर भी छोड़े नहीं जाते थे।

दुष्यन्त के राज्य में तो पतित लोग भी कुमार्ग का अनुसरण नहीं करते थे। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करके लोग गृहस्थाश्रम में कठोर कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अन्य तीनों आश्रमवालों की सेवा-सहायता करते थे। वृद्धावस्था में नृपतिगण भी अपने पुत्र को शासन का भार सौंप कर स्त्री सहित किसी तपोवन में वानप्रस्थ जीवन बिताते थे। योगी, तपस्वी और यती राजा के संरक्षण में अपने दैनिक अनुष्ठानों का निर्विघ्न सम्पादन करते थे।

भयग्रस्त प्राणियों की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य था। इस रक्षण के उपलक्ष्य में उसे प्रजा की आय का छठा भाग कर-रूप में अधिकारपूर्वक प्राप्त था। न्याय निष्पक्ष होता था, किन्तु कठोर न था। किसी व्यक्ति के निःसन्तान मरने पर उसका सारा धन नियमानुसार राजा को प्राप्त होता था। पुलिस के अधिकारी उस समय भी उत्कोच या रिश्वत लेने में अभ्यस्त और दक्ष होते थे। मद्यपान भी करते थे तथा बन्दी या अपराधी को पीटने के लिए उनके भी हाथ खुजाया करते थे। राजा लोग प्रायः निर्लोभी, उदार और दयालु हुआ करते थे। वसन्त ऋतु में आदि के आम के बौर तोड़कर मदन का उपहार रूप में भेंट किए जाते थे। राजा आखेट खेलने में प्रवीण होता था। शब्दवेधी बाण भी चलाये जाते थे। स्थल, जल तथा आकाश में सचरण के साधन थे।

पारिवारिक समस्याओं एवं सामाजिक प्रथाओं का चित्रण भी कालिदास ने बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है। राजाओं तथा धनिक लोगों में बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन था। पुत्रजन्म के लिए व्यक्ति व्याकुल रहता था, क्योंकि पुत्रहीन होना दुर्भाग्य समझा जाता था। स्त्रियों के साथ पुरुषों का बड़ा शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार था। परिवार एवं समाज में उन्हें समुचित सम्मान प्राप्त था। सम्भ्रान्त कुल की महिलायें बाहर जनसमूह में अवगुंठन डालकर निकलती थीं। दुष्यन्त के दरबार में "अवगुंठन वती" शकुन्तला भी आश्रमवासियों के साथ प्रवेश करती है। गुरुजनों के सम्मुख युवती स्त्रियाँ अपने पति के साथ जाने में लज्जा का अनुभव करती थीं। उस समय

स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त किया करती थी । पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार होता था । शकुन्तला की सखियाँ प्रियवदा और अनसूया दोनो सुशिक्षित थी। उन्होने काव्यगत चित्रकला का अध्ययन किया था । जिस मार्मिक ढग से शकुन्तला ने अपना प्रणयपत्र लिखा है उससे उसके भावो को प्रकाशित करने की अद्भुत सामर्थ्य एवं पटुता उदात्त मात्रा मे प्रकट होती है। विद्याध्ययन के अतिरिक्त स्त्रियो को गृहकार्य सम्बन्धी विविध कलाओ और विद्याओ के साथ चित्रकला, सगीत-कला एव काव्यकला की शिक्षा दी जाती थी । शकुन्तला अपने प्रिय मृगशावक के, दर्भांकुरो से बिंधे हुए मुख मे, इगुदी के तैल का लेप कर उसका सद्य. उपचार करके यह सूचित करती है कि उस समय लडकियो को प्राथमिक चिकित्सा की शिक्षा भी दी जाती थी। शकुन्तला का उपचार करने मे प्रियवदा और अनुसूया ने उसीर (खस) के लेप, कमल-पत्रो के आवरण तथा कमलनाल के बने हुए हाथ के कड़े (वलय) का प्रयोग करके रुग्ण सेवा या परिचर्या मे जो तत्परता दिखाई है, उससे उनका उपचार कौशल प्रकट होता है । गौतमी भी यज्ञ का शान्त्युदक लेकर शकुन्तला को स्वास्थ्यलाभ कराने के लिए ही प्रस्तुत होती है । इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि स्त्री वर्ग को उपचार सम्बन्धी शिक्षा किसी न किसी रूप मे अवश्य दी जाती थी ।

आध्यात्मिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी अनेक आदर्श स्थिर हो चुके थे । खगोल के ज्ञान का प्रचार था। शकुन्तला के क्रूर ग्रहो की शान्ति के लिए महर्षि कण्व का तीर्थाटन करना यह सूचित करता है कि ग्रहशान्ति के लिए मागलिक अनुष्ठान किए जाते थे । राष्ट्रीय जीवन मे आश्रमो का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था तथा इनकी सब प्रकार से रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य होता था । इन्ही आश्रमो मे शान्त और पावन वातावरण मे बालक-बालिकाओ को यथोचित शिक्षा दी जाती थी । अहिंसा, तपस्या और त्यागवृत्ति इन आश्रमो की अपनी निधियाँ थीं। तपस्या के प्रभाव पर तो कालिदास ने स्थल-स्थल पर आलोक डाला है । दुष्यन्त जैसे सम्राट का हेमकूट के मारीच आश्रम को देखकर यह कहना—"स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्"

दिव्य आनन्द के उस गम्भीर वातावरण मे आत्मविभोर होकर पुनः यह कहना—"असृत ह्रदमिवावगाढोऽस्मि" आश्रमो के नैसर्गिक सुख और शान्ति का द्योतक है।

समाज को सर्वतोमुखी समृद्धि का ध्यान रखते हुए आध्यात्मिक सिद्धि की ओर उन्मुख होना ही सुसंस्कृति का लक्षण होता है, अत सामाजिक तथा आध्यात्मिकता पर बल देकर कालिदास न अभिज्ञान शाकुन्तल के अंतिम भरतवाक्य में राष्ट्र के गौरव की घोषणा करते हुए स्पष्ट कहा है—

> प्रवर्तता प्रकृतिहिताय पार्थिव
> सरस्वती श्रुतमहता महीयताम् ।
> ममापि च क्षपयतु नीललोहित
> पुनर्भव परिगतशक्तिरात्मभू ।।

व्यक्तिगत साधना और लोकसंग्रह की भावना, दोनों का यथेष्ट समन्वय ही भारतीय संस्कृति का जीता-जागता स्वरूप है। त्याग और तप इसके प्रबल साधक हैं। लोक-संग्रह की भवाना से प्रेरित होकर प्रजा के हित मे रत रहे, विद्या की वृद्धि से राष्ट्र समृद्ध और व्यक्तिगत साधना पर रीझ कर परमशिव मोक्ष प्रदान किया करें। सामाजिक अभ्युदय के साथ शान्ति की उपलब्धि आवश्यक है। इतना ही कवि का अमर सांस्कृति सन्देश है।

रघुवंश की संस्कृति—रघुवंश महाकाव्य मे भी वर्णाश्रम धर्म अपने निर्मल रूप में व्यवस्थित दिखाई देता है। वसिष्ठ और वरतन्तु जैसे ब्राह्मण अपने मे विविध विद्याओ के अध्ययनाध्यापन में सलग्न रहते है। दिलीप और रघु जैसे गुरुभक्त क्षत्रिय-नृपति विश्व-विजय करने मे समर्थ और प्रजा के रक्षण म निरत हैं। वैश्यवर्ग गो-सेवा और कृषि के द्वारा तथा विदेशों से व्यापार करके देश को समृद्ध करने मे लगा है। निषाद आदि शूद्रवर्ण के लोग विद्वानो और वीरों की सेवा करते हुए विविध उद्योगो के द्वारा राष्ट्र की शक्ति और श्री की वृद्धि कर रहे हैं। राजदरबारो मे चारों

वर्णों का सहयोग और समन्वय दिखाई देता है । रघु और राम के राज्याभिषेकों के वर्णन तथा इन्दुमती और सीता के स्वयम्वरों के दृश्य चारों वर्णों के सम्मिलित प्रयत्नों पर प्रकाश डालते हैं । सुदक्षिणा, अरुन्धती और सीता जैसी पतिव्रता स्त्रियों को समाज में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है । उन्हें उनके पतियों से किसी प्रकार भी कम प्रतिष्ठा नहीं प्रदान की जाती । ये सब उच्च शिक्षा प्राप्त विदुषी स्त्रियाँ हैं । इनसे स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस समय ऋषियों के आश्रमों में बालक-बालिकाओं को उच्च शिक्षा देने के साधन विद्यमान थे ।

ब्रह्मचारी लोग आश्रम में गुरु के समीप रहकर ही विविध विद्याओं और कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते थे । गुरु की सेवा करके लोग शिक्षाशुल्क से मुक्त हो जाते थे । प्रायः शिक्षण-शुल्क से मुक्ति पाये हुए विद्यार्थी भी गुरुदक्षिणा देने को उत्सुक रहा करते थे । ऐसा ही एक कौत्स नाम का ब्राह्मण शिष्य अपने वरतन्तु नामक गुरु को चौदह विद्याओं के बदले चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें देने के लिए सम्राट् रघु के पास धन-याचना करने जाता है । आश्रमों के गुरुजनों एवं विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना गृहस्थों का धर्म था और शासन सब प्रकार से उनकी रक्षा करता था । ये आश्रमवासी भी तिन्नी के चावलों तथा श्यामक आदि धान्यों का छठा भाग राजा को कर रूप में देने के लिए जलाशयों के तटों पर रख देते थे। जहाँ से राजकर्मचारी ले जाकर राज्य के कोष में जमा कर देते थे, वानप्रस्थी और यती लोग भी इन आश्रमों में ही रहते थे, जहाँ आनेवाली पीढ़ी के गृहस्थ तैयार किये जाते थे ।

अतिथि-सत्कार का विशेष महत्व था । ब्राह्मणों को यज्ञ-यागादि में प्रभूत दक्षिणा दी जाती थी । विश्वविजय करने के उपरान्त चक्रवर्ती रघु ने विश्वजित् यज्ञ में अपनी सारी सम्पत्ति ऋत्विजों को दान में दे डाली । ऐसी विषम परिस्थिति में कौत्स अपने गुरु को दक्षिणा में देने के लिए धन माँगने रघु के पास आता है । फिर भी रघु मिट्टी के थाल में ही पूजन-सामग्री रख कर विधिवत् उसका अभिवादन तथा नीराजनादि करके अग्निशाला में टिका लेते हैं । दो

तीन दिन के भीतर उसकी कामना पूर्ण करने का प्रयत्न करने को वचनबद्ध भी हो जाते हैं। सबसे अधिक चिन्ता तो रघु को यह है कि—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा
रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे
मा भूत् परीवादनवावतारः ॥रघु० ।५-२४॥

गुरुदक्षिणा का इच्छुक, वेदों का पारङ्गत कोई विद्वान रघु के समीप अपनी याचना के पूर्ण न होने से किसी अन्य दाता के पास गया, पहली बार यह कलङ्क मेरे नाम पर न लगने दो।

कुछ ही समय पूर्व वरतन्तु, उनके आश्रम के लतापादपों, फलों जलाशयों एवं प्राणियों के क्षेम-कुशल सम्बन्धी प्रश्न करके रघु अपना राजा होना सार्थक सिद्ध कर चुके है।

यहाँ अतिथि-सत्कार का आदर्श रूप कालिदास के हाथों में पड़कर निखर उठा।

कालिदास द्वारा चित्रित पात्रों के चरित्र अपूर्व और आदर्श होते भी कठोर जगत् के निर्मम आघातों से उत्पन्न विविध संवेदनाओं से परिचित हैं।

अश्वघोष द्वारा अंकित बौद्ध-संस्कृति

कनिष्क के राजकवि अश्वघोष ने ईसा की प्रथम शताब्दी मे अपने महाकाव्यों मे तत्कालीन बौद्ध-संस्कृति, जो भारतीय संस्कृति का ही एक अंग विशेष है, के सच्चे स्वरूप को काव्य की मधुर भाषा मे समझाने का प्रयत्न किया है। बुद्ध के दार्शनिक तथ्यों का निरुपण साधारण जनता की भावना को प्रेरणा देने के लिए करना था जिससे कि उन्हें अपने वास्तविक जीवन मे उतार सके। उदाहरणार्थ अपने प्रथम काव्य 'सौन्दरनन्द' में वह बुद्ध के उपदेश से उनके छोटे भाई नन्द के बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने का चित्रण करते हैं। यहाँ कवि का उद्देश्य रोचक

काव्यशैली द्वारा जनता को ऐहिक भोगों को त्याग कर पूर्णतः वैराग्य की ओर उन्मुख करना था। सरल भाषा में कोमल भावों की सजीवता दर्शनीय है—

> त गौरव बुद्धगत चकर्ष भार्यानुराग पुनराचकर्ष।
> सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंस ।४।४२॥

एक ओर तो नन्द बुद्ध के उपदेशों से आकृष्ट हो रहे है दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। इस अनिश्चय की अवस्था में वे न तो वहाँ से जा सकते है और न रुक ही सकते हैं, ठीक जैसे तरंगित नदी की धार के विरुद्ध तैरता हुआ हंस न तो आगे बढ़ता है और न पीछे ही हट सकता है।

बुद्ध-चरित्र—बुद्ध-चरित्र नामक २८ सर्गों के दूसरे महाकाव्य में कवि कलाकार के नाते अधिक सफल हुआ है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ४०४ ई० का तथा तिब्बती अनुवाद ८०० ई० का उपलब्ध है। कथा के प्रवाह में बीच-बीच में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का मार्मिक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इस स्थल पर एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। यशोधरा वन में गये अपने पति की चिन्ता में मग्न है:—

> शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशितूर्यनिस्वनै।
> कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥

राज-सुख-वैभव की समृद्धि और वनवास की अकिञ्चनता की कैसी मार्मिक तुलना है। 'स्वर्णजटित निर्मल शयन में सोकर प्रबोध मंगल की मधुर स्वर लहरी सुनकर जगनेवाले मेरे व्रती, केवल एक वस्त्रधारी आज पृथ्वी पर कैसे सोवेंगे' यह चिन्तन नितान्त स्वाभाविक है।

अश्वघोष के काव्यों में शृंगार और करुणा से पुष्ट होकर शान्त रस खिल उठा है, जो बौद्ध-संस्कृति का सर्वस्व है।

भारवि द्वारा अंकित संस्कृति

'किरातार्जुनीय' लिखते समय भारवि का उद्देश्य सम्भवत अपने युग की प्रवृत्ति को तृप्त करना था। एक श्रेष्ठ कवि कहे जाने के लिए, उस युग मे किसी न किसी महाकाव्य की रचना करना आवश्यक समझा जाता था। यह उनका एकमात्र महाकाव्य है। उसकी रचना मे महाभारत को उपादान के रूप मे ग्रहण किया गया है। व्यास के परामर्श से शक्ति-सचय के लिए पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति हेतु अर्जुन द्वारा तपस्या, उन्ही दिनो मे उनके द्वारा किरात-वेशधारी शिव से युद्ध और उनका वीरता से प्रसन्न शिव से वर के रूप मे पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति—महाभारत के वनपर्व की यह घटना ही किरातार्जुनीय के कथानक का मूल है। महाभारत एक विशालकाय महाकाव्य है, जिसमे विविध पात्रो के जीवन की विभिन्न परिस्थितियो का चित्रण समाविष्ट है। कौरवो और पाण्डवो के जन्म से लेकर महाभारत युद्ध तथा उसके पश्चात् तक की अनेक घटनाओ का सकलन होने के कारण उसमे तत्कालीन नैतिक आदर्शो और सामाजिक मूल्य को उपस्थित करने का अधिक अवकाश था, जो भारवि को तब तक प्राप्त नही हो सकता था, जब तक वे संस्कृति के चित्र उपस्थित करने को ही अपना ध्येय न बना लेते। फिर भी तत्कालीन सांस्कृतिक मूल्यो, मान्यताओ अवधारणाओ, गतिविधियो के संकलन का किरातार्जुनीय मे अच्छा निदर्शन मिलता है।

इस महाकाव्य के अध्ययन से हमे भारतीय संस्कृति के एक विशिष्ट चित्र के दर्शन होते है। उसमे उस यथार्थवादी प्रवृत्ति का पूर्वाभास मिलता है जिसका माघ के काल तथा परवर्ती युग मे उत्तरोत्तर विकास होता गया। दुर्योधन के राज्य की व्यवस्था की यथार्थ परिस्थितियो, तदन्तर्वर्ती छिद्रो तथा दुर्बलताओ का ज्ञान करने के लिए, पाण्डवो ने जो दूत भेजा था, उसने लौटकर अपना जो प्रतिपादन प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि सिद्धान्त रूप मे नैतिकता, सच्चरित्रता, सयम, इन्द्रियनिग्रह, त्याग और तपस्या का साम्राज्य था। दुर्योधन जैसे दुष्प्रवृत्ति-प्रधान राजा को भी लोक-प्रियता अर्जित करने के

लिए बाह्यरूप मे सदाचार और सत्प्रवृत्तियो का बाना पहनना पडा है। उसके दोहरे व्यक्तित्व के माध्यम मे कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि समाज मे ऊँची स्थिति के लोग भी प्रकट रूप से सामाजिक मर्यादाओं के विरुद्ध आचरण करने मे सकुचित होते थे। वर्णाश्रम धर्म की नीवें उतनी दृढ अब नही रह गई थी, जितनी कालिदास के समय मे थी। वृहस्पति इत्यादि की स्मृतियो का स्थान अब मनुस्मृति ने ले लिया था। दुर्योधन मनु के बताये हुए सदाचार के नियमों के पालन का यथासंभव प्रयत्न करता है।

वीरो और योद्धाओ का इस युग मे भी बहुत सम्मान किया जाता था। लोग स्वामिभक्त तथा प्रणापण से स्वामिहित के लिए चेष्टा करने वाले होते थे। गुप्तचरो का इस युग के शासन सम्भार मे महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे सच्चरित्त होते थे और अनेक उपायों द्वारा शत्रु की गतिविधि का निरीक्षण करके अपने स्वामी को उसका पता देते थे। इसके साथ ही नैपुण्य की सफलता का प्रदर्शन इससे भी होता था कि उनके स्वामी के छिद्रो का ज्ञान शत्रु के गुप्तचर न प्राप्त कर सकें।

भारवि के समय मे कौटुम्बिक जीवन सुखमय था। 'किरातार्जुनीय' के चरित्रों मे आदर्श भ्रातृप्रेम, अनन्य पति प्रेम स्वामी सेवक भाव मे सौहार्द एव लोक व्यवहार की अन्य अनेक विशेषताओं का सकलन है। समाज की आर्थिक स्थिति विपिन्न नहीं थी। लोग सुखी थे और धनधान्य से समृद्ध थे। कृषि को अच्छे कार्यों की कोटि मे गिना जाता था। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि मनस्वी लोग मान रक्षा को ही अधिक महत्व देते थे और धन सम्पत्ति को उसकी तुलना मे अवर स्थान प्रदान करते थे।

महाभारत से उपादान ग्रहण करने के कारण और राजनीति से घनिष्ठतया सम्पृक्त होने के कारण 'किरातार्जुनीय' मे युद्धनीति और राजनय के ही अधिक चित्र उपलब्ध होते हैं। इन चित्रों मे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि राजनीति के क्षेत्र मे दो प्रवृत्तियाँ विकास प्राप्त कर रही थी। एक तो क्षिप्रकारिता और अधीरता को प्रधानता देने वाली थी और दूसरी धैर्य और दूरदर्शिता से सम्बन्धित थी। पहली नीति के प्रतिनिधि भाव रूप भीमसेन और द्रौपदी मे

द्वारा युधिष्ठिर को दिये हुए परामर्श मे प्राप्त होते हैं। विभिन्न तर्कों द्वारा अपने पक्ष का समर्थन करते हुए इन लोगो का कथन है कि दुर्योधन से शीघ्रातिशीघ्र निपटारा कर लेना चाहिए। दूसरी नीति के प्रतिनिधि युधिष्ठर स्वय हैं जो धैर्यपूर्वक समय की गतिविधि देखकर, किसी प्रकार भी शीघ्रता करने के पक्ष मे नही हैं। उनमे बडी सन्तुलित विवेक-दृष्टि है। उनके अनुसार लक्ष्मी का उपभोग संयमहीन लोगों के लिए नही है और धन तथा ऐश्वर्य सदा किसी का साथ नहीं दे सकते।

वस्तुत प्राचीन हिन्दू जाति के जीवन मे यह विवेकपूर्ण सन्तुलन सङ्कट के काल मे विशेष रूप से दिखाई देता है। जीवन के भोगैश्वर्यों को स्वीकार करते हुए भी भारतीय विचारक उन्हें अस्थायी और नाशवान मानता है। ऐश्वर्य एव सुखभोग के लिए यथेष्ठ यत्न करते हुए भी वह उन्हे इतना महत्व नही दे सकता कि उनके लिए सम्पूर्ण सदगुणो एव सद्वृत्तियो का बलिदान कर दिया जाय।

शिशुपालवध में चित्रित संस्कृति

माघ का शिशुपालवध बीस सर्गो मे विभक्ति एक विशालकाय महाकाव्य है, जिसमे महाभारत की एक छोटी सी घटना—युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे भगवान् कृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध—को आधार बनाकर कवि ने कथानक का विस्तार किया है। उचित कथानक के आश्रय से इस महाकाव्य मे कवि को तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक मानदण्डों को उपस्थित करने का पर्याप्त अवसर मिल गया है।

माघ के इस महाकाव्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय सस्कृति इस समय एक मोड पर थी। आदर्शवादिता पर धीरे धीरे यथार्थ-वादिता का रग चढता जा रहा था। यद्यपि लोगो के हृदय मे सैद्धान्तिक रूप मे सत की प्रवृत्ति के प्रति आदर एव श्रद्धा के भाव विद्यमान थे, परन्तु उनक चतुर्दिक विद्यमान समाज की यथार्थ परिस्थितियों से उनकी अनुरूपता किंवा अनुकूलता न होने के कारण इस युग मे लोगो के सिद्धान्तो और कार्यों मे

सगति न बैठ पाती थी। लोगो मे धीरे-धीरे सद्गुणों और आत्मसंयम की न्यूनता आती जा रही थी। इतना सब होने पर भी तपस्वी, त्यागी, आत्म-संयमी और सद्गुण सम्पन्न आदर्श व्यक्तित्व से युक्त लोगो का समाज मे अत्यधिक मान था। ऋषि-मुनियो का इस युग मे इस लोक से ऊपर किञ्चित् अप्राप्य समझा जाता था और उनका दर्शन होना भी अतीव पुण्य का फल माना जाता था। यहाँ तक कि नारद का दर्शन होने पर कृष्ण जैसे अवतारी पुरुष के मुख से भी कवि ने यही कहलाया है कि शरीरधारियों को नारद का दर्शन होना उन लोगो के भूत, वर्तमान और भविष्य के पुण्यो से सम्भव और तीनो कालों मे उनके उत्कर्ष रूप फल को प्रदान करने वाला है।

हरत्यघ सम्प्रति हेतुरेष्यत शुभस्य पूर्वा चरितै कृत शुभै।
शरीरभाजा भवदीयदर्शन व्यनक्ति कालत्रितये अपि योग्यताम ॥

नारद को इस प्रकार सामान्य शरीर भाक् लोगो के लिए इतना अधिक आदरास्पद तथा श्रद्धास्पद बना देना वस्तुत माघ के समय की उस प्रवृत्ति का परिचायक है जिसके अनुसार त्याग, तप, संयम और इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि गुणो की प्राप्ति को जीवन का परम और चरम पुरुषार्थ माना जाता था।

कृष्ण ने नारद जी के आगमन पर उनका जो स्वागत किया वह केवल एक सामान्य अतिथि का स्वागत न होकर उन गुणो के प्रति श्रद्धा और समादर का प्रदर्शन था जिनके नारद प्रतीक थे।

माघ के युग मे समाज के उच्च वर्ग मे विलासप्रियता की वृद्धि हो चली थी। कृष्ण के बडे भाई बलराम का सुराप्रेम और सुन्दरी रेवती के प्रति उनकी अनुपम आसक्ति के कई सन्दर्भ मिलते हैं। अनेक सर्गों मे कृष्ण के वन विहार जल–विहार, पान–गोष्ठी और रात्रि की क्रीडाओ के वर्णन मे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उस युग मे नायको के लिए ही नही उच्च-वर्ग के सभी लोगों के लिए इस प्रकार के आचरण बुरे नही समझे जाते थे। तभी तो बलराम के युद्धोत्सुक रूप का वर्णन करते हुए कवि ने उनकी रजोगुणी प्रकृति के दूसरे पहलू का चित्रण भी अत्यन्त स्वच्छन्दता से किया है और हाला

से मद से लाल उनकी आँखों को रेवती के मुख की उच्छिष्ट सुरा से पवित्र बताया है। रेवती के मुख की मदिर सुरभि का उनके (बलराम के) मुख से निकलना भी विशिष्ट व्यंजना का संकेत है।

कृष्ण ने जब द्वारका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान किया, तो वे ससैन्य ही नहीं थे, उनके साथ अनेक रमणियाँ भी थीं। मार्ग में रैवतक पर्वत पर उनके रुकने और शिविर सन्निवेश के अवसर पर घोड़ों और यानों से उतरती हुई स्त्रियों का सुन्दर वर्णन हुआ है। अगले सर्गों में उनके द्वारा पुष्पचयन, विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों से शरीर का अलंकरण और दूती प्रेषणआदि का वर्णन भी है। पानगोष्ठी और रात्रि में व्यक्त तथा प्रच्छन्न क्रीडाओं का भी चित्रण कवि ने उल्लासपूर्वक किया है। इन सबमें केवल यह व्यक्त होता है कि विलासप्रियता उस युग में ऊँचे स्तर पर फैलती जा रही थी।

विलास की वृद्धि तभी होती है, जब समाज की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो। तीसरे सर्ग में द्वारका के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि बाजारों में मणियों के ढेर लगे रहते थे, समुद्र की लहरें कभी-कभी घुसकर उन रत्नों में से कुछ को चुरा ले जाती थीं। इन्हीं के उपादान से उसने रत्नाकरत्व प्राप्त किया है †। एक स्थान पर वैदूर्य मणियों से जड़ी हुई दीवालों का भी वर्णन है ‡। इन सब वर्णनों से, उस समय की आर्थिक समृद्धि का चित्र स्पष्ट हो जाता है। युधिष्ठिर के सभागृह के वर्णन में ऐश्वर्य के उत्कर्ष का चित्र प्राप्त होता है।

शिशुपालवध में हमें दो आपाततः विरोधी नैतिक आदर्श देखने को

शिशुपालवध ३/३८
३/४३

मिलते है। इनके प्रतीक और आश्रय बलराम और उद्धव है। शिशुपाल का वध पहले किया जाय या युधिष्ठिर का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होने के उपरान्त उधर दृष्टि फेरी जाय, इस समस्या पर इन दोनो का मत एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। बलराम का कथन है कि शत्रु को सबसे पहले समाप्त करना चाहिए। उनकी दृष्टि मे नीति के मौलिक तत्व केवल दो है—अपना उत्कर्ष और शत्रु का अपकर्ष। उनके अनुसार पराई अवज्ञा के दुःख से दग्ध व्यक्ति का जीवन ही व्यर्थ है, उसका जन्म न लेना ही अच्छा है। उद्धव बलराम की उच्छृङ्खलता के समर्थक न होते हुए भी यथार्थवादी है। उनकी नीति मे युधिष्ठिर का आदर्शवाद नही है। तत्काल शिशुपाल पर आक्रमण करने से रोकने का एक ही उद्देश्य है कि इस प्रकार युधिष्ठिर के यज्ञ मे विघ्न डालकर कृष्ण पाडवो की भी सहानुभूति खो देगें। स्पष्ट ही नैतिक दृष्टि मे इस परामर्श का अधिक मूल्य नही है।

वस्तुत इन दोनो के परामर्शों की आधार-भूमि एक ही है—आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ओर अधिक उन्मुखता। इसका चरमोत्कर्ष बलराम की नीति मे है, जब वे कहते हैं—

> यजता पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः ।
> वयहताम द्विषत सर्वे स्वार्थं समीहते ॥

यह "सर्वे स्वार्थं समीहते" वाली प्रवृत्ति इस युग मे प्राधान्य ग्रहण कर रही थी। वस्तुत भारतीय संस्कृति उत्तरोत्तर यथार्थवादी होती गई है।

कृष्ण मे हम यथार्थ और आदर्श का समन्वय प्राप्त होता है। हम पहले कह चुके है कि समन्वय भारतीय संस्कृति का मूल तत्व रहा है। यही कारण है कि उत्कर्ष और अपकर्ष के अनेक युगो मे, लम्बी-लम्बी यात्रायें कर चुकने पर भी, भारतीय संस्कृति की जीवनी शक्ति अक्षुण्ण रही है।

नैषध की सस्कृति

सस्कृत महाकाव्यो म श्री हप रचित नैष धीय चरित का अपना विशिष्ट स्थान है। श्री हप के समय के कुछ ही पश्चात उत्तरीय भारत को मुसलमानो से टक्कर लनी पडी। श्री हप के समय तक देश पर मुसलमानो के भय की तिमिरच्छाया नही पडी थी अतएव इस महाकाव्य म भारतीय सस्कृति का विशुद्ध रूप देखने को मिलता है वैसे तो नषध की कथानक पुराणों के अधार पर लिखा गया है परत यह निश्चित है कि नषध व वणन श्री हप के समय की सस्कृति का प्रस्तत करते है।

नैषध के अनुसार त त्कालीन समाज म वर्णाश्रम धम पणतया प्रतिष्ठित था। ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य तथा शद्र चारो वण और ब्रह्मचय गहस्थ वान प्रस्थ तथा स यास य चारो आश्रम अपनी अपनी मर्यादा क पालन के लिए परी तरह सचेष्ट थे। ब्रह्मचर्याश्रम म विद्यार्थी गरु के पास रहकर भि क्षाटन द्वारा वास चलाते हुए विद्याध्ययन करते थ। ब्रह्मचारी मौंजी मखला पहनते थे और दण्ड धारण करते थे। अ ध्ययन के लिए उस समय हस्तलिखित पुस्तको का प्रचलन हो चुका था। पत्र क समय खडिया और पटी यवहार म लाई जाती थी। प्राचीन प्रथा के अनसार गहस्थ घर बनाकर रहते थे। वानप्रस्थी घर त्याग कर बन म चल जात थे अथवा मठो म भी निवास करत थ। प्रात स ध्या तथा मध्याह्न तीनो वेलाओ म देवपजन किया जाता था और यह दृढ विश्वास था कि देव ही मनुष्यो के लिए क पवक्ष है। शिव विष्णु और शालिग्राम की पूजा विधि विधान से की जाती थी दशावतारो के साथ कृष्ण प्रिया राधा की भी पजा होने लगी थी। गहस्थ-आश्रम उस समय भी सबस श्रेष्ठ माना जाता था। वेदो के अध्ययन की बडी प्रतिष्ठा थी और गहस्थ लोग भी उनका अध्ययन करते थे। अतिथि सत्कार का बडा माहात्म्य था। श्री हप न अपने काव्य म कई स्थानो पर अतिथि स त्कार की महत्ता की चचा की है। शिष्टाचार के अनसार अतिथि क आने पर सवप्रथम नमस्कार तथा

प्रिय वचनों द्वारा कुशल क्षेम पूछी जाती थी । वानप्रस्थ-आश्रम मे भी अतिथि-सत्कार का उतना ही महत्व था । समाज मे ब्राह्मणो का विशेष आदर था । क्षत्रिय वर्ण प्राय राजा हुआ करता था । राजकुमार वेदाध्ययन के साथ किसी प्रवीण व्यक्ति से अस्त्र-शस्त्र विद्या भी सीखते थे । राजदरबारो म कवि, विद्वानो एव गुणीजनो का आदर होता था । राजा प्रतिदिन ब्राह्मण को दान दिया करता था और यज्ञ आदि कृत्यो से देवताओ को तथा कूप और बावली आदि के निर्माण के द्वारा प्रजाओ को सन्तुष्ट रखता था। राजाओं मे बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी । शत्रु के साथ निर्दय व्यवहार करने का भी उल्लेख है । कभी-कभी शत्रु के नगरो का जलाना वध करना, धन का अपहरण करना गढ लूटना आदि कठोर अत्याचार भी किये जाते थे । राजा अपनी अनुपस्थिति म शासन का भार मन्त्रियो को सौंप देता था ।

नैषध म वैश्य वर्ण का उल्लेख प्राय नहीं हुआ है । परन्तु देश के वाणिज्य एव व्यापार के विषय मे स्थान-स्थान पर जो उल्लेख है उनसे देश की सम्पन्नता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । शूद्र वर्ण को वेदो के अध्ययन का अधिकार नहीं था । चारो वर्णों से बहिष्कृत और अलग 'चाण्डाल' का भी उल्लेख है । वह वनो म रहता था और कोई उसको स्पर्श न करता था । द्विज उसे देखना भी नहीं चाहते थे । दास प्रथा भी प्रचलित थी । स्वयवर बडे विशाल रूप मे आयोजित किये जाते थे और एक विराट् मेला सा लग जाता था । दूर दूर से लोग वहाँ आते थे और उनमे परस्पर वार्तालाप का माध्यम सस्कृत भाषा होती थी । स्वयवर के अन्त म कन्या जिस युवक का वरण करती थी उसके गले मे दुर्वांकुर से सुशोभित मधूक माला डालती थी । स्वयवर के पश्चात विवाहसस्कार श्रुति और स्मृति की विधि से सम्पन्न किया जाता था । विवाह के अवसर पर वीणा, शहनाई घटा ढोल मृदग, झझरी वशी हुडुक डफला आदि बाजे बजाने का उल्लेख है । विवाह के अवसर पर वर-कन्या का उचित शृगार किया जाता था । स्त्रियाँ मगलगान करती थी और वर यात्रा भी धूम धाम स प्राय रात को निकाली जाती थी ।

विवाह के अवसर पर कन्या का पिता वर को यौतक (दहेज) में अनेक उपहार भेंट करता था। सभी सम्बन्धियों तथा मित्रों द्वारा भी उपहार दिये जाते थे।

लज्जा स्त्रियों का आभूषण माना जाता था। चरित्र की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पातिव्रत धर्म की विशेष प्रतिष्ठा थी। स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। सती प्रथा का पूर्ण प्रचार था। पति के मरने पर स्त्रियाँ अपनी चूड़ियाँ (शंखवलय) तोड़ डालती थीं। जनसमाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन हो चुका था। व्यभिचारिणी स्त्री हेय दृष्टि से देखी जाती थी और उसके सिर के केश काट कर उसे घर से निकाल दिया जाता था।[१]

नैषध में विविध प्रकार के भोजन, वस्त्र और अलंकारों का उल्लेख है। इनमें तत्कालीन समाज की परिष्कृत और सुसंस्कृत रुचि का पता चलता है और उसकी सम्पन्नता भी ज्ञात होती है। शरीर में सुगन्धित अंगराग कुंकुम कस्तूरी, चन्दन, आदि लगाने का बड़ा चलन था। पुरुष भी आभूषण धारण करते थे। राजकुलों और धनियों के आभूषण बहुमूल्य होते थे। स्त्रियों के आभूषण रंग बिरंग रत्नों से जड़े होते थे। शृंगार के समय दर्पण काम में लाये जाते थे। स्त्रियों के समान पुरुषों के भी केश लम्बे होते थे और उन्हें भी फूलों की कलियों से गूंथा जाता था। मुलम्मेदार तथा नकली आभूषण भी बनते थे।

श्री हर्ष के समय तक भारतीय चित्रकला एवं संगीत कला पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हो चुकी थी। तत्कालीन उन्नत चित्रकला का उल्लेख नैषध में अनेक स्थलों पर हुआ है। राज्यप्रासाद तो सुन्दर चित्रों से सुसज्जित किये ही जाते थे साधारण घरों की दीवारों को भी चित्रों द्वारा सुसज्जित करने की प्रथा थी। चित्रकार कल्पना द्वारा अत्यन्त सुन्दर भावपूर्ण चित्र बनाने में समर्थ थे और रंग विधान भी बड़ा आकर्षक, स्वाभाविक एवं कौशलपूर्ण होता था। संगीत का भी विशेष प्रचार था और स्वरों तथा मूर्च्छनाओं पर विशेष ध्यान दिया जाता था। संगीत की नृत्य, गीत एवं वाद्य तीनों शाखायें पूर्णतया विक-

जाती थी। राजकुमारियों को भी गायन वाद्य का उचित शिक्षा दी जाती थी। कुछ सुन्दरियाँ गायन और नृत्य का व्यवसाय भी करती थी। नैषध में नाट्य कला का भी उल्लेख है। भरत मुनि प्रणीत नाट्य-शास्त्र के अनुसार लिखी गई नाटिकाएँ राजप्रासाद में खेली जाती थीं। पुत्तलिकानृत्य भी प्रचलित था।

नैषध में सामाजिक जीवन के और भी अनेक पहलुओं का चित्रण हुआ है। शिष्टाचार का समाज में पूरा ध्यान रहता था। आचारहीन पुरुष निन्दित समझा जाता था। पितरों के प्रति श्रद्धा थी। यज्ञों का पूर्ण प्रचार था। कई प्रकार के व्रत भी प्रचलित थे। तीर्थोपासना का भी प्रचार था। जगन्नाथ जी प्रयाग, बद्रिकाश्रम आदि तीर्थों की यात्रायें श्रद्धापूर्वक की जाती थीं। कुछ लोग भूत पिशाचों की सत्ता तथा टोने-टोटके में भी विश्वास करते थे। शकुन विचार भी किया जाता था।

बौद्ध धर्म में आस्था बहुत कम हो गई थी। वैदिक धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो चुका था और राजाओं की ओर से वैदिक धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने वाले ब्राह्मणों को विशेष दान दिये जाते थे। महात्मा बुद्ध की विष्णु के अवतार के रूप में पूजा होने लगी थी और विहारों तथा चैत्यों में भगवान बुद्ध की पूजा करने वाले पुण्य के भागी माने जाते थे।

लेखन-कला का आविर्भाव

कलात्मक ध्वनि अथवा शब्दस हर्ष, विषाद तथा अन्य विचारों का व्यक्तीकरण हुआ। इनकी ध्वनियों का कोई स्थूल स्वरूप न होने के कारण उनको सदैव के एक नियत स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया। अतएव विभिन्न प्रकार के सभ्य लोगों ने उन ध्वनियों एवं शब्दों का आविष्कार किया जिनसे वे अपने मनोभाव व्यक्त कर सकें। परन्तु वह ध्वनि के सहारे जैसे आज कल ग्रामोफोन व रेडियो के द्वारा होता है वैसा न होकर प्रतीकों एवं उगलियों के माध्यम से होता

थे जिन्हें शब्दों के अक्षर कहते हैं शब्दों के संयोग से पूरा विचार व्यक्त होता था। परन्तु यह नहीं ज्ञात हो सका कि ऐसा आविष्कार किसने और कब किया। मानवीय सभ्यता के प्रसार में अग्नि के आविष्कार के समान लेखन-कला ने एक विशेष भाग लिया है। यदि एक बार सिद्धान्तों का संसार के किसी भी भाग में आविर्भाव हो गया तो विभिन्न प्रकार से उनका प्रचलन एवं प्रसार सम्भव है जैसा कि संसार में प्रचलित वर्णमालाओं से सिद्ध होता है।

लेखन-कला एक अत्यन्त प्राचीन कला है। अनेक बार अनुसन्धान करने पर भी यह ज्ञात नहीं हो सका कि इस कला का आविष्कार किसने, कब और कहाँ किया।

यह तो स्वतः सिद्ध है कि मानव आदि काल में अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए संकेतों का प्रयोग करता रहा होगा। सभ्यता के कुछ विकास होने पर ध्वनियों एवं शब्दों का आविष्कार किया गया, जिनसे अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करने में मानव को अधिक सुविधा हो। इन ध्वनियों और शब्दों का आविष्कार हो जाने के उपरान्त कालान्तर में उन्हें लिखित रूप देने का प्रयास भी किया गया। लेखन कला ने सभ्यता के प्रसार में अत्यन्त प्रशंसनीय योग दान दिया।

वेदों का कण्ठ परम्परागत होने से श्रुति कहा जाता है। सहस्रों वर्षों तक केवल कण्ठ, श्रोत्र एवं स्मरण-शक्ति के माध्यम से ही हमारे वेदों की रक्षा हुई। बाद में लेखन कला का आविर्भाव होने से उन्हें लिखित रूप में भी सुरक्षित किया गया। अत्यन्त प्राचीन काल से चारों वेदों में एक अक्षर और मात्रा तक की वृद्धि अथवा न्यूनता नहीं हुई, अतः भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता में संदेह की आवश्यकता नहीं है।

भारतीय परम्परा के अनुसार लेखन-कला का प्रसार ब्रह्मा से हुआ था। लिपि का नाम भी उन्हीं के नाम पर ब्राह्मी-लिपि रक्खा गया था। डा.

यह एक अत्यन्त प्राचीन अविष्कार माना जाता है। इस विचार का समावेश नारद स्मृति, मनुस्मृति के बृहस्पति-वार्तिक आह्निक-तत्व तथा ज्योतिष तत्व आदि ग्रन्थो मे मिलता है। भगवती सूत्र इसी लिपि की वन्दना से आरम्भ होता है। यही विचार जैनो के समवायाग सूत्र और पन्नावन सूत्र, तथा बौद्धो के ललित विस्तार आदि मे प्रसारित हुआ है।

लिखित प्रमाण के रूप मे आधुनिक प्रचलित लिपि का सर्वप्रथम लेख हमें 'पिपरावा' अस्थिपात्र मे प्राप्त होता है। इतिहासकार इस लेख के समय को ४२० ई०पू० निर्धारित करते हैं। मोहनजोदडो की खुदाई से भी हम कुछ मोहरें प्राप्त हुई हैं, जिनकी लिपि तथा भाषा को अभी पढा नही जा सका है। इनका समय ३०००ई०पू० निर्धारित किया गया है। अत यह स्पष्ट है कि ३०००ई० पू० मे भी भाषा और लिपि का, पढने और लिखने के रूप मे पर्याप्त विकास हो चुका था। भाषा के विकास द्वारा ही पूर्व-वैदिककाल मे भी हम लिपि के विभिन्न वर्णन उपलब्ध होते है।

३००० ई० पू० के लिखे हुए सकलन हमे मोहनजोदडो मे बहुतायत से प्राप्त होते हैं किन्तु इनकी भाषा एव लिपि अभी तक अपठनीय है।

यह सम्भव हो सकता है कि वे उस ब्राह्मी लिपि के प्रारम्भिक रूप मे लिखे गये हो जिनका कि प्रसारित रूप हमे पिपरावा अस्थि-पात्र के ४५० ई० पू० के लेख से प्राप्त होता है। इस विचार का पोषण इसलिए होता है कि २५०० ई० पू० से अवश्य ही कोई लिपि तथा भाषा प्रयुक्त होने लगी होगी। क्योकि बिना किसी रूप मे लिखे महत्वपूर्ण तथा विशाल वैदिक साहित्य जिसमे ३ प्रकार के उच्चारण का प्रयोग है इतने विशुद्ध रूप से नही रक्खा जा सकता, जिसमे कि कही शब्द या मात्रा का एक भी दोष न हो और जिसका कि एक हजार वर्ष बाद अनुसधान हुआ हो।

उत्तरवैदिक काल मे जोकि १००० ई० पू० से आरम्भ होता है लिपि तथा उसके प्रयोग के विभिन्न वर्णन हमे मिलते है। उदाहरणार्थ वाशिष्ठ के धर्म-सूत्र

(१६, १०, १४-१५) मे उन स्थानों का उदाहरण है जो कि कानूनी गवाही के तौर पर है तथा पाणिनि की व्याकरण यवनानी (ग्रीक लेखन कला) का संकेत करती है जो कि अन्य भारतीय लिपियों से पृथक है लिपिकार, अक्षर, ग्रन्थ, खन्ड तथा पटल आदि शब्द संस्कृत पुस्तकों मे प्राय पाये जाते हैं। पत्र तथा पुस्तको को ग्रन्थ कहते हैं। लिख, लेख, लेखन (लिखना) लेखक (लिखने वाला) आदि शब्दो का भी प्रयोग महाकाव्यों पुराणो, काव्यों तथा नाटकों मे हुआ है। भिक्खु पाचित्य तथा भिक्खुनी पाचित्य बौद्ध ग्रन्थो में लेख तथा लेखक शब्द का उल्लेख हुआ है। जातको में व्यक्तिगत एवं राज्य सम्बन्धी पत्रो का समावेश मिलता है और इसके साथ साथ महायश, राजकीय घोषणापत्र, और आचरण, कुटुम्ब तथा राजनैतिक सम्बन्धो के लेख भी प्राप्त होते हैं।

ऋणपत्र एवं पाण्डुलिपि का भी उल्लेख मिलता है। विनयपिटक एवं निकाया म एक खेल का उल्लेख है जिसे अक्खरिका कहते थे। इसका विशेष कार्य केवल आकाश व तारो से जो अक्षर बनते थे उन्हीं का अध्ययन करना था। जातको म लकड़ी के लिखने के तख्तो का भी उल्लेख है। महावग्ग म भी स्कूलों के पाठ्यक्रम का समावेश हमे प्राप्त होता है जिसम लेख (लिखना) गणना (गणित), रूपा (सिक्कों के द्वारा) गणना करना तथा प्रारम्भिक नाप-तौल का वर्णन है। इन्ही का उल्लेख हाथी गुफा पत्थर की लाट म जो कि खारबेला कालिंग मे है, हमे मिलता है। (ई० पू० १६५)

यद्यपि भारत मे लेखन कला के आविर्भाव अथवा ब्राह्मी लिपि के आरम्भ की किसी नियत तिथि तथा कारण को हम नहीं प्राप्त कर सकते, किन्तु इन उपर्युक्त अधारों में हम ३००० ई० पू० से इसके प्रचलन को मान सकते है। अतएव हिन्दू मास्तिष्क का सांस्कृतिक मूल्य तथा हिन्दू समाज का सभ्य रूढ़िगत चलन हमे लेखन कला के रूप मे प्राप्त होता है। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के विस्तृत साहित्य से प्राचीन भारत मे लेखनकला के आविर्भाव का प्रमाण मिलता है।

दो जैन सूत्र अठारह विभिन्न प्रकार के वर्णों की व्याख्या करते है तथा ललित विस्तार मे ६४ लिपियों का वर्णन है। भारत के वर्तमान वर्णों का ब्राह्मी लिपि से ही आविर्भाव हुआ है। इसका प्रमाण हमें ब्रह्मा की बादामी मूर्ति से मिलता है जिसमे मूर्ति के हाथ ताड के पत्तों बण्डल मे युक्त हैं एवं बाद मे ताड-पत्र की जगह कागज का प्रयोग किया गया है। इस कथा का पूर्ण विवरण चीन तथा बौद्ध फवानसुलिन मे प्राप्त होता है।

संस्कृत मे वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पाली तथा प्राकृत का भी पर्याप्त साहित्य प्राप्त है जिसमें बौद्धों के जातकों का एक विशिष्ट स्थान है। यत्र-तत्र पाण्डुलिपियो का उल्लेख भी मिलता है।

सर्वप्रथम लिखने के लिए कुछ विशेष वृक्षों के पत्रों तथा छाल, भोजपत्र आदि का प्रयोग होता था। तदुपरान्त जातको के अनुसार लकड़ी के साफ और सीधे तख्तो का प्रयोग किया गया।

अध्याय ८

भारतीय संस्कृति और विज्ञान

आधुनिक विज्ञान सांस्कृतिक विकास की ही देन है। विज्ञान का सदैव वही अर्थ नहीं रहा जो आज है। वैज्ञानिक क्रांति के प्रारम्भिक दिनों में विज्ञान का परिहास भी उड़ाया गया है। पर धीरे-धीरे उसका महत्व बढ़ा और आज उसे 'प्रगतिशील विचारों का चिन्ह कहा जाने लगा। यह कहा गया कि विज्ञान प्रकृति का ऐसा सही और परीक्षण-योग्य ज्ञान देता है, जो मनुष्य के मस्तिष्क को रूढ़ियों, कुसंस्कारों, भय और आतंक से मुक्त करता है। इस अर्थ में विज्ञान और संस्कृति का कोई विरोध नहीं है। संस्कृति मानव मन का संस्कार करके उसे उच्चतर मानव बनाती है और विज्ञान भी उसे भ्रमजाल से मुक्त कर सतर्क मनुष्य बनने में सहायता प्रदान करता है।

संस्कृति उच्चतर मनुष्य के लिए अनिवार्य है, पर यदि मनुष्य जीवन की साधारण आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता तो संस्कृति का ज्ञान निष्प्रयोजन हो जाता है। कहा भी है कि भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं करता' (बुभुक्षित किम्न करोति पापम्)। कुछ अर्थों में मनुष्य एक पशु है, पर क्या उसका उन्नयन नहीं हो सकता ? कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, पर उसका सौन्दर्य परखने के लिए कीचड़ की खोज परमावश्यक है। इसी प्रकार मनुष्य की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति उसे पशुता से ऊपर उठाती है।

जहाँ विज्ञान के ऊपर यह आरोप है कि उसने मनुष्य को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है, वहाँ यह भी सत्य है कि विज्ञान ने हमें ऐसी सुविधाएँ दी हैं कि जिससे आज सभी मानव-समुदाय या समाज सारा एक दूसरे के निकटतम आ सका। छपाई, फोटोग्राफी, यातायात के साधन, टेप-रिकार्ड,

ग्रामोफोन, चलचित्र आदि सभी मानव को मानव के निकट लाने के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हो रहे है । अत संस्कृति और विज्ञान के परस्पर पूरक होने मे ही मानव का कल्याण है ।

गणितशास्त्र

(१) अकगणित—गणित-शास्त्र का मूल अङ्क विद्या है, डा० गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा 'मध्यकालीन भारतीय सस्कृति' मे लिखते हैं—"भारतवर्ष ने अन्य देशों को जो अनेक बातें सिखाईं, उनमे सबसे अधिक महत्व अङ्कविद्या का है । ससार मे गणित की उन्नति का मूल वर्तमान अङ्क-क्रम है, जिसमे एक से नौ तक के अक और शून्य इन दश चिह्नों से सारा काम चल जाता है । मिस्र मे केवल १, १०, १०० तीन ही सख्याओ के मूल चिह्न थे । वहाँ ८ या ९ के लिये आठ या नौ बार एक का चिह्न बनाना पडता था । यूनान और रोम म केवल १, ५, १०, ५०, १००, १००० के चिह्न थे । इन्ही को दुहरा तिहरा कर वाछित सख्या की अभिव्यञ्जना कर लेते थे । इस रोमन अक, प्रणाली कहते हैं ।

वैदिकयुग की अकगणित-'दि स्कोप एण्ड डवलपमेण्ट आफ हिन्दू गणित' में वी० वी० दत्त लिखते है—'उस समय छोटी स छोटी और बडी से बडी सख्या गिनने की विधि ज्ञात थी ।

यजुर्वेद में—'इमा मे अग्र इष्ट का धेनव. एकाच, दशच, दशच, शतच शतच सहस्त्र च सहस्त्र चयुत च आयुत च नियुतं नियुतं च प्रयुतं च अर्बुदं च ००००'०० १७/२.

इसी वेद मे दो व चार के पहाडे का भी उल्लेख है । अत सिद्ध है कि जोड, ऋण, गुणन, भाजन आदि अकगणित के मौलिक सिद्धान्त वैदिक काल मे प्रौढ हो चुके थे ।

अथर्ववेद परिशिष्ट के गणित सम्बन्धी सोलह सूत्रों पर भारती कृष्ण-तीर्थ की ,Vedice Mathematics' पुस्तक बनारस हि० वि० वि० से १९६४ मे प्रकाशित हुई है जो अत्यन्त उपयोगी है ।

शतपथ ब्राह्मण में अंक गणना का उल्लेख है। उसके अग्निचयन वाले प्रकरण में ऋग्वेद के अक्षरों की संख्या दी गई है जो ४३२००० है।

ई० सन् के बाद की अंकगणित और सशून्य दशांश गणना विधि—

समय के अनुसार अंकगणित विकसित हुई और सशून्य दशांश गणना विधि का आविष्कार भारतियों ने किया, जिसका समस्त विश्व ऋणी है।

डा० मैकडानल ' हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर" में लिखता है — "ईसा से ४०० वर्ष तक इस विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।"

कायें ने 'इण्डियन मैथमैटिक्स' में लिखा है कि १२वीं शती में इस विधि का प्रचार अरबों ने योरप में किया और उन्होंने इसे भारत से सीखा।

दशगुणोत्तर पद्धति का सर्वप्रथम पूर्ण उल्लेख पातन्जलि योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने किया है।

यूसुफ जई इलाके की खुदाई में प्राप्त भोजपत्र की प्रति में इसी अंक शैली का प्रयोग है। अतः यह शैली विश्व को भारत की देन है।

तहकीकाते हिन्द में अल्बेरूनी ने भी इस विधि का श्रेय भारतीयों को दिया है। अरबी भाषा में संख्या को हिंदसा कहते हैं। ईसवी ५०५ के वाराह-मिहिर इस विधि का ध्यान रखते है, वे ३७५० को 'खबाणाद्रिरामा ' लिखते हैं। अंक बाईं ओर से गिने जाते हैं। ' इसके पूर्व आर्यभट्ट को भी इसका ज्ञान था। क्योंकि उसने वर्गमूल व घनमूल निकालने की विधि का वर्णन किया है। ब्रह्मगुप्त ईसवी ६२८ श्रीधर १००० ई० आदि भी इसे जानते है।'' 'दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया' आर० सी० दत्त।

६९५ ई० के मनखेड़ा के लेख में भी कलचुरी संवत् लिखा गया था। पंजाब में बक्खली में चौथी शती के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, जो अंकगणित सम्बन्धी हैं। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में लिखा है—

"इसमें कोई शक नहीं कि हमारे वर्तमान अंक-क्रम की उत्पत्ति भारतीय है। ७७३ ई० में भारतीय राजदूत इसे बगदाद लाया। वहाँ से यह योरप पहुँची। ब्रह्मगुप्त का 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और भास्कराचार्य का 'लीलावती' अंकगणित के चरमोत्कर्ष के प्रदर्शक हैं।

अकगणित का विकास ८ प्रकार से हुआ था— (१) जोड, (२) बाकी (३) गुणा, (४) भाग, (५) वर्ग, (६) घन, (७) वर्गमूल, (८) घनमूल। प्रो० विनयकुमार सरकार 'हिन्दू एचीवमेंट इन एक्जेक्ट साइन्स' में यूरोपीय विद्वान का एक उद्धरण देते हैं—"यह एक मार्के की बात है की भारत का गणित शास्त्र हमारे आज के विद्वान कहाँ तक काम मे लाते है और गंगा के किनारे के ब्राह्मणो के हम कितने ऋणी है।" आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कर आदि के ग्रंथ आश्चर्यकारक है।

(२) बीजगणित—गणित के इतिहास लेखक काजोरी का कहना है कि "बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान दियोफातुस को ३६० ई० मे बीजगणित का प्रथम अभास भारत से ही मिला था।" ४०० ई० और १२००—१४०० ई० के बीच का काल महान उन्नत-काल था। १६वी शती के प्रख्यात गणितज्ञ दमोर्गा लिखते हैं, 'दियोफातुस का बीजगणित ज्ञान भारतीय विज्ञान के समक्ष नाममात्र का है।" जर्मन गणितज्ञ हानकेल कहते हैं, "बीजगणित के आविष्कार का सारा श्रेय हिन्दुस्तान को है।'

आर्यभट्ट और वराहमिहिर बीजगणित के महान आचार्य है। इन्होने ज्यामिति के कार्यों का वर्णन किया है। पाश्चात्य विद्वान मिल आदि ने ज्यामिति का श्रेय अरबी को दिया है पर यह आर्यभट्ट को मिलना चाहिए। वराहमिहिर के पौलस सिद्धान्त मे भी इसका उल्लेख है। ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने अनेक साधारण समीकरणो को सुलझाया है।

डा० मैकडानल 'इण्डियास पास्ट' मे लिखते है—"भारतीयो का गणिशास्त्र मे सबसे बडा आविष्कार द्वितीय स्थल की असीमाबद्ध सख्याओ के समाधान की क्रिया का निकालना था। यह क्रिया १२वीं शती के सभी आविष्कारो से सूक्ष्म थी।" चलन-कलन का १७ वी शती का न्यूटन का सिद्धान्त १३ वी शती मे भास्कर ने आविष्कृत कर दिया था।—सुधाकर द्विवेदी।

इस प्रकार गणित के मौलिक तत्वो का विकास भारत मे हुआ था।

(३) रेखागणित—इसका यज्ञ से निकट का सम्बन्ध है और इसके विकास का सम्बन्ध वैदिक युग के यज्ञो से है। मैक्डानल लिखता है भिन्न भिन्न प्रकार

के यज्ञो के लिए भिन्न आकार की वेदियाँ बनाई जाती थी। इस सम्बन्ध मे ऋग्वेद मे रेखागणित के पारिभाषिक शब्दो का भी उल्लेख है जैसे —प्रभा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द आदि।

शुल्व सूत्र व रेखागणित —रेखागणित के विकास का स्पष्ट पता शुल्व-सूत्रो से चलता है। इनमे यज्ञ की वेदी के आकार नापने आदि का पूरा ब्यौरा मिलता है। कोण, त्रिकोण आदि नापने की विधि बताई गई है। ये सूत्र तीन हैं—

बोधायन, कात्यायन और आपस्तम्ब। इनका समय आर० सी० दत्त ८०० ई० पू०, मैक्समूलर व मैक्डानल ५०० ई०, बूहलर ४०० ई० पू० कहते है। आर० सी० दत्त का कहना है, "सूत्रों मे कुछ समीकरणो का उल्लेख आ गया है। इसे कुछ लोग यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस का सिद्धान्त कहते हैं।

भारतीय गणित के इतिहास लेखक विभूतिभूषणदत्त कहते हैं, "पाइथागोरस साध्य (यूनानी ५०० ई० पू०) का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण और विवेचन शुल्व म है। वर्ग व वर्ग विषयक सिद्धान्त का विवेचन भी शुल्व सूत्रों मे है।"

'ब्रह्मगुप्त ने ६०० ई० मे कई गणित सम्बन्धी ऐसी विधियाँ दी हैं जो' यूनानी व अरबों को ज्ञात न थीं। जैसे वृत्त का व्यास और त्रिभुज, विषमकोण चतर्भुज, वृत्त का क्षेत्रफल आदि निकालना।" —'विनयकुमार सरकार'

ज्यामिति का प्रयोग भी भारत से अरब और अरब से यूनान पहुँचा।

रेखागणित व ज्योतिष, शुल्व सूत्रो के बाद—१००० वर्ष तक का रेखा गणित सम्बन्धी साहित्य नहीं मिला। ई० म सन् के बाद आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि इसको पुन जीवन-दान देते हैं और धार्मिकता से पृथक करके ज्योतिष म सम्बन्धित कर देते हैं। नये-नये आविष्कार इस क्षेत्र मे हुए। वृत्तस्थचतुर्भुज की विशेषताये ब्रह्मगुप्त ने खोज निकालीं। ज्यामिति का विकास हुआ। इधर यह ज्ञानयूनानियों से प्रभावित भी होता रहा था। १८वी शती में यूक्लिड के ग्रन्थ का सस्कृत अनुवाद अरबी से पडितराज जगन्नाथ द्वारा किया गया।

डा० मैक्डानल का कहना है "हो सकता है गणित-ज्योतिष के साथ इसका ज्ञान यूनान से प्राप्त किया गया हो। किन्तु उसका अनुमान अब

भ्रमात्मक सिद्ध हो चुका है। अत यह निष्कर्ष निकलना कि 'त्रिकोणमिति' आदि का ज्ञान विदेशीय है" नितान्त भ्रान्त धारणा होगी।

'वैदिक मैथमेटिक्स' में पाइथागोरस थ्योरम की ही एक शाखा विशेष एपोल्लोनियस् थ्योरम (Apollonius Theorum) की सिद्धि अत्यन्त सरल ढग से दिखाई गई है, जो अन्यथा बडी दुरूह तथा श्रम-साध्य प्रणाली से सिद्ध होती है।

गणित ज्योतिष एवं फलित ज्योतिष:

प्राणिमात्र की प्रवृत्ति है कि वह सुरक्षित और सुखी रहना चाहता है। मनुष्य और पशु सभी अपने-अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते है। मनुष्य इस कार्य मे अपनी बुद्धि की सहायता लेता है। वह अपना तथा अखिल ब्रह्माण्ड का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार जीवनयापन करना चाहता है। वह वर्तमान पर ही न सोचकर भविष्य के परिणामो व प्रभावों पर भी गम्भीरता से विचार करता है।

भारतीय और यूरोपीय ज्ञान की खोज के इतिहास मे पता चलता है कि जैसे जैसे मानव का ज्ञान–भण्डार बढ़ता गया वैसे उसकी अनेकानेक शाखाएँ प्रशाखायें होती गईं। इस प्रकार धीरे-धीरे अनेकानेक विद्याओं का जन्म हुआ, जिनमें एक ज्योतिर्विज्ञान भी है जो मानव जीवन को पूर्वापर प्राकृतिक घटनाओ और तज्जन्य-परिणामों से परिचित कराता है।

प्रसिद्ध विद्वान जी० थिबाट (G Thibaut) का कहना है कि भारत मे गणित और फलित ज्योतिष परस्पर (ओतप्रोत) बहुत मिले जुले है। अधिकतर साहित्य एव लेखक दोनो प्रकारो के एक ही है। गणित भी ज्योतिष का अभिन्न अग सा है।

"ज्योतिष का शैशव (वैदिक युग)—ज्योतिष का प्रारम्भ वैदिक सूक्तो और ब्राह्मणो के आख्यानो मे प्राप्त होता है। नित्य प्रकाश का ज्ञान, जिसे ऋत भी कहा जाता है, वैदिक युग मे गतिशील के रूप म प्राप्त होता है। वैदिक युग मे ही ऋषियो का ध्यान गणना की अपेक्षा आन्तरिक्ष की घटनाओं की ओर अधिक गया।"

वैदिक यज्ञों के सम्पादन के लिए, ग्रह, नक्षत्र आदि का समुचित ज्ञान उपयोगी था विद्वानों ने ज्योतिष का उद्गम खोज निकालने की दिशा में अथक प्रयत्न किए हैं। प्रयत्नों के पश्चात कुछ तथ्य निश्चित किए है जिनमें आपस में मत-वैपरीत्य भी है। पर इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक वाङ्मय में ऐसे अनेक स्पष्ट संकेत और अस्पष्ट सूचनाएँ हैं, जिनसे ज्योतिष विषयक ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३/४४) में लिखा है "यह सूर्य वस्तुत न कभी अस्त होता है न उदित। यह दिन और रात इस पृथ्वी पर लाता है।"

शरत-सम्पात पर दिन-रात का समान होना-उन्हें ज्ञात था। सूर्य के क्रान्ति-वृत्त को चन्द्र के द्वारा २७⅓ दिन में तय करने के कारण २७ नक्षत्र बन गये थे। २८ वाँ अभिजित् भी कभी कभी गिना जाता था।

"उस समय यन्त्र न थे। नेत्रों से देखने का काम लिया जाता था। आर्य लोग चन्द्र, गुरु, मंगल, शनि आदि ग्रहों को जानते थे। वे वर्ष के १२ मास और मल मास (लौंद) भी जानते थे।"

तैत्तरीय संहिता में उल्लेख है "३० दिन का साधारण मास २९½ दिन का चान्द्र मास होता था।" वर्ष के १२ मास, ३ ऋतुएँ तथा ३६० दिनों का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में है। ध्यान देने की बात है कि "रोमवासी शुरू में १० मास और ३०४ दिनों का ही वर्ष मानते थे। ७०० ई० पू० से उन्होंने १२ मास और ३५४ दिनों का वर्ष मानना प्रारम्भ किया। ऐतरेय ब्राह्मण सूर्य और चन्द्र का सहवास अमावास्या का करता है। फिर भी वैदिक युग में सम्भवत ज्योतिष का कोई ग्रन्थ निर्मित नहीं हुआ।

वेदोत्तर कालीन वेदांग ज्योतिष—षट वेदांगों में एक ज्योतिष भी है। पूर्व कथनानुसार वेदांग ज्योतिष का लगधकृत एक छोटा सा ग्रन्थ प्राप्त है। इसके दो भाग है। एक आर्च ज्योतिष जिसमें ३६ श्लोक हैं, द्वितीय याजुष ज्योतिष है, इसमें ४३ श्लोक हैं। यह सूत्र शैली में है। मैक्समूलर इसे ३०० ई० पू० का तथा ह्विटनी १४०० ई० पू० का कहते हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र की गतिविधि

"दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया"

करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें ५ वर्ष के एक युग का कथन है, जिसका प्रत्येक वर्ष ३६६ दिन का होता है।

वैदिक युग के बाद कुछ प्राचीन ग्रन्थ—यद्यपि लगध के बाद सूर्य, गृत्समद, बृहस्पति, वसिष्ट, पराशर, गर्ग, कपिल, बादरायण आदि ज्योतिषाचार्यों का उल्लेख आर्य भट्टादि के साथ विविध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इनमें निश्चय ही ऐतिहासिक व्यक्ति अधिक हैं, जिनके ग्रन्थों का उल्लेख ही अन्य रचनाओं में प्राप्त होता है, पर उनके मूल ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं।

वैदिक-युग के बाद के ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ "वृद्धगर्गसंहिता" की मैन्युस्क्रिप्ट डा० वेबर को मिली थी। जैन उपांग 'सूरियपण्णित' भी ज्योतिष का प्राचीन ग्रन्थ है। अथर्ववेद के कुछ अंश भी ज्योतिष सम्बन्धी प्राप्त हुए हैं। प्रो० वेबर ने लेह में कुछ ज्योतिष सम्बन्धी हस्तलिखित ग्रन्थ क्रय किये थे। महाभारत और मानव धर्मशास्त्र के कुछ अंशों में ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेख हैं, जिनमें कृत, त्रेता, द्वापर और कलि चार युगों का उल्लेख है। सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में चार युगों के नामों का वर्णन चौपड़ के खेल के रूप में 'कलिः शयानो भवति उज्जिहानस्तु द्वापरः' आदि मिलता है। किन्तु विज्ञान के रूप में ज्योतिष का कोई दृढ़ अस्तित्व ई० पू० में नहीं दिखाई देता।[1]

ई० सन के बाद का भारतीय ज्योतिष और उसकी समीक्षा—यद्यपि सूत्र साहित्य में कुछ विद्वान गणित, ज्योतिष सम्बन्धी संकेत ढूँढते हैं, पर डा० थीबो इसे भ्रांतिमय अनुमान कहते हैं। "ई० सन् के पश्चात् का ज्योतिष-साहित्य पूर्णत वैज्ञानिक है, पर पूर्णत भारतीय नहीं है।" यह आजकल के कतिपय विद्वानों की धारणा है।

ई० सन के बाद के साहित्य को हम विशेष वैज्ञानिक ढंग से परख सकते हैं। प्रारम्भिक साहित्य को हम फलित ज्योतिष (Astrology) कहेंगे और पूर्ण विकसित विज्ञान को हम गणित ज्योतिष (Astronomy) कहेंगे। यद्यपि दोनों नक्षत्र-विज्ञान हैं, "Both are Sciences of Stars" अब हम क्रमशः फलित और गणित ज्योतिष पर पृथक-पृथक विचार करेंगे।

[1] "दि कल्चरल हेरिटेज—ऑफ इण्डिया"

आर्यभट्ट—वराहमिहिर द्वारा उल्लिखित प्राचीन ज्योतिषाचार्यों मे आर्यभट्ट है, जिनकी पुस्तक है 'आर्यभट्टीय', जो गणित ज्योतिष दोनों के इतिहास मे समान महत्व रखती है। यह आर्या छन्द में है और चार छन्दो (अध्यायो) मे विभक्त है। इसमे शास्त्रीय ढंग से ज्योतिष का विकास दिखाया गया है। आर्य भट्ट ने सूर्य और तारो के स्थिर होने, सूर्यग्रहण और चन्द्र ग्रहण, सूर्य की गति और पृथ्वी की परिधि का पता लगाया। वह कहते हैं कि पृथ्वी दिन भर म अपनी धुरी पर घूम जाती है। परन्तु परवर्ती काल के ज्योतिषियों ने विशेषत: वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने इस बात को अस्वीकार कर दिया। इस सिद्धान्त के बारे मे डा० मैक्डानल कहते हैं— यह प्रमाणित (सिद्ध) नही किया जा सकता कि यह सिद्धात जो कि परवर्ती भारतीय गणित ज्योतिषियों द्वारा अमान्य सिद्ध कर दिया गया था, वह यूनानियो से लिया गया था।"*

पाश्चात्यों के मत— आर्यभट्ट अपने लेखानुसार ४७६ ई० मे पैदा हुए थे। ४९९ ई में उन्होने ग्रन्थ-रचना की। एक दूसरे आर्यभट्ट की रचित पुस्तक है— 'आर्य सिद्धान्त' जिसे भास्कराचार्य जानते है।

करण—वराहमिहिर-करण (ज्योतिष) की श्रेणी का प्रामाणिक ग्रन्थ प्रसिद्ध विद्वान् वाराहमिहिर का 'पञ्च सिद्धान्तिका' है। डा० मैक्डानल, डा० कीथ आदि अन्त साक्ष्य स इनका समय ५०५ ई० स्वीकार करते है। कुछ भारतीय विद्वान 'ख्यातोवराह मिहिरोनृपते' ममायाम' के अनुसार इनका समय प्रथम शताब्दी ई० पू० स्वीकार करते हैं। इनके पाँच सिद्धान्तो के नाम है— (१) सूर्य, (२) पैतामह, (३) पौलस, (४) वसिष्ठ, (५) रोमक। अल्बेरूनी रोमक और पौलस सिद्धांतों को ग्रीक-सिद्धान्त कहते है। रोमक सिद्धान्त को वराहमिहिर ने भी गर्हित कहा है। अतः उसका विदेशीपन सिद्ध है। यद्यपि डा० भाउदाजी और डा० कोलब्रुक ने इन्हें भारतीय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

---

*"It can not be proved that this doctrine, which was rejected by the later Indian astronomers, was adopted from the Greeks"

वराहमिहिर ने वर्ष की अवधि की गणना वैसी ही की है, जैसी २०० ई० पूर्व हिप्पाकस और १०० ई० में प्रलम ने की है। लेखक ने युग को ३८५० -पूर्व-वर्षों का माना है, जो भारतीय परम्परा से भिन्न है।

श्रीसेन—नामक सिद्धांत से भिन्न इसी नाम का एक और ग्रन्थ है, जो वराहमिहिर के बाद श्री सेन ने लिखा है। इसका भी समय विद्वान् ५०५ ई० मानते हैं ब्रह्मगुप्त लेखक के बारे में कहता है—लाट और आर्यभट्ट से लेखक अत्यन्त प्रभावित है। इस पर ग्रीक प्रभाव है, फिर भी मौलिकता है।

वराहमिहिर और श्रीसेन का समय प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी तक दोलायमान रहता है।

ब्रह्मगुप्त—वराहमिहिर के पश्चात् ब्रह्मगुप्त प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य हैं। इनकी प्रथम प्रसिद्ध पुस्तक है 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त'। इनका जन्म ५९८ ई० और ग्रन्थ-रचना ६२८ ई० है। ये गणित के अद्वितीय लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् हैं। ये प्राचीन आचार्यों के अनुयायी हैं। अध्याय ११वें में इन्होंने आर्यभट्ट की आलोचना की है।

भास्कराचार्य—ये गणित-ज्योतिष के अन्तिम सर्वमान्य विद्वान् थे। इनका जन्म १११४ ई० में खानदेश में हुआ था। इन्होंने आर्या छन्द में 'सिद्धान्त-शिरोमणि' नामक ग्रन्थ लिखा है। ये महान गणितज्ञ थे। इनका स्थान गणित-ज्योतिष में अत्यन्त ऊँचा है। इन्होंने पूर्व के सिद्धान्तों की अच्छी व्याख्या की है। ये ब्रह्मगुप्त से अधिक प्रभावित हैं। इनके ग्रन्थ के चार खण्ड हैं—प्रथम दो खण्ड गणित सम्बन्धी हैं—

(१) लीलावती और (२) बीजगणित। शेष दो खण्ड—ग्रहों की गति-विधि से सम्बद्ध हैं। (३) ग्रह गणिताध्याय और (४) गोलाध्याय, ये दोनों गणित-ज्योतिष सम्बन्धी हैं।

भास्कर ने 'करणकुतूहल' नाम का एक और भी ग्रन्थ लिखा है। इन्हें पृथ्वी के 'गुरुत्वाकर्षण' का ज्ञान था। जब न्यूटन का विश्व में पता तक न था।

इसके पश्चात् यवनों की विजय से, दमन के कारण बहुत कम ग्रन्थ बने। साथ ही फारसी और अरबी ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ा। बाद के ग्रन्थों में

कमलाकर का 'सिद्धान्त तत्व विवेक' अच्छा ग्रन्थ है। इसमें अधिक प्रभाव है। आज यूरोपीय विज्ञान पर्याप्त रूप में विकसित है फिर भी भारतीय ज्योतिष के ग्रन्थ अपनी प्रमाणिकता अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

फलित ज्योतिष—'फलित ज्योतिष जो कि ग्रहों की गतिविधि का मानव जीवन पर प्रभाव का सिद्धान्त है वह भारतीय-ज्योतिष में घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।'

यद्यपि भारत में गणित-ज्योतिष और फलित ज्योतिष का अभेद सम्बन्ध है, दोनों का एक ही इतिहास है। फलितज्योतिर्विज्ञान का ही पूर्ण विकसित रूप गणित-ज्योतिर्विज्ञान है। फिर भी हम प्राप्त सामग्री के बल पर पृथक्-रूप में फलितज्योतिष पर भी कुछ लिखने का प्रयत्न करेंगे।

नक्षत्रों के प्रभाव से मानव-जगत के भाग्य पर पड़ने वाले परिणाम पर फलित ज्योतिष ही प्रकाश डालता है। आकाश के ग्रह, नक्षत्रों का प्रिय तथा अप्रिय प्रभाव मनुष्य के भविष्य पर अवश्य पड़ता है। यह विश्वास भारत और प्राचीन सभ्यता वाले अन्य देशों में बहुत समय से व्याप्त रहा है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विवाह-संस्कार के अवसर पर अनुकूल तथा प्रतिकूल ग्रहों के प्रभाव का कथन है। राजा के लिए ज्योतिषी आवश्यक था। बौद्धों के यहाँ ज्योतिष हेय था। वराहमिहिर फलित-ज्योतिष के अधिकारी विद्वान थे। प्राचीन ग्रन्थों में वृद्ध-गर्ग-संहिता ही शेष है। किन्तु उसके मौलिक स्वरूप के बारे में संदेह है। इसमें विद्वानों ने प्रक्षिप्त अंश बहुत माने हैं। इसमें यूनानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। इसने ग्रीक ज्योतिषियों की सराहना की है। वराहमिहिर के बाद के ज्योतिः साहित्य को तीन भागों में विभक्त करते हैं—(१) तन्त्र, (२) होरा (कुण्डली), (३) शाखा या संहिता (शकुन)।

फलित ज्योतिष के महान ग्रन्थ

ज्योतिष के सभी अंगों पर विचार करती है। इसके बारे में डा० मैक्डानल का कहना है—‡

'फिर भी, सामान्यतः इसे भारतीय साहित्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है।' * धार्मिक इतिहास के विचार से भी इसका विशेष महत्व है। कविता के कृत्रिम उदाहरण भी यह प्रस्तुत करती है किन्तु इसकी भाषा और शैली साहित्यिक है। एक स्थल पर लेखक कहता है—

'जैसे रात्रि बिना दीपक के, व्योम बिना मार्तण्ड के, उसी प्रकार सम्राट बिना ज्योतिषी के है, जो नेत्रहीन की भांति अपने पथ पर भटक रहा है।"† नवीन भवन के निर्माण में, कूप खनन में, वाटिका लगाने में, तड़ाग खुदवाने में, पृथ्वी के गर्भ में जल का स्रोत खोजने में तथा मूर्ति-निर्माण आदि के विषय में यहाँ अध्याय के अध्याय भरे पड़े हैं। दो अध्यायों में पाणिग्रहण संस्कार का ही वर्णन है। वराहमिहिर ने विवाह के मुहूर्तों के सम्बन्ध में एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है।

एक अन्य ग्रन्थ 'योगयात्रा' में राजा के चढ़ाई के मुहूर्तों का वर्णन है। यद्यपि प्राकृतिक फलित ज्योतिष का उदय भारतीय विज्ञान में ही हुआ है, किन्तु ज्योतिषशास्त्र के जिन विषयों का सम्बन्ध संस्कृत के 'जातक' और ग्रीक के होरा से है, उन पर यूनानी ज्योतिषशास्त्र का पूर्ण प्रभाव है। दोनों के पारिभाषिक शब्द एक दूसरे से पूर्णतः मिलते जुलते हैं।

---

‡. Astrology on the theory of the influence of the stars on human life has been very intimately connected with astronomy in India " —India's Past Page 186

* "It may even be called one of the most important work of Indian literature in general " —Dr Macdonell

† 'As a night without a lamp, as a sky without a sun so as a king without an astrologer, like a blind wanders in his path "

वराहमिहिर ने ज्योतिष का इस शाखा पर एक बृहद् ग्रन्थ 'बृहज्जातक' लिखा है— जिसे होडाशास्त्र भी कहते हैं और एक छोटा ग्रन्थ (लघुजातक) भी लिखा है। इन सूचनाओं में जन्म समय के नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर मनुष्य के भाग्य के विषय में भविष्यत वाणियाँ की गई हैं।

डा० मैक्डानल के अनुसार इस विज्ञान का जन्म बबीलोनिया में हुआ है। किन्तु यह निश्चित नहीं कि यह किस समय और किस प्रकार भारत में पहुँचा होगा। ६०० ई० वराहमिहिर के पुत्र पृथ्वीयशाश ने "होडाशत पंचिका" लिखी है।

महोत्पल ने १०वीं शती में इस पर तथा वराहमिहिर के समस्त ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं, जो आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि उनमें प्राचीन उद्धरण अधिक हैं। महोत्पल ने ७५ श्लोकों में "होडाशास्त्र" नामक ग्रन्थ भी लिखा है।

ज्योतिर्विदाभरण— १६वीं शती का यह ग्रन्थ बाद के फलित ज्योतिष सम्बन्धी साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके लेखक कालिदास हैं। इस ग्रन्थ पर अरब ज्योतिष का पूर्ण प्रभाव है।

वराहमिहिर के पश्चात फलित कहा जाता ज्योतिष में (मुहूर्त) नामक एक नये ढंग के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, जिनमें सभी अवसरों के शुभ मुहूर्तों का उल्लेख है। जैसे— धार्मिक संस्कार, पारिवारिक उत्सव, व्यापारिक अनुष्ठान आदि। इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'मुहूर्त चिन्तामणि"।

१२ वीं शती के बाद का साहित्य—मुसलमानों के भारत विजय के बाद पारसी और अरबिक ज्योतिष के प्रभाव से 'ताजिक' नामक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। — ताजिक नीलकंठी'

स्वप्न-सम्बन्धी बातों के लिए 'स्वप्नचिन्तामणि' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके लेखक हैं 'जगदेव'।

यह है संक्षेप में भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास।

गणित—प्राचीन भारत में विभिन्न शास्त्रों व विचारों का सम्यक विकास हुआ था। गणितशास्त्र का श्रीगणेश भारतवर्ष में ही हुआ था। अंकगणित

बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र शरीरविज्ञान वनस्पतिशास्त्र, भूगोलशास्त्र, प्राणिशास्त्र और आयुर्वेद आदि पर अच्छी तरह से विचार कर इन्हें मानव-जीवन से सम्बन्धित किया गया था।

"इन शास्त्रों के मूल तत्वों का विकास वैदिककाल से प्रारम्भ हुआ।" इस तथ्य को मैक्समूलर, मैक्डानल प्रभृति विद्वान स्वीकार करते हैं। भौतिक विज्ञान के लिए गणितशास्त्र अत्यन्त आवश्यक है। वैदिककाल में गणित-विद्या के तीन भेद प्राप्त होते हैं—(१) अंकगणित, (२) रेखागणित, (३) बीजगणित।

भौतिकशास्त्र (Physics)

प्राचीन भारतीय दर्शनशास्त्र के विविध अंगों का आलोडन करने पर भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, लौहशास्त्र (धातु-विद्या) एवम् भू-गर्भ विद्या आदि के सिद्धान्तों का भौतिक स्वरूप वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। प्राचीन भारत में दर्शनशास्त्र को सहायता एवम् सहयोग देने के उद्देश्य से भौतिक आदि शास्त्रों का समुचित विकास हुआ, जिनकी चर्चा पातंजल योगसूत्र के व्यासभाष्य, वराहमिहिर की बृहत्-संहिता, चरकसंहिता, प्रशस्तपाद के भाष्य तथा उद्योतकर कृत वार्तिक में विविध स्थलों पर की गई है। दार्शनिक तत्वों की विवेचनाओं में भौतिक-शास्त्र सम्बन्धी तत्व जिन्हें विज्ञान के आधुनिक सिद्धान्तों से हृदयगम किया जा सकता है, निम्नलिखित हैं :—

(१) वैदिक साहित्य में एकत्व एवम् अभेद का सिद्धान्त।
(२) प्रकृति की त्रिगुणात्मिका शक्ति।
(३) परमाणुवाद और गतिशीलता।
(४) प्रकाश तथा उसका विश्लेषण।
(५) शब्द आदि।

एकत्व का सिद्धान्त—शुक्ल यजुर्वेद के ईशोपनिषद् खण्ड में और कठ, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में एकत्व का सिद्धान्त, वेदान्त दर्शन की दृष्टि से

प्रतिपादित मिलता है। तत्वमसि वाली, मध्यकाल के आचार्यों की आलोचना मे ही एकत्व आध्यात्मिक धरातल की बात होते हुए भी भौतिक एकता का भाव पूर्णत प्रकट होता है, क्योकि सारा जगड्वाल एक परम तत्व से ही उत्पन्न हुआ है। सांख्यदर्शन मे यह विकास व्यवस्थित रूप म अंकित है। अनेकता मे एकता दार्शनिक धरा तल पर ही नही दृश्यमान जगत् मे भी अवस्थित है। आजकल के विज्ञान क्षेत्र मे 'एलेक्ट्रान" आदि के सिद्धान्त तथा "आईंस्टीन" जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिको के नवीन शोधकार्य इसी एकत्व को भौतिक जगत् मे प्रयोगात्मक रूप मे घटित करते हैं।

(२) त्रिगुणात्मक प्रकृति—सांख्य मे मूल प्रकृति ही आदि कारण "Original Matter" सारे जगत् का स्रोत है। प्रकृति के अनेक तत्वो को प्राचीन दार्शनिको ने वैज्ञानिक दृष्टि से समझा है। सत रज और तम इन तीन गुणो की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है। सत्व से अभिप्राय प्रकृति के तात्विक सार (Essence), रज से क्रियाशीलता (Energy) तथा तम से जडता (Inertia) हैं। इन गुणो मे विषमता आने पर ही महत्, अहङ्कार तन्मात्रा और भूतादि के रूप मे जगत् की रचना का विकास होता है।

परमाणुवाद और गतिशीलता—डा० डाल्टन महोदय ने तो ईसा की १८ वी शताब्दी मे इस सिद्धान्त का बोध पाश्चात्य जगत् को कराया, किन्तु इससे बहुत पूर्व वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने यह सिद्धान्त दार्शनिक जगत् के हेतु उद्घाटित किया था। आगे भी वेदान्ती, जैन और बौद्ध विचारकों ने इस सिद्धान्त को विकसित किया। छोटे-छोटे परमाणुओ की बनी हुई प्रकृति गतिशीलता के कारण गठित होती है। यह क्रिया अनादि है। एक परमाणु १/३४९५२५ का होता है। दो परमाणु गतिशीलता के कारण मिलकर द्वयणुक् तथा तीन द्वयणुको से एक त्र्यणुक बनता है। हमारे यहाँ (१) सयोग (२) विभाग तथा (३) निरपेक्ष कारणो पर आश्रित प्रकृति की गतिशीलता पर सम्यक विचार किया गया है। प्रशस्तपाद के अनुसार (१) तात्कालिक (२) वेग, (३) संस्कार—इन तीन प्रकारो की गतिशीलता होती है। एक द्रव्य में एक समय मे एक ही प्रकार की गति रहती है।

गतिशीलता के अन्य भेद इस प्रकार हैं —

(१) प्रयत्न—यह इच्छा से उत्पन्न होता है।
(२) आकर्षण—प्रत्येक वस्तु पृथ्वी की ओर आकृष्ट होती है।
(३) स्पन्दन—नदी के प्रवाह की भाँति द्रव पदार्थों की गति।
(४) अदृष्ट—अदृष्ट के कारण गति जिसका कारण नहीं समझा जा सकता।
(५) संयोगजन्य—वस्तुओं के परस्पर संयोग से उत्पन्न गति।
(६) नोदन—दबाव के कारण उत्पन्न गति।
(७) अभिघात—टकराव के कारण गति।
(८) लचीले पदार्थ के संयोग से उत्पन्न गति।
(९) वेगद्रव्य—किसी वेगवाली वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न गति।

नोदन के विषय में विविध आचार्यों ने अपने मत प्रदर्शित किये हैं। इस प्रसंग में उदयन ने अपना मत दिखाते हुए विमानों का भी उल्लेख किया है (उदयन किरणवली—वायु निरूपण) जो महत्वपूर्ण है। उदयन ने धूम आदि से आपूरित चर्मपुटवाले विमानों का भी उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि ई० सन ९७० के लगभग भारत में विमानों की सत्ता थी।

(४) प्रकाश और उसका विश्लेषण (light and its analysis)—ऋग्वेद में सूर्य के रथ के सात घोड़ों का वर्णन मिलता है और 'सप्तरश्मि' अर्थात् सात प्रकार की किरणोंवाला नाम भी आया है। इससे प्रकाश के सात रंगों का ज्ञान होता है। सूर्य का प्रकाश अत्यन्त शीघ्रगामी है। इसी से उसकी किरणों की उपमा अत्यन्त शीघ्र वेगयुक्त घोड़ों से दी गई है।

(५) शब्द—प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने शब्द के विविध रूपों को भी वैज्ञानिक ढंग से समझने का यत्न किया था। मीमांसकों के अनुसार नाद, ध्वनि और स्फोट शब्द के तीन भेद होते हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार वीचितरंग न्याय मान्य है जिसके अनुसार शब्द प्रतिक्षण आकाश में वृत्ताकार होकर वायु की सहायता से उत्तरोत्तर बढ़नेवाले वृत्त के रूप में बनता जाता है,

जैसा किसी वस्तु का ना त जल म फेन म दिखाई देता है। घन्ट व कम्पनयुक्त शब्द या अनुरणन को 'कम्पन संतान संस्कार' कहा गया है। प्रतिध्वनि को भी कुछ लोगों ने शब्द के उपरान्त तज्जन्य अन्य शब्द कहा है। अब कि सामान्यतया उस शब्द की छाया माना जाता है। प्राचीन भारत में स्वर ग्राम श्रुति और मूर्छना आदि का विवेचन भी वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग में लाया गया है। नाट्यशास्त्र क २८वें अध्याय में इसका विशद वर्णन मिलता है।

रसायनशास्त्र (Chemistry)

इस विज्ञान का सूत्रपात भी वैदिककाल मे हो चुका था। आयुर्वेद के लिए इसके ज्ञान की महती आवश्यकता होती है, एवम् आयुर्वेद का विकास उसी काल की देन है। अथर्ववेद म अनेक रोगा तथा उनकी विविध औषधियों का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद म स्वर्णकार तथा मणिकार का उल्लेख है जिससे तत्कालीन धातु ज्ञान का परिचय मिलता है धातुओं के गलाने आदि की रासायनिक क्रियाएँ इसी शास्त्र क ज्ञान से समझ म आती है। सुश्रुत, चरक पतञ्जलि और वराहमिहिर आदि क ग्रन्थों मे रसायनशास्त्र के विकास का स्पष्ट बोध होता है। चरकसंहिता के शरीर स्थान मे भौतिक द्रव्यों के गुणों का वर्णन हुआ है। पार्थिव द्रव्यो मे गुरु खर, कठिन, मन्द, स्थिर, सांद्र, गंध आदि गुण होते हैं। आप्य द्रव्य, द्रव, शीत, स्निग्ध, मृदु, मन्द, पिच्छल, सरस आदि विविध गुणोवाले होते हैं। वायव्य द्रव्यो मे लघु, शीत, खर, रुक्ष, विशद सूक्ष्म, स्पर्श आदि गुण होते हैं। आकाश के लघु, सूक्ष्म, मृदु श्लक्ष्ण शब्द आदि अनेक गुण है।

सुश्रुत के 'सूत्रस्थान' (१४ ७-९) मे महाभूतों के परस्पर सम्मिश्रण का वर्णन है। आकाश मे वायु अग्नि और जल का वायु में जल, अग्नि तथा अणु रूप मे भूमि का, अग्नि मे धूम आदि के रूप से भूमि आदि का समावेश होता है।

पतञ्जलि के लौहशास्त्र में अनेक रासायनिक क्रियाओं का वर्णन है, विशेषत धातु सम्बन्धी क्षार (Metallic Salts), विविध मिश्रण या टाँका आदि बनाने म धातु निकालने और शुद्ध करने की विधियों का स्पष्ट उल्लेख है।

इस ग्रन्थ के अनेक उद्धरण बाद के ग्रन्थो मे मिलते हैं। सम्भवत पतञ्जलि

ने सर्वप्रथम 'विद' नामक मिश्रणों का पता लगाया था। लोहशास्त्र के विशेषज्ञ नागार्जुन ने पारे का निर्माण करके रासायनिक मिश्रणों (Compounds) के ज्ञान की श्रीवृद्धि की थी। प्राचीन भारत के औद्योगिक विकास में भी रसायनशास्त्र ने योग प्रदान किया था। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के ५६ वें अध्याय में अनेक लेप तथा चूर्ण बनाने की विधियाँ लिखी हैं। अशोक के स्तम्भों पर, जिस वज्रलेप का प्रयोग हुआ उन्हीं लेपों में से एक था। बौद्ध काल के मन्दिरों और मठों में भी इन लेपों का उपयोग किया जाता था। रेतीले पत्थर के बने अशोक के स्तम्भ वज्रलेप के कारण फौलाद के बने प्रतीत होते हैं। २४०० वर्षों के उपरान्त भी यह लेप ज्यों का त्यों है। बिहार में आजीवकों की गुफाओं की दीवारों पर ऐसा ही लेप विद्यमान है जिससे वे कांच की भाँति चमकती हैं। इन लेपों के अतिरिक्त वराहमिहिर ने उल्कापात, शिलादारण, वृक्षायुर्वेद और खड्गलक्षण का भी उल्लेख क्रमश बृहत्संहिता के ३२वें तथा ५६वें अध्यायों में किया है। बृहत्संहिता में 'यवविद' 'यवजा' आदि शब्द आये हैं। अनेक रंगों तथा सुगंधित द्रव्यों के बनानेवाले "रागगंधयुक्ति विद" का भी उल्लेख हुआ है। ७६ वें अध्याय में बकुल, उत्पल, चम्पक आदि पुष्पों के रस (तत्वांश) निकालकर उनके योग से वैसी सुगन्धिवाले कृत्रिम द्रव्यों के बनाने की विधि दी है। रासायनिक ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

गुणाढ्य कृत बृहत्कथा में (बड्डकहा) रसायनशास्त्र के विद्वानों का भी उल्लेख है। दण्डी के 'दशकुमारचरित' में गहरी नींद लानेवाले 'योगचूर्ण' तथा बिना अग्नि के प्रकाश देनेवाली योगवर्तिका का उल्लेख है। सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में एक ऐसे चूर्ण का उल्लेख है जिससे शरीर की समस्त क्रियाएँ स्तम्भित हो जाती हैं।

ई० सन् ६५० के लगभग वृन्द ने रसामृतचूर्ण (Sulphide of Mercury) के बनाने का वर्णन किया है। जिसमें एक भाग पारा और दो भाग गन्धक रहता था। पर्पटी नाम (Cuprous Sulphide) का भी उल्लेख है। अधःपातन, ऊर्ध्वपातन, भस्मीकरण, स्वेदन और स्तम्भन द्वारा विविध रसायनों के बनाने का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः मिलता है।

वनस्पतिशास्त्र

ऋग्वेद आदि में सभी जीवधारी दो भागों में विभक्त हैं। तस्थुष (स्थावर) और जगत (जंगम) और सूर्य उनकी आत्मा माने गये हैं—' सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च" आजकल की सभी वैज्ञानिक सूर्य को सम्पूर्ण जीवनशक्ति का स्थान मानते हैं। वैदिककाल साहित्य में इस सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन मिलता है कि वनस्पतियों में जीव है और उन्हें भी दुख-सुख का अनुभव होता है। वैदिककाल के उपरान्त भी इस ज्ञान का उत्तरोत्तर विकास होता गया। उदयन ने वनस्पतियों के निद्राजागरण, जीवन-मरण, रुग्णता, औषधि से उपचार, अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल से अपकर्षण आदि पर अपने पृथ्वी निरूपण के प्रकरण में समुचित प्रकाश डाला है। उनका स्पष्ट कथन है कि वृक्षादि में अन्तसंज्ञा रहती है और वे सोने-जागने तथा सुख-दुख का अनुभव करते हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में इन वनस्पतियों पर जाड़ा-गर्मी हो वर्षा, सुगन्ध-दुर्गन्धतादि के प्रभाव का भी एवम् इन्द्रिय ज्ञान तक का उल्लेख है। वृक्ष देखते सुनते, सूँघते तो हैं ही, जल आदि का पान भी करते है। चरक ने भी सूत्रस्थान (१-७१ ७२) में वनस्पति, वानस्पत्य औषध और वीरुध—ये चार विभाग किये हैं। सुश्रुत ने भी इन विभागों को स्वीकार किया है। चक्रपाणि ने चरक की टीका में वनस्पतियों के औषध और वीरुध—ये दो मुख्य भेद करके प्रत्येक को दो उपभेदों में बताया है।

प्राणिशास्त्र

संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद साहित्य में प्राणियों की उत्पत्ति और उनके विभाजन पर प्रकाश डाला गया है। फिर चरक, सुश्रुत और प्रशस्तपाद तथा प्रथम शताब्दी के उमास्वाति के ग्रन्थों में भी इस शास्त्र का विवेचन किया गया है। पौराणिक साहित्य में भी इस विषय की चर्चा अनवरत आई है। चरक और सुश्रुत ने प्राणियों को जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—इन चार प्रमुख भागों में विभक्त किया है। प्रशस्तपाद ने योनिज और अयोनिज नाम के दो विभाग और किये है।

पुराणो मे विविध पशुओ की विशेषताएँ यत्र-तत्र वर्णित है। उमास्वाति ने पशुओ के लक्षण भी बतलाये हैं :—

(१) कारण्डव—यह श्वेत हंस का एक भेद है जो छोटा होता है। कुछ लोग इसे 'करहट' भी कहते हैं। इसका मुख काग के समान और पैर लम्बे होते हैं।

(२) कक—इसके पख बाण पत्र के समान और चोच लम्बी होती है। पखो के नीचे पीला रग होता है। पैर लम्बे होते हैं।

(३) रुरु—एक प्रकार का मृग है जिसके विषाण विकट और देह शम्बराकार होती है। यह प्राय. जल के समीप विचरण करता है और शरद् ऋतु मे सीगो को त्याग देता है और रोने लगता है, इसी से रुरु कहलाता है।

भू-गर्भ विद्या

प्राचीन काल मे भारत मे भू-गर्भ विद्या और धातुविद्या का भी समुचित विकास किया गया था। भारतियों ने पृथ्वी से अनेक प्रकार की धातुएँ खोद निकाली थी, इसी से उसका नाम वसुन्धरा या वसुधा रखा था। रत्नगर्भा नाम से भी यही तथ्य लक्षित होता है। वेद मे सोना, चाँदी और ताँबे आदि का स्पष्ट उल्लेख प्रथम और चतुर्थ मन्डलो मे बिखरा हुआ मिलता है। ब्रह्माण्ड पुराण के तृतीय और अष्टम अध्यायो मे सृष्टि की उत्पत्ति के वर्णन मे पाँच तत्वो का आपसी सम्बन्ध बताते हुए पृथ्वी की बनावट पर भी विचार किया गया है।

आयुर्वेद

वैदिककाल मे ही आयुर्वेद के प्रति ऋषियो की रुचि लक्षित होती है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल मे अश्विनीकुमार के टूटे हुए पैर जोड देने की प्रार्थना मिलती है, साथ ही शरीर के भग्न अगो को कृत्रिम साधनों से ठीक करने का वर्णन है। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड मे अनेक रोगो का और उनके उत्पादक कीटाणुओ का वर्णन है। इसमे लिखा है कि सूर्य यदि ठीक सामने से

उदित हो तो न दीखने वाले रोग-कीटों का संहार करते हैं क्योंकि सूर्य तीक्ष्ण किरणों से दृश्य और अदृश्य सभी कीटों का उच्छेद करने वाले हैं। कश्यप, वात, एजत आदि अनेक रोग कीट जातियाँ और दृश्य या अदृश्य रोग-कीटों के संहारकारी सूर्य का अनेकशः स्मरण किया जायगा। चरकसंहिता में विमान स्थान में रोग कीटाणुओं के विषय में लिखा है—"सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्या" अर्थात् कुछ कीटाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे चक्षुओं से दिखाई नहीं देते। शतपथ ब्राह्मण में (१०।५।४।१२) तथा (१२।३।२।३) में मनुष्य के शरीर की सभी अस्थियों की संख्या दी है। आयुर्वेद को तो अथर्व का उपवेद माना गया है। जनश्रुति के अनुसार आयुर्वेद के आठ प्रकार थे, उनमें पिशाचों के द्वारा तथा विषों से उत्पन्न होनेवाले रोगों का भी समावेश है। ये आठ प्रकार हैं—

(१) शल्य—इसमें लगे हुए काँटे, बाण आदि निकालने की विधि तथा चीर-फाड़ आदि की क्रिया समाविष्ट है।

(२) शालाक्य—यह आँख, नाक, कान, आदि के रोगों से सम्बद्ध है।

(३) काय चिकित्सा—इसमें शारीरिक रोगों के लिए औषधि तथा उपचार का समावेश है।

(४) भूत विद्या—इसमें पिशाच आदि के प्रभाव को दूर करने की विधि है।

(५) कुमारभृत्य—यह शिशुओं, बच्चों की माता, धाय आदि के रोगों से सम्बन्धित है।

(६) अगद—इसमें दवा देने की क्रिया तथा विधि का समावेश है।

(७) रसायन—अनेक रसायन आदि बनाने से सम्बद्ध है।

(८) वाजीकरण—इसमें मानव जाति की वृद्धि के हेतु प्रयोग आदि समाविष्ट है।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से भी तत्कालीन आयुर्वेद के विकास का ज्ञान होता है। अशोक के लेखों से यह मालूम होता है कि उसने स्थान स्थान पर औषधालय खुलवाये थे। शल्यकर्म के विकास के भी उल्लेख मिलते हैं। विनय-पिटक के महावग्ग में यह ज्ञात होता है कि अम्बघोष ने एक भिक्षु के रोग में

शल्यकर्म का प्रयोग किया था। उस समय जीवक नाम का बौद्ध भिषक आयुर्वेदान्तर्गत शल्यचिकित्सा का बडा भारी विद्वान् हुआ जिसका विस्तृत वर्णन महावग्ग मे प्राप्त है। प्राचीन आर्यों ने शल्यकर्म आठ प्रकार के माने हैं जो प्रमुख रूप में इस प्रकार हैं—

(१) विस्राव्य—रुधिर का विस्रवण करना।
(२) सीव्या—दो भागों मे सीना।
(३) लेख्य—चेचक के टीके आदि मे कुचलना आदि।

इसके अतिरिक्त व्रणो और उदरादि सम्बन्धी भिन्न-भिन्न रोगो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टी बाँधने का भी वर्णन है। (सुश्रुत स० २५।२८)

प्राचीन काल मे आयुर्वेद विषयक कितने ही ग्रन्थ लिखे गये थे। यहाँ तक कि चीनी तुर्किस्तान मे से ई० स० ३५० वर्ष के तीन संस्कृत ग्रन्थ मिले हैं। इसमे चरकसहिता और सुश्रुतसंहिता सर्वाधिक, महत्वपूर्ण हैं। इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी है।

चरकसहिता के आठ भाग है—

(१) सूत्रस्थान—औषधि का प्रारभ, वैद्य के कर्तव्य, औषधि का उपयोग आदि

(२) निदान स्थान—ज्वर, सूजन, मधुमेह, कुष्ठ, क्षय आदि रोगो का वर्णन।

(३) विमान स्थान—महामारियों का वर्णन उपचार, शरीर के विभिन्न रसों की विशेषता।

(४) शरीर स्थान—जीव का वर्णन विभिन्न जातियाँ, तत्वो के गुण, शरीर क वर्णन आदि।

(५) इन्द्रिय स्थान—ज्ञानेन्द्रियो और अनेक रोगो का वर्णन, शरीर का रग, वाग्दोष, शरीर के अगो के रोग, शक्ति, ह्रास, मृत्यु आदि का विवेचन।

(६) चिकित्सा स्थान—रोगोपचार स्वास्थ्य सुधार, जीवन माग का साधन ज्वर, मदिरापान, जलना, गुप्तरोग, गठिया आदि का विवेचन।

(७) कल्प स्थान —जुलाब, मन्त्रोपचार आदि ।

(८) सिद्धि स्थान—वस्तिकर्म, पशुवस्तिकर्म विधि आदि ।

सुश्रुतसंहिता मे चीर फाड पर विशेष जोर दिया गया है । इसके ६ विभाग है :—

(१) सूत्र स्थान—औषधि शरीर के तत्व, शल्यकर्म के औजारों का चुनाव आदि का वर्णन ।

(२) निदान स्थान—रोग निदान गठिया, बवासीर, कुष्ठ, मधुमह आदि का वर्णन ।

(३) शारीर स्थान—शरीर शास्त्र या शरीर के विभिन्न अंग प्रत्यंग का विवेचन । जीव व शरीर के तत्व आतवदोषादि शरीर के विकासादि का वर्णन ।

(४) चिकित्सास्थान—रोग निदान और चिकित्सा व्रण फोडे चोट, गठिया आदि का वर्णन ।

(५) कल्प स्थान—भोज्य व पेयन पदार्थ बनाने की विधि, विषाक्त अन्न, विष व उनका उपचार ।

(६) उत्तर स्थान—आँख कान नाक आदि के रोग तथा ज्वर, संग्रहणी क्षय आदि का उपचार ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के पर्यालोचन से पूर्णत स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल मे आयुर्वेद भी सभी विज्ञानो के साथ अपनी उन्नतावस्था को प्राप्त हो चुका था ।

अध्याय ९

राज्य-व्यवस्था तथा राजनैतिक जीवन

राज्य व्यवस्था भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रही है। ऋग्वेद मे जो कि भारतीय तथा योरोपीय लिखित साहित्य का अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, इस बात के प्रमाण उपलब्ध है कि वैदिककाल मे सुव्यवस्थित राजनैतिक अवस्था विद्यमान थी। राजा अपनी प्रजा मे चारो वर्णो की समृद्धि तथा सुख की पूर्ण व्यवस्था करता था। प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख तथा प्रजा की भलाई म ही राजा की भलाई निहित थी। राजा अपनी सख समृद्धि की कामना नही करता था। प्रजा की समृद्धि पर ही उसकी समृद्धि निर्भर रहती थी।

प्राचीन भारत मे दोनो प्रकार की राज्य-व्यवस्था का विवरण प्राप्त होता है। राजा को ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि राजा शासक के रूप म ही जन्म लेता है। ईश्वर स्वय अपने प्रतिनिधि के रूप मे उसे प्रजा पर शासन करने के लिए भेजता है। जन्म से ही वह अपने पूर्वजो के राज्य तथा राज्य के प्रतीक राजसिंहासन का उत्तराधिकारी होता है। नेपाल आदि कुछ देशो म आज भी राजा को ईश्वरीय प्रतिनिधि के रूप मे माना जाता है। राजा के दैवी प्रतिनिधि होने के इस सिद्धान्त मे कुछ समय पश्चात् दोष आ गये। राजा स्वच्छन्द तथा उच्छृन्खल हो गये। उन्होने प्रजा के सुख का उतना ध्यान नही किया जितना कि अपने सुख का। प्रजा के उपकार और समृद्धि के स्थान पर वे स्वार्थ साधन म ही रत रहने लगे। अत. कालान्तर म एक अन्य राज्य व्यवस्था ने जन्म लिया। यह व्यवस्था लोकतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र के नाम से विख्यात हुई। इस पद्धति के अनुसार अराजकता तथा युद्ध म बचने के लिए प्रजा स्वय किसी शक्तिशाली व्यक्ति को शासक के रूप म चुन लेती है। व्यक्ति की आज्ञा का पालन करना प्रजा का कर्तव्य होता है। प्रजा प्राय स्वेच्छा म और यदा-कदा आवश्यकता

पड़ने पर राज्य-भय से भी राजा की आज्ञा का पालन करती है।

हमारे प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों में, वेदों, पुराणों तथा महाकाव्यों में विभिन्न प्रकार की राजनैतिक पद्धतियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इतिहासकारों के अनुसार आर्यों ने भारत के मूल-निवासियों पर विजय प्राप्त करके शासन का अधिकार प्राप्त किया। विजय करने के उपरान्त सुशासन स्थापित करने लिए उन्होंने एक निश्चित राज्य-व्यवस्था को अपनाया। कालान्तर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में वर्णव्यवस्था भी निर्धारित की गई। इस वर्णव्यवस्था में अपने अपने गुणों और कर्मों के अनुरूप पुरुषों को चारों वर्णों में से कोई पद प्राप्त होता था। वर्णव्यवस्था जन्मना तथा कर्मणा दोनों रूपों में मानी जाती थी। 'क्योंकि जन्म से कर्म संस्कार और इन संस्कारों से जन्म' वाली मान्यता पुनर्जन्म सिद्धान्त का मूलाधार थी।

ब्राह्मण पौरोहित्य कार्य, क्षत्रिय राष्ट्र की रक्षा एवं विजय, वैश्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन एवं गोपालन तथा शूद्र सेवा कार्य किया करते थे। ब्राह्मण प्रायः आध्यात्मिक उपदेशक धार्मिक कृत्यों के पुरोहित, न्यायाधीश तथा मंत्री आदि होते थे। वे राष्ट्र एवं देश के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का नियन्त्रण करते थे। वे बुद्धि में अन्य तीनों वर्णों से श्रेष्ठ होते थे तथा त्याग और तपस्यापूर्ण निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करते थे। न्याय की रक्षा एवं उन्नति के लिए वे अपना जीवन तक बलिदान करने को तत्पर रहते थे। समाज के आध्यात्मिक एवं अलौकिक ज्ञान के साहित्य की रक्षा का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर था।

क्षत्रियों पर समाज की रक्षा का उत्तरदायित्व था। राजा रक्षाव्यवस्था की अध्यक्षता तथा शासन करता था। राजा को न चुनने से शत्रु के आक्रमण के समय जनता को अत्यन्त कष्ट तथा पराजय को सहन करना पड़ता था। ऋग्वेद में प्रजातन्त्रात्मक राज्य-पद्धति का विवेचन करते हुए राजा से कहा गया है—

'ता इम विशो न राजन वृणान।''

तथा

'विशस्त्व सर्वं वाञ्छन्तु।''

अर्थात् प्रजा ने तुमको अपना राजा चुना है और सम्पूर्ण प्रजा तुमको राज्य मे शासन करने की अभिलाषा करती है। प्रजातन्त्र गण के नाम से भी विख्यात था और सम्भवतः इसी से कालान्तर मे जनतन्त्र शब्द की उत्पत्ति हुई। गौतम बुद्ध के समय राजतन्त्रात्मक तथा प्रजातन्त्रात्मक दोनों प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित थी। ग्रामो का शासन मुखिया के नेतृत्व मे पचायतें करती थीं। मौर्यकाल मे नगर का शासन नगरपालिका करती थी जिसके विभिन्न विभाग थे। प्रत्येक विभाग मे कुछ सदस्य होते थे जो अपने विभाग के लिए पूर्णतया उत्तरदायी होते थे।

शासन करने मे राजा की सहायता के लिए कुछ सभाएँ तथा कुछ अधिकारी होते थे। सभाओ मे समिति तथा सभा मुख्य थी। समिति जनता की एक सार्वजनिक परिषद् थी। सभा प्रौढ व्यक्तियों की एक सार्वजनिक सभा थी। ये दोनों—सभा एव समिति—कानून बनाने वाली सर्वोच्च सभाएँ थी। शासन की सुव्यवस्था के लिए ये राजा को उसके कर्तव्य का निर्देश तथा परामर्श देती थी। इनके अतिरिक्त कुछ सघ तथा पुग भी होते थे जो राजा की सहायता करते थे।

शासन की सुविधा के लिए राज्य विभिन्न इकाइयो मे बँटा था। कुछ कुटुम्ब मिलाकर एक (गाँव) विश बनाते थे। गाँव सबसे छोटी इकाई थी। कुछ गाँव मिलाकर एक गोप तथा कई गोप एक जनपद बनाते थे। कुछ जनपद मिलकर प्रान्त तथा सब प्रान्त मिलकर राष्ट्र बनाते। शासन-कार्य मे राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होती थी। वास्तव मे यह मन्त्रि-परिषद् ही राज्य की मुख्य शासन-कर्ता थी। राजा युद्ध, सन्धि, कर-व्यवस्था आदि विषयो पर निर्णय करने के पूर्व अपने मन्त्रियो से सामूहिक रूप से तथा अलग अलग एक-एक मन्त्री से भी परामर्श करता था। इस मन्त्री-परिषद् का एक प्रधान मन्त्री होता था जिस पर राजा पूर्ण रूप से विश्वास करता था। मन्त्रि-परिषद् के सदस्यो की सख्या विभिन्न आचार्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। वे राज्य की आवश्यकतानुसार ७, ८, ६, १२, १६, २०, अथवा ३६ हो सकते थे। मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष स्वय राजा होता था। आवश्यकतानुसार वह

मन्त्रियों की संख्या को कम या अधिक भी कर सकता था, किन्तु इसके लिए परिषद और मुख्य रूप से प्रधान मन्त्री से परामर्श आवश्यक था।

मन्त्रि-परिषद् के अतिरिक्त शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अनेक विभाग तथा उनके विभागीय अध्यक्ष थे। इन विभागीय प्रधानों में से मुख्य कतिपय ये थे —पुरोहित प्रधान सेनापति, कारागारों का संचालक, प्रधान न्यायाधीश, धर्माध्यक्ष, दुर्गपति, राज्य की सीमा का प्रधान अधिकारी वन-विभाग का मुख्य अधिकारी तथा द्रव्य विनिमय एवं सम्पत्ति के अधिकारी। इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार और भी अनेक विभागीय अध्यक्ष होते थे। इनके नियन्त्रण में सम्पूर्ण राज्य की सुव्यवस्था का उत्तम प्रबन्ध था।

कर-व्यवस्था

राज्य में सुप्रबन्ध तथा सुव्यवस्था के निमित्त राजा को राज्य की आय के लिए कर भी लगाने पड़ते थे। कर लगाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वे न तो इतने कम हों कि उनसे राष्ट्र की सुरक्षा तथा प्रबन्ध का व्यय भी पूरा न हो सके और न इतने अधिक ही हो कि उन्हें देने में प्रजा को कष्ट हो तथा उसका अनावश्यक शोषण किया जाय। कर लगाने के प्राय ३ आधार थे। कृषकों तथा अन्य उत्पादकों को अपनी कृषि अथवा उत्पादन का एक विशेष भाग राज्य के कर के रूप में राज्य को देना पड़ता था। यह भाग कितना हो, इसे राज्याधिकारी निश्चित करते थे। आवश्यकतानुसार इसे छठें तथा बारहवें भाग के रूप में निश्चित किया जाता था। कालिदास ने छठे भाग को ही मान्यता दी है।

'षष्ठांश-वृत्तेरपि धर्म एषा'' (शाकुन्तल)

अथवा

"षष्ठांशमुर्व्यामिव रक्षितायाः" (रघुवंशम्)

कुछ लोग, विशेष रूप से श्रमिक-कर के रूप में राज्य कार्य के लिए मास में एक या दो दिन परिश्रम करते थे। इनके अतिरिक्त कुछ लोग मुद्रा अथवा

द्रव्य के रूप में राज्य को रुपया अथवा सुवर्ण आदि मूल्यवान् धातुएं राज्य के कर के स्थान पर देते थे। इन करों के अतिरिक्त देश के उत्पादित माल के बाहर जाने पर अथवा बाहर से माल के अन्दर आने पर अर्थात् आयात और निर्यात पर राजा चुंगी भी लेता था। कुछ अपराधी व्यक्तियों को अर्थ-दण्ड भी दिया जाता था, जिससे राज्य की आय में वृद्धि होती थी। खानों, वनों, उद्यानों, पुलों तथा राजकीय मार्गों से भी राज्य की आय होती थी। व्यक्तिगत उद्योग द्वारा खानों से निकाले हुए सोना, चाँदी, हीरा, मूंगा, लोहा आदि द्रव्यों पर उनके उत्पादन के अनुसार राज्य को कर देना पड़ता था। राजा को नावों, जहाजों, बाजारों, चरागाहों मन्दिरों तथा व्यापारियों से भी आय होती थी।

राजा पशुओं पर भी कर लेता था जिससे राजकीय आय की वृद्धि होती थी। राज्य के गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गधे तथा खच्चर आदि पशुओं का हिसाब रखा जाता था और उनकी संख्या के अनुसार उनके स्वामियों से पशु-कर लिया जाता था। जल तथा स्थल-मार्ग से माल का यातायात करनेवाले व्यक्तियों से उनके माल के अनुसार कर लिया जाता था। ग्रामों की भूमि, चरागाहों, मन्दिरों, बागों आदि की गणना की गई थी। मन्दिर आदि धार्मिक सार्वजनिक स्थानों से कर नहीं लिया जाता था। ग्रामों के घरों तथा उनके विभिन्न वर्णों के निवासियों, कृषकों, ग्वालों आदि तथा उनके पशुओं का हिसाब रखा जाता था। उनके जीविका के साधन, आय, व्यय तथा आचरण और चरित्र का भी पूर्ण हिसाब राज्य के अधिकारियों द्वारा रखा जाता था। वस्तु के गुण और मात्रा के अनुसार उसका छठा, आठवां, बारहवां अथवा चौथाई हिस्सा कर के रूप में लिया जाता था। कुछ वस्तुओं जैसे रुई, रेशम, मोम, ईंधन, फल-फूल, तरकारियों आदि का आधा भाग तक कर के रूप में ले लिया जाता था। नाटक करने वाले नटों तथा वेश्याओं को अपनी आय का आधा भाग दे देना पड़ता था। धोखा देने वाले व्यापारियों से उनकी सारी आय जो कि धोखे से प्राप्त होती थी, ले ली जाती थी।

कुछ व्यक्ति परोपकार की दृष्टि से राजा को सुवर्ण आदि बहुमूल्य वस्तुओं

को उपहार अथवा दान देते थे। राज्य की ओर से उनका सार्वजनिक सम्मान किया जाता था। उन्हें कोई विशेष पदवी दी जाती थी तथा छत्र आदि राजकीय सम्मान सूचक वस्तु दी जाती थी। दैवी प्रकोप जैसे अतिवृष्टि अनावृष्टि आग आदि लग जाने पर कर माफ कर दिए जाते थे। शिक्षकों, पुरोहितों, आध्यात्मिक उपदेशकों तथा वेदशास्त्रज्ञों से भी कर नहीं लिया जाता था। कुछ उत्साही वीर पुरुषों विद्वानों वक्ताओं को कर से मुक्त कर दिया जाता था तथा उन्हें उत्साह प्रदान किया जाता था और जनता के सामने एक उदाहरण रख दिया जाता था कि वह भी उसी मार्ग का अनुसरण करने का प्रयत्न करे। जो लोग सार्वजनिक स्थान तालाब, मन्दिर धर्मशाला आदि का निर्माण कराते थे उनका भी कर मुक्त कर दिया जाता था।

राज्य-कर्मचारियों को उनके पद तथा योग्यता के अनुसार उचित पारिश्रमिक दिया जाता था। यह पारिश्रमिक अथवा वेतन इतना पर्याप्त होता था कि उनके परिवार का भरण पोषण उचित रूप से हो जाता था और उन्हें अनुचित रूप से धनोपार्जन करने की आवश्यकता नहीं होती थी। अनुचित रूप से धन लेने तथा देने वाले दोनों व्यक्तियों को राज्य की ओर से कठोर दण्ड दिया जाता था। राज्य के सेवकों को बीमारी, दाह-क्रिया तथा सन्तानोत्पत्ति आदि के अवसरों पर विशेष धन दिया जाता था। जो सैनिक तथा अन्य सेवक राज्य की रक्षा के निमित्त अपना कर्तव्य-पालन करते हुए मर जाते थे उनके परिवार के सदस्यों को धन दिया जाता है।

राज्य की ओर से किसी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था, किन्तु जो व्यक्ति अपनी जीविका के साधन के रूप में अनुचित कलंकित तथा निषिद्ध साधनों का प्रयोग करते थे उन्हें दण्ड देने के अतिरिक्त उन साधनों से प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण आय ले ली जाती थी। व्यक्तियों को अपनी आय को यथेच्छ रूप से व्यय करने में स्वतन्त्रता थी किन्तु वे इस प्रकार के कार्यों में व्यय नहीं कर सकते थे जिनसे राष्ट्र, समाज अथवा व्यक्ति-विशेष की कोई हानि हो। राजा स्वयं राज्य के कोष से उतना ही धन ग्रहण कर सकता था जितना कि उसकी तथा उसके परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

आवश्यक था। शेष धन राज्य की उन्नति एवं प्रगति के लिए व्यय कर दिया जाता था।

व्यय की मदें

राज्य की व्यय की मदों में प्राथमिकता धार्मिक कृत्यों को दी जाती थी। धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ, सत्संग आदि किए जाते थे मन्दिरों का निर्माण कराया जाता था, जिन पर राज्य की ओर से व्यय किया जाता था। समाज की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति ही राजा का उद्देश्य रहता था। सरकारी कार्य न्यायालय तथा पुलिस पर भी राज्य की ओर से पर्याप्त व्यय किया जाता था। राज्य की रक्षा के लिए एक स्थायी सेना रखी जाती थी। सेना के पैदल रथ, घुड़सवार तथा हाथी ये विभिन्न विभाग थे। सेना के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र, भोजन, वस्त्र, आवास आदि पर राज्य को बहुत अधिक व्यय करना पड़ता था। राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजा को सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रखना था। प्रजा की प्रसन्नता के लिए राजा अपना व्यक्तिगत तथा पारिवारिक महान् से महान्, बलिदान करने को प्रस्तुत रहता था। इसके कतिपय ज्वलंत उदाहरण 'रघुवंश' में आदि से अन्त तक मिलते हैं :—

> 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः ।
> राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ।।'' (रघु०)

राज्य का सामान्य शासन-प्रबन्ध मनु द्वारा निर्दिष्ट धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित रहता था। न्याय, नय (कानून) तथा राज्य सम्बन्धी अन्य कार्यों में नैतिक तथा धार्मिक तत्व अपना एक विशिष्ट स्थान रखते थे। शासन का प्रधान उद्देश्य अपराधों का दमन तथा उन्मूलन था। राजा का कर्त्तव्य सभा तथा समिति द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन करवाना तथा नये कानूनों का प्रचलन कराना था। अपराधों का उन्मूलन करने के लिए कानून द्वारा अपराधी को दण्ड भी दिया जाता था।

न्याय-व्यवस्था

कानून का यद्यपि प्रधान उद्देश्य अपराधो का उन्मूलन था, किन्तु फौजदारी सम्बन्धी कानून का उद्देश्य मानव की हिंसा वृत्ति तथा बदला लेने और झगडा करने की प्रवृत्ति को रोकना था। न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। सामान्यतः आठ प्रकार के अधिकारी न्यायालयो मे होते थे। राजा के अतिरिक्त न्याय-व्यवस्था का उच्चतम अधिकारी प्रधान न्यायाधीश होता था। वह अपराधी को उसके अपराध के अनुसार दण्ड देने की आज्ञा की घोषणा करता था। निर्णय देने के पूर्व साक्षियो की गवाही ली जाती थी तथा घटनाओं की परीक्षा भी की जाती थी। न्यायाधीशो का पथ-प्रदर्शन हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र ही करते थे। यदाकदा अपराधी को न्यायालय में जल, अग्नि, धर्म-पुस्तको, ईश्वर तथा अपने पुत्र आदि की शपथ भी लेनी पड़ती थी।

"आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च, द्यौर्भूमिरापो हृदय यमश्च।
अहश्च, रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये, धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम॥"

न्यायालय मे न्यायाधीश के अतिरिक्त लेखक गणक तथा प्रवेशक आदि अधिकारी भी हुआ करते थे। फौजदारी, पैतृक सम्पत्ति साझेदारी, ऋण का भुगतान न करना सीमा विषयक झगडा, अपमान, चोरी-जुआ धोखेबाजी तथा व्यभिचार आदि विभिन्न कारणो से वादियो और प्रतिवादियो मे मुकदमे चलते थे। न्यायालय मे न्यायाधीश की सहायता तीन पच भी करते थे। न्यायाधीश मुकदमे का निर्णय यथाशीघ्र करता था। वह आधुनिक न्यायालयों की भांति अनावश्यक विलम्ब नहीं कर सकता था। वह वादी अथवा प्रतिवादी की अनुचित सहायता नहीं कर सकता था। प्रधान न्यायाधीश इस बात की जाँच करता था कि उसके न्यायालय में निर्णय निष्पक्ष हों। बिना किसी बाधा के न्याय व्यवस्था सुचारु रूप से चले। न्यायाधीशों को इस बात का भी अधिकार था कि वे राजा पर भी अर्थ दण्ड कर सके। यद्यपि प्रायः व्यवहार मे ऐसा नहीं होता था।

व्यवहार करने वाले को, राजा अथवा राज्य के प्रति विश्वासघात करने वाले व्यक्ति को, ठगने वाले को, पशु चुराने वाले को, लड़ाई झगड़े में किसी व्यक्ति को चोट पहुँचाने वाले को, फल देने वाले हर वृक्ष को काट डालने वाले व्यक्तियों को, घर के बाहर जुआ खेलने वाले को, चुंगी न देने वाले को, भाई, गुरु आदि की पत्नी तथा कन्या से अनुचित व्यवहार करने वाले को, दूसरे के घर का ताला तोड़ने वाले को, अशुद्ध वस्तुओं का विक्रय करने वाले को, भूमि-कर न देने वाले को, विधवा अथवा पर-स्त्री से व्यभिचार करने वाले को, वस्तुओं के उत्पादन में धोखा देने वालों को, जाली सिक्के बनानेवाले व्यक्तियों को, चोरी करने वाले अथवा डाका डालने वाले व्यक्तियों को, चिकित्सा में असावधानी करने वाले चिकित्सक को, वस्तुओं में मिलावट करने वाले व्यक्तियों को, घूस अथवा अनुचित धन स्वीकार करने वालों को, विष देनेवालों को, चोर और डाकुओं को आश्रय देने वालों को, राजाज्ञा के विरुद्ध कार्य करने वालों को, घातक चोट पहुँचाने वाले व्यक्तियों को, गर्भपात एवं हत्या करने वालों को, राजा के विरुद्ध या देश के विरुद्ध विद्रोह करने वालों को, चरागाहों में आग लगाने वालों को तथा खलिहानों में अनाज को नष्ट करने वालों को, असावधानी से गाड़ियों को चलाने वालों को, उचित न्याय न करने वाले तथा अनुचित विलम्ब करने वाले न्यायधीश को। राजा पर भी अर्थदण्ड हो सकता था। दण्ड के रूप में धन देने में असमर्थ व्यक्ति से परिश्रम कराया जाता था।

इन विभिन्न अपराधों के लिए अर्थ दण्ड कितना हो यह निश्चय राजा सभा, समिति व न्यायधीश के परामर्श से करता था। निर्धन तथा धनिक, ब्राह्मण एवं शूद्र सभी को अपराध का समान दण्ड दिया जाता था। अनुचित पक्षपात का वर्णन कहीं नहीं प्राप्त होता। राजा ने स्वयं अपनी असावधानी और दोष के लिए दण्ड का निर्धारण किया था और यह निष्पक्ष न्याय का एक महान उदाहरण था। अपराध के लिए दण्ड में स्त्री एवं पुरुष में भी किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता था। व्यभिचारियों को अंग-भंग अथवा मृत्युदण्ड आदि कठोर से कठोर दण्ड दिये जाते थे, जिससे कि अन्य कोई भी दुष्कर्म करने का साहस न कर सके। न्याय के क्षेत्र में इस प्रकार की व्यव-

न्यायों से पता चलता है कि उस समय न्याय-प्रथा तथा नागरिक शासन-प्रबन्ध अत्यन्त उच्च कोटि का था और यदि हम कहें कि आधुनिक युग में भी उस प्रकार की उच्च न्याय-व्यवस्था तथा निष्पक्षता नहीं प्राप्त होगी, तो यह अत्युक्ति न होगी।

दण्ड नीति

भारतीय संस्कृति का एक आधार भूत स्तम्भ यहाँ का राजनैतिक जीवन है। प्राग ऐतिहासिक काल से लेकर मध्य काल तक यहाँ के राजनैतिक एवम् सामाजिक अन्तरद्वन्दों के अनेक ऐसे आरोह अवरोह हैं जिन्होंने संस्कृति के स्वरूप को, उसके मूल तत्वों को, विविध रूपों में प्रभावित किया है। प्राचीन काल में शासन तन्त्र का संचालक, वंशानुक्रम संस्कारों से युक्त तथा राजधर्म एवम् नीतियों का प्रौढ़ पण्डित, राजा होता था। राजा के लिए उसके गुण एवं प्रजापालन की योग्यताओं का माप दण्ड प्रधान होता था। अतएव यदा-कदा वंशानुक्रम शासकों का बहिष्कार भी होता था। कौटिल्य ने राजकुमारों के निवास, वातावरण, शिक्षा, दीक्षा आदि की व्यवस्था के बारे में बड़े विस्तार से लिखा है। प्रजापालन ही राजा का इष्ट होता था। राजधर्म के आचार्यों ने व्यावहारिक राजनीति के विविध पक्षों पर अनेक महत्वपूर्ण मत निर्धारित किए हैं जिनके आश्रय से राजा शासन तन्त्र का सफल संचालन कर सकता था।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति राजा की ये मुख्य चार विद्याएँ थीं। आचार्य मनु के अनुयायी आचार्यों ने आन्वीक्षिकी को न मानकर केवल तीन विद्याओं को ही शासन के लिए उपयोगी माना है। इसके विपरीत आचार्य बृहस्पति ने वार्ता और दण्ड को ही प्रधानता दी है। आचार्य शुक्र ने केवल दण्ड नीति को ही विद्या के रूप में स्वीकार किया है। दण्ड-नीति का पोषक सिद्धान्त मात्स्य न्याय है, जिसका विवेचन ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत-शान्तिपर्व, अर्थशास्त्र, मनु-स्मृति कामन्दकीय नीति, शुक्र नीति आदि में विस्तार से किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण

(१/१४) में लिखा है 'देव और असुर जब इस लोक में आपस में लड़ने लगे तो असुरों ने देवताओं को जीत लिया। देवगण कहने लगे अराजकता के कारण वे हमें जीतते हैं, अतएव हम दण्ड का विधान करने वाले शासक का निर्माण करेंगे। मनु स्मृति (७/३,२०) में लिखा है, कि 'इस अराजक लोक में जहाँ चारों ओर भय ही भय था, दण्ड का विधान करने के लिए परमात्मा ने राजा की सृष्टि की। यदि लोक में दण्ड न हो, तो सब प्रजा नष्ट हो जाएगी और पानी में मछलियों के सामान बलवान निर्बलों को खा जायेंगे।" बौद्ध, जातकों में प्रारम्भिक अराजकता को दूर करने के लिए राजा सुमेध की दण्डनीति की चर्चा आई है। पाश्चात्य राजनीति के पण्डितों में हाब्स ने भी दण्ड सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

आचार्य कौटिल्य ने अपराधों के उन्मूलनार्थ 'धर्मस्थीय' एवं 'कण्टकशोधन' अधिकरणों में दण्ड व्यवस्था के सिद्धान्तों का विवेचन किया है, जिसमें राजा के लिए निर्मित (विधि-नियमों) कानूनों का पालन करवाना एवं नये कानूनों का निर्माण करना भी सम्मिलित था। इस प्रकार नागरिक कानून, सम्पन्नता की स्थापना (धन समुद्भव) और फौजदारी कानून व्यवस्था के बिगाड़ने (हिंसा समुद्भव) की मनोवृत्ति के प्रतिरोध पर आधारित है।

न्यायालय में आठ प्रकार के अधिकारी होते थे। राजा अन्तिम आज्ञा प्रवर्तित करता था। प्रधान न्यायाधीश दण्ड आज्ञा घोषित करता था। न्यायाधीश अन्तिम निर्णय पर पहुँचने के लिए घटना की परीक्षा एवं साक्ष्यों की समीक्षा करते थे। स्थानीय रीति रिवाज और धर्मशास्त्र ही कानून के ग्रन्थ थे। और यही न्यायकर्त्ता न्यायधीशों के प्रमाण और पथ-प्रदर्शक थे। सदेहात्मक मामलों में सुवर्ण, जल और अग्नि की स्पर्शों से न्याय करना पड़ता था। न्यायालय का गणक कानून के अनुसार हानि और अर्थ दण्डों का हिसाब रखता था। न्यायालय का लेखक न्यायाधीश के द्वारा कथित निर्णय को लिखता था और न्यायालय की आज्ञाओं का प्रकट करता था। प्रवेशक शान्त वातावरण बनाये रखने के लिए न्यायालय की रक्षा करता था। मनु० (८-१०) के अनुसार न्यायाधीश को तीन पंच सहायता करते थे। स्वीकृत

कानून का अर्थ बताने का भार सम्भवतः एक ब्राह्मण पर होता था। न्याय की व्यवस्था का भार राजा के धर्म शास्त्र के विज्ञ तीन सदस्यों और तीन अमात्यों के ऊपर होता था। (कौटिल्य अर्थशास्त्र तृतीयाधिकरण)।

अठारह प्रकार के अधिकारों के कारण मुकदमे चलते थे। ऋण और धरोहर का भुगतान करना २. बिना स्वामित्व का विक्रय। ३. साझीदारों का सम्बन्ध। ४. दान का पुनर्ग्रहण। ५ पारिश्रमिक का न चुकाना। ६. समझौतों को न मानना। ७. क्रय और विक्रय की अस्वीकृत करना। ८. पशु स्वामियों और उनके नौकरों के बीच झगड़ा। ९. सीमा सम्बन्धी झगड़ा। १०. अघात करना। ११. अपमान। १२. चोरी तथा लूट। १३. हिंसा और व्यभिचार। १४. व्यक्तियों के कर्त्तव्य। १५ जुआ और दाँव आदि।

कौटिल्य के अनुसार न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य होता था कि वह न्यायालय में किसी भी वादी या प्रतिवादी को न धमकाये, न न्यायालय से बाहर निकाले और न अन्यायपूर्वक उसे बोलने से रोके। वह उनमें से किसी को अपमानित या तिरस्कृत नहीं कर सकता था। वह जो पूछना चाहिए उसका पूछना और जो न पूछना चाहिए उसका न पूछना रोक नहीं सकता था। वह स्वयं जो पूछता था या आदेश करता था उसका उसे विचार करना ही पड़ता था। अपने कर्त्तव्य पालन में वह अनावश्यक विचार नहीं कर सकता था, न वह कार्य को स्थगित कर सकता था और न विलम्ब के द्वारा वादी प्रतिवादी को मामलों से हट जाने से लाचार कर सकता था। मामले को सुलझाने वाले वक्तव्यों को न वह टाल सकता था और न टलवा सकता था न वह गवाहों को किसी प्रकार का रहस्य दे सकता था और न वह उन मामलों को फिर अपने हाथ में ले सकता था जो पहले से तय हो चुके हों।

मुकदमे का लेखक वादी प्रतिवादी द्वारा कथित बातों को लिखने में सावधानी रखता था। वह अस्पष्ट वचनों को टाल नहीं सकता था और न स्पष्ट कही गई बातों को विपरीत या सन्दिग्ध रूप में लिख सकता था। प्रधान न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य था कि वह बिना पक्षपात के न्यायालयों के निर्णय को, विशेषज्ञ ब्राह्मण के परामर्श-दाता द्वारा स्वीकृत कानूनी व्यवस्था की ओर

न्यायालय के गणक द्वारा निर्धारित हानि तथा अर्थ दण्ड की जाँच करे और इस प्रकार अपने को सन्तुष्ट करे कि मुकदमा बिना किसी बाधा के समाप्त हो जाय। इस प्रकार प्रधान न्यायाधीश पुनर्निरीक्षण करने वाली अदालत के रूप में काम करता था। जिन पक्षों की सलाह न्यायाधीश को लेनी पड़ती थी वे अन्याय को रोकने का काम करते थे। स्वयं राजा को प्रधान न्यायाधीश द्वारा पुनर्निरीक्षित निर्णय का समर्थन करना या सावधान रहना पड़ता था। स्वयं राजा के लिए भी एक विचित्र अर्थ दण्ड का विधान था।

कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'जब राजा किसी निरपराध व्यक्तियों को दण्ड देता है, तब उस किये गये अर्थ-दण्ड का तीस गुना द्रव्य वरुण देवता के लिए जल में फेंकना पड़ता है वह द्रव्य बाद को ब्राह्मणों में बाँट दिया जाता है।' इससे प्रकट होता है कि सब प्रकार की सावधानी रखने पर पर भी अन्याय की आशा थी और स्वयं राजा भी कानून की सीमा के परे नहीं था। निश्चय ही कानून की दृष्टि में न्याय और निष्पक्षता का इससे ऊँचा आदर्श क्या हो सकता था। निर्धारित दण्डों से प्रकट होता है कि वे बदले की भावना से रहित थे। सामान्य साहित्य में मृत्युदण्ड और किसी को अंग-भंग करने के दण्ड के सदेहास्पद प्रसंगों के होते हुए भी मनु के अनुसार सर्वाधिक स्वीकृत दण्डों के प्रकार निम्न थे — आरम्भ में मधुर डाँट फटकार, बाद में तिरस्कार, फिर अर्थ-दण्ड और उसके बाद शारीरिक दण्ड, जिसमें सम्भवतः कैद और अंग-भंग करना या मृत्युदण्ड देना था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अपराधियों तथा अपराधों की एक लम्बी सूची दी है जिसमें विविध प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की गई है। दण्ड शब्द का प्रयोग सेना के अर्थ में भी हुआ है, क्योंकि दण्ड के पालन में सेना का विशेष महत्व रहता था। सेना का सबसे बड़ा सेनापति दण्डनायक होता था तथा दण्ड नाथ, दण्डाधिनाथ, दण्डाधिप, दण्डाधिपति आदि पदवियाँ पर्यायवाची शब्दों के रूप में लिखी मिलती है। इस प्रकार भारतीय शासन तन्त्र में हम देखते हैं कि दण्ड की अत्यन्त सूक्ष्म और समीचीन व्यवस्था की उपस्थापना वार्ता के आचार्यों ने की थी।

शासन तन्त्र

भारतीय शासन व्यवस्था के मूल सिद्धान्त वेदों में निहित है। शासनतन्त्र भारतीय संस्कृति में अपना अलग स्थान रखता है। मानव समाज की रक्षा ही वैदिक राज्य व्यवस्था का उद्देश्य है। वेदों में राजा, सभा, समिति, राजा का निर्वाचन, उसका पदच्युत किया जाना, और पुनः सिंहासनारूढ़ किया जाना, आदि का उल्लेख है। वैदिक नृप (राज्याधिकारियों) मंत्रियों के सहयोग और और साहाय्य से शासनसूत्र का सञ्चालन करता था। उस युग के मुख्य अधिकारी सेनापति, कोषाध्यक्ष, भागदुघ (करग्राही), ग्रामणी (ग्राम का मुखिया), सूत, (स्थूल सैन्य नायक) आदि थे।

ऐतरेय ब्राह्मण में आठ प्रकार के शासन विधान उपलब्ध होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. साम्राज्य-इसमें एक योग्य नृप का अपने रिपुराजाओं को परास्त एवं अशान्त करके, उन्हें अपना माण्डलिक बनाकर तथा उन्हें आर्य विधान (Aryan Constitution) देकर इसी विधान के अनुसार अपने अपने राज्यों के सञ्चालन का आदेश देता था। पराजित नृपों पर कोई अत्याचार नहीं किया जाता था, साथ ही उन्हें अधिक श्रेयस्कर शासन विधान सौंप कर उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया जाता था।

२. भौज्य—इसमें प्रजा के भोजन प्रबन्ध के साथ ही साथ राजा पर उसकी सुरक्षा का दायित्व प्रधान रूप से होता था। अतएव राजा जितनी प्रजा का भार इसके अनुसार वहन कर सके उतनी ही प्रजा पर वह राज्य करने का अधिकारी था।

३-स्वाराज्य—यह एक उत्तम शासन विधि थी, जिसमें (स्व) की शुद्धि पर अधिक बल दिया जाता था इसमें से यमी एवं जितेन्द्रिय पुरुष ही राज्याधिकारी होते थे। स्वाराज्य के शासकों में अधिकतर मिथ्या, दम्भ, लोभ, असत्य भाषण आदि दुर्गुणों का अभाव होता था।

४- वैराज्य — इसका व्युत्पत्ति परक अर्थ है "विगत राजकम् वैराज्यम्" अर्थात जहाँ कोई राजा नहीं होता है। सभी प्रजाजन मिलकर ही अपना शासन चलाते हैं। वैराज्य में समस्त जनता ही स्वयं अपना प्रबन्ध करती है। इस कार्य को जनता के प्रतिनिधि नहीं करते हैं।

५- पारमेष्ठ राज्य— वास्तव में परमेष्ठी परमेश्वर को कहते है। यह समझकर कि सबका शासक परमेश्वर है, अपने राज्य शासन का सन्चालन करना पारमेष्ठयराज्य कहलाता है।

६- महाराज्य— इसमे अनेक छोटे छोटे राज्य अपने को एक मे मिलाकर एक ही विधान के अन्तर्गत हो जाते है अतएव इसे महाराज्य कहते हैं।

७ अधिपत्य मयराज्य— इसमें अधिपति आदि राज्य के अधिकारी होते हैं। यह राज्य इन्हीं अधिकारियों की सम्मति से चलता है।

८- समन्त पर्यायी—राज्य शासन के अधीन रहने वाला वह राज्य है जिसमे माण्डलिक राजा होते थे, तथा इन्ही राजाओं को सन्त कहते थे।

इसी प्रकार शुक्र नीति मे भी 'रजक-वर्ष' के आधार पर आठ प्रकार की शासन प्रणाली का उल्लेख किया गया है—

१- सामन्त— एक लाख से तीन लाख तक 'रजक वर्ष'

२- माण्डलिक—चार लाख से दश लाख तक।

३ राजन— ग्यारह लाख से बीस लाख तक।

४- महाराज— इक्कीस लाख से पचास लाख तक।

५- स्वाराज्य— इक्यावन लाख से सौ लाख तक।

६- साम्राज्य— एक करोड़ से दश करोड तक।

७- विराज— ग्यारह करोड से पचास करोड तक।

८- सार्वभौम— इक्यावन करोड और उससे अधिक।

प्राचीन काल के विभाजन के अनुसार सात अंक माने गये थे, राजा को ही उनपर पूर्ण अधिकार रखना पड़ता था। मनुस्मृति, अर्थ शास्त्र के अनुसार विभाजन इस प्रकार है— (१) स्वामी (२) अमात्य (३) जनपद (४) दुर्ग

(५) कोष (६) दण्ड (७) मित्रराज्य।

राजा—प्रजा के रञ्जन करने वाले को राजा कहते हैं तथा इसका अर्थ धर्म की मूर्ति तथा दीप्तिमान है। महाभारत के अनुसार सारी प्रजा को प्रसन्न करने वाले को राजा कहते हैं।

"रञ्जिताश्च प्रजा सर्वास्तेन राजेतिशब्दयेत।" महाभारत के अनुसार राजा उसे कहते हैं, जो प्रजा के मनको आनन्दित करता है।

> रञ्जयिष्यति यल्लोक मयमात्म विचेष्टितै।
> अयमुभाङ्ग राजान मनोरञ्जनकं प्रजा॥

कालिदास के अनुसार राजा का यही अर्थ होता है। उनके अनुसार सूर्य और चन्द्रमा की तरह रघु ने भी प्रजा के रञ्जन में अपना राजा नाम सार्थक कर दिया।

राजाओं के वंशक्रम का उल्लेख वेद ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में है, जिससे यह सिद्ध होता है कि राज्याधिकार वंशक्रमागत होते थे। किन्तु वेदों में राजा के निर्वाचन का उल्लेख प्राप्त होने से यह स्पष्ट होता है कि दो प्रकार के राजा होते थे। १-- वंश क्रमागत और २-- निर्वाचित। इन्द्रिय निग्रह नियम परायणता, विनय शास्त्रमेविन्व, तथा विद्या आदि आदि राजाओं के गुण बतलाये गये हैं।

मन्त्रि मण्डल—चाणक्य के अनुसार राज्यों को सुचारु रूप से चलाने के मन्त्री कुलीन, प्रभावोत्पादक व्यक्ति होते थे। मन्त्रि-मण्डल में ये मन्त्री होते थे.-

(१) पुरोहित--राजा की सभा में उसका उच्चस्थान होता था तथा धार्मिक कार्यों के लिये इसकी परमोपयोगिता थी।

(२) प्रतिनिधि--यह राजा की अनुपस्थिति में राजा का कार्य सम्भालता था। यह प्रायः राजकुल का ही होता था।—

(३) **प्रधान**—यह सम्पूर्ण कार्यों की देखभाल करने वाला होता था। इसका स्थान सभी मन्त्रियों मे प्रधान होता था।

(४) **मन्त्री**—यह साम-दाम-दण्ड-भेद मे प्रवीण आधुनिक विदेश मन्त्री होता था। इसी पर सन्धि विग्रह का उत्तरदायित्व होता था।

(५) **सचिव**—यह युद्ध मन्त्री होता था।

(६) **प्राड्विवाक**—यह धर्म शास्त्र का ज्ञाता मुख्य न्यायाधीश होता था।

(७) **पंडित**—यह धार्मिक जीवन का निरीक्षण करता था, तथा धार्मिक नियमो मे परिवर्तन भी कर सकता था।

(८) **सुमन्त्र**—आय-व्यय का लेखा रखने वाला कोषाध्यक्ष होता था।

(९) **अमात्य**—इसका कार्य ग्राम और नगरो की गणना करना तथा कर निश्चित करना होता था।

(१०) **दूत**—यह विभिन्न देशो की शक्ति का पता लगाता था।

वैदिक काल मे मन्त्रि मण्डल के सदस्यों को रत्निन् कहा जाता था तैत्तरीय संहिता के अनुसार ये रत्निन् इस प्रकार है :—

पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावाता, सेनानी, सूत, ग्रामीण क्षत्ता, संग्रहीता, भागधुक्, अक्षावाय।

सभा और समावलि—वैदिक काल मे राजा की निरकुशता पर नियन्त्रण करने के लिए सभा और समिति ये दो संस्थाये होती थी। ऐसा वर्णन अथर्ववेद मे प्राप्त होता है। समिति पूरे राष्ट्र की संस्था थी, इसमे राजा का निर्वाचन राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता करती थी। समिति मे राजा की उपस्थिति आवश्यक थी। दोषी राजा पदच्युत किया जाता था, तथा दोष स्वीकार करने पर सत्तारूढ कर दिया जाता था।

सभा समिति के समकक्ष ही एक राजनैतिक संस्था थी। सायण के अनुसार इसका सर्व-सर्व मान्य निर्णय अनुल्लंघनीय होता था। सभा चुने हुये सद-

जनों की एक छोटी संस्था थी और समिति उससे बड़ी एक जन साधारण की सभा थी जिसमें केवल वृद्ध लोगों को ही स्थान प्राप्त होता था।

"सभा सभा यत्र असन्ति वृद्धा "

सभा के सदस्य सभ्य कहे जाते थे। सभा अपराधियों के अपराध का निर्णय करती थी तथा तदनुसार दण्डविधान होता था। ये दोनों सभायें राजा की सहयोगिनी होती थीं।

ग्रामीण शासन एवं ग्राम पंचायत— वैदिक काल में ग्रामणी की तुलना साक्षात् राजा से की जाती थी। स्मृतियों के अनुसार इसे 'ग्रामिक' कहा गया है। यह सम्पूर्ण ग्रामीण मामलों की देख रेख करती थी। इसका अस्तित्व वैदिक काल से प्राप्त होता है। इसके सदस्य वृद्ध या अनुभवी व्यक्ति ही होते थे। वैदिक काल के पश्चात् तथा बौद्ध साहित्य में भी ग्राम पंचायत का अस्तित्व प्राप्त होता है। इसे न्याय का भी अधिकार होता था।

राजतन्त्र—इसमें सर्वशक्तिमान वंश क्रमागत अनिर्वाचित राजा होता था। वैदिक काल में राजतन्त्र प्रणाली प्रचलित थी। पुराण कालीन महाराज्य और साम्राज्य आदि शासन विधान इसी प्रकार के थे।

प्रजातन्त्र—इसके अन्तर्गत प्राचीन काल के वैराज्य, स्वराज्य आदि हैं। गणराज्य का उल्लेख पाणिनि, बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र, महाभारत आदि में प्राप्त होता है। इसे संघशासन भी कहते थे। यह दो प्रकार का होता था।

१ गण—यहाँ प्रजा के प्रतिनिधि शासन करते थे।
२ कुल—यहाँ पर वंश क्रमागत राजा शासन करते थे।

गणतन्त्र—बौद्ध साहित्य में दस गणतन्त्रों का उल्लेख है। कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुली, केसपुत्त के कालाम, सुंसुमार के भग्ग, रामग्राम

के कोलिय, पावा तथा कुशीनारा के मल्ल, पिप्पलीवन के मोरिय, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवि। गणसंस्था का सारा राज्य सभागृहों या सन्थागारों में होता था। सभा के सभी सदस्य कुलीन होते थे, इसका सारा कार्य गणमुख्य (सभापति) की अध्यक्षता में होता था। बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार सभा में तीसरी बार पेश होने पर प्रस्ताव स्वीकृत होता था। 'शलाका ग्राहक' मत गणना का कार्य करता था। सभा ही युद्ध की घोषणा करती थी। तथा संधि पत्रों की स्वीकृति देती थी। सभा में 'पवनी पत्थक' पुस्तकाकार में सुरक्षित रखे जाते थे। पुस्तकाकार का अर्थ महत्वपूर्ण निश्चय से लिया गया है। न्याय के कार्य के लिये 'विनिच्चय महामात्त' 'वोहारिक' 'सूत्र धार' 'अट्ठकुलक' आदि न्यायाधीश होते थे।

अध्याय १७

प्राचीन भारत में सैन्य व्यवस्था

प्रत्येक समाज की विशेषता बताने वाले, सामाजिक जीवन के आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक आदि विविध प्रयोग परस्पर बड़े प्रभावात्मक ढंग से सम्बद्ध रहते हैं। जैसे राजनीतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों का प्रभाव सैनिक सिद्धांत और युद्ध क्षेत्रों पर पड़ा करता है, वैसे सैन्य-सज्जा एवं युद्ध कला के परिवर्तनों का प्रभाव सामाजिक, औद्योगिक तथा आर्थिक विकास पर पड़ता ही है। समाज से सम्बन्धित सैनिक विचारों, आयुधों, युद्धयन्त्रों आदि के कुशल प्रयोग और युद्ध नीति के विकास का निरूपण करने वाला युद्धशास्त्र मूलतः समर्थ सैन्य-संगठन पर ही आश्रित रहता है।

वैदिक काल

नदियों के उर्वरा भूमि में कृषि एवं पशुपालन करते-करते जो सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई उसमे आत्मरक्षा का विचार, शान्तिपूर्ण जीवन बिताने की आकांक्षा करने वाले, भारतीयों के लिए बड़ा आवश्यक था। सुरक्षा की इसी भावना से प्रेरित होकर दस्युओं और अनार्यों को पराभूत करने के लिए वैदिक काल मे पूर्णतः विकसित एवं सज्जित सैन्य पद्धति का उल्लेख हमें देखने को मिलता है। विकसित सामाजिक व्यवस्था और सम्पन्न सांस्कृतिक उपलब्धियों के फलस्वरूप उस काल में सैन्य व्यवस्था भी विकसित, सुसंगठित और वैज्ञानिक उपादानों से युक्त थी।

सैन्य अभियान रणक्षेत्र तथा संग्राम के दौरान ध्वजों का प्रयोग सामाजिक गौरव के चिन्ह के रूप मे उस काल में किया जाता था। ऋग्वेद मे ध्वज के लिए 'कृत्म' शब्द का प्रयोग हुआ है अहास्फ केजी ने अपने ग्रन्थ-'ऋग्वेद' मे

लिखा है "आर्य सेना साग्रामिक गीत गाती हुई झण्डे फहराती हुई जुझाऊ बाजे के साथ शत्रु का सामना करती थी।" कैजी महोदय की इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध के लिए कूच करती हुई सेना में सच-तान गान तथा प्रेरणा देनेवाले वाद्य, सैनिकों की सज्जा तथा वेश-भूषा के विषय में अथर्ववेद के पन्द्रहवें सूत्र के ग्यारहवें मन्त्र में आई चर्चा में वस्त्र, शिरस्त्राण, आभूषण, रत्न और साग्रामिकस्यन्दन का उल्लेख आया है।

ऋग्वेद में तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन, धार्मिक एवं नैतिक विचारों के विस्तृत वर्णन के साथ यत्र तत्र सैन्य संगठन, युद्ध-कला तथा अस्त्र शस्त्रों का समुचित वर्णन मिलता है। इससे यह निश्चत होता है इस युग म सैन्य संगठन एव उसका स्वरूप विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था।

वैदिक काल में आर्य तथा अनार्यों ने अत्यधिक उन्नति प्राप्त कर ली थी। अनार्य जातियाँ ग्रामो नगरो को दुर्गो परकोटों से सुरक्षित रखती थीं। अतः आर्यों को उन पर विजय प्राप्त करने के लिए अपार युद्ध करना पड़ता था। तथा ऋग्वेद मे यह कथा भी प्रसिद्ध है कि सुदास ने दस राजाओं को युद्ध में अपनी महान् सैन्य शक्ति से पराजित कर सर्वश्रेष्ठ सम्राट पद को प्राप्त किया था। अन्य स्थलो पर भी आर्य-अनार्य युद्ध का आलेखन है जैसे-पृथ्वी को दासों की श्मशान भूमि एव पुरन्दर तथा कृष्ण योनि दासों की सेना का विध्वंसक इन्द्र को बताया गया है। ऋग्वेद (२०।६।७) २

असंख्य कृष्ण वर्ण दासों के रणभूमि में विनाश एवं उनके ग्रामों का विनाश वर्णित है। कृष्ण वर्ण वाले दासों पर चढ़ाई करने पर ऋजिश्वा द्वारा वगुद नामक अनार्य राजा के शत संख्या वाले पुरों के भेदन का वर्णन है। इन युद्ध वर्णनों के आधार तत्कालीन युद्ध कला कौशल के चरमोत्कर्ष का दिग्दर्शन होता है।

सामाजिक रचना एवं युद्ध- वैदिक काल में महान युद्धों एवं दस्युओं से संघर्षों के कारण आर्यों को चतुर सैनिक समूहों की आवश्यकता थी। अतः

उन्होंने इस कार्य में क्षत्रियों के हाथ में शासन रक्षा की बागडोर सौंपी, तथा नायक निर्वाचन परम्परा का श्रीगणेश किया। (ऐतरेय ब्राह्मण १।१४)

जीवन में रक्षा के भार के महत्व के कारण क्षत्रिय वर्ग ने वैश्य तथा शूद्र वर्गों से श्रेष्ठता का पद प्राप्त किया। ब्राह्मण वर्ग पर वैदिक विद्या के संरक्षण के साथ धनुर्विद्या आदि अस्त्र-शस्त्रों की परिचालन-शिक्षा का पूर्ण भार था, तथा बुद्धिजीवी होने के कारण ब्राह्मण पुरोहित के परामर्श बिना राजा कोई कार्य नहीं करता था, क्योंकि राजा को ब्राह्मणों के परामर्श पर सफलता का पूर्ण विश्वास था। चार प्रकार के वर्णों से युक्त समाज की रचना इस काल में पूर्ण विकसित हो चुकी थी तथा उन चारों वर्णों की क्रमशः श्रेष्ठता भी समाज स्वीकृत कर चुका था यथा—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहूराजन्य. कृत
> ऊरु तदस्य यद्वैश्य. पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

आश्वलायन-गृह-सूत्र १।१४ के अनुसार ब्राह्मण शास्त्रों शस्त्रों एवं दण्ड नीति के सभी अंग का पूर्ण ज्ञाता होता था। इस प्रकार इस युग में सैनिक कार्य के अंगों ने समाज पर अपनी आवश्यकता की पूर्ण छाप डाल रखी थी।

आर्य सेना एवं नृपति चयन—संग्राम में विजय श्री उसी का वरण करती है जिसका सेनापति धीरवीर एवं सहासी के साथ साथ कुशल प्रशासनिक तत्वों का परिज्ञाता हो। आर्यों तथा अनार्यों के युद्ध में अनेक बार पराजय का कारण मुख्यत. समुचित नेता के चयन का अभाव ही होता था। इसी लिए तत्कालीन अनार्य जातियाँ अपनी राज्य व्यवस्था की दृढ़ सुरक्षा हेतु श्रेष्ठ गुणी नायक एवं राजा के चुनने में बड़ी सजगता से काम लेती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण १।१४ की पंक्तियों से स्पष्ट सकेत होता है कि इन्द्रादि देवताओं ने असुरों से अपनी पराजय का कारण श्रेष्ठ गुण सम्पन्न राजा निर्वाचन का अभाव ही स्वीकार किया था। नृपति के बिना विजय असम्भव थी। ऋग्वेद में यह वर्णन आया है कि नृपति के अभाव में प्रजा अनेक प्रकार से शत्रुओं द्वारा त्रस्त की जाती हुई कुचली जाती थी।

ना अस्य ज्यष्ठामिन्द्रिय मदन्ते मा इमा क्षति स्वधया यदन्तो ।
सा ई विशो न राजान वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन ॥[1]

ऋग्वेद १०।१२४।८

इस प्रकार राजा जनगोप्ता एवं पुराभेत्ता कहा जाता था। अत उस समय नृपति एव नेता की चयन व्यवस्था पूर्ण विकसित थी।

सैन्य रचना—वैदिक अध्ययन स पता चलता है कि उस समय राज्य में अपनी स्थायी सेना नही होती थी तथा क्षत्रिय वग अनेक कुलो मे विभक्त थे, और युद्ध काल म स्थानीय सैनिक कुल नेता क नेतृत्व मे युद्ध के लिए एकत्र हो जाते थे। कभी कभी वैश्यो द्वारा भी युद्ध म भाग लेने का वणन है। ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण द्वारा विजय कामना करते थे। सेना का पृत या पृतना कहा जाता था। पूव वदिक युग मे पैदल तथा रथी दो प्रकार की सेना का वणन मिलता है। तथा श्रेष्ठ रथी सना होने पर ही विजय का विश्वास किया जाता था सौ सौ चक्कों वाले रथो एव छ छ घोडो को रथो मे जोते जाने का वणन मिलता हैं। डा० ए० सी० दास के अनुसार वैदिक काल मे अश्वो से भी युद्ध करने की परम्परा थी परन्तु अधिकतर विचारक उत्तर वैदिक युग मे घोडों एवं हाथियो की सना का प्रचलन मानते हैं। इस प्रकार इस युग मे पैदल तथा रथी सेना की प्रधानता एव अश्वो और गजो की सेना का प्रचलन गौण रूप से स्पष्ट होता है।[2]

इस युग के सैनिकों की संख्या का उल्लेख न होते हुए भी इन्द्र द्वारा हजारो सैनिको के वध किये जाने का वणन है तथा ऋग्वेद मे क्रमश १।५३।९ एवं ६।१६।१३ म ६०००० तथा ५०००० सैनिको के वध किये जाने का वणन एव दाशराज्ञ युद्ध मे भी ६६०६६ सैनिको के मारे जाने का उल्लेख है। इन वणनो स उस युग के अपार सैन्य सगठन का पता चलता है।

सैन्य शिक्षण—राज्य मे स्थायी सेना के अभाव से यह पता चलता है कि वैदिक युग मे सैनिक शिक्षा की राजकीय व्यवस्था नहीं थी। गुरुकुल एवं नगरों म रहने वाले ब्राह्मणों के व्यक्तिगत विद्यालयो म अथवा पिता अपने

पुत्रों को क्षात्र धर्मों का पालन तथा धनुर्विद्या की शिक्षा-दीक्षा देना होगा। उपनिषद काल में भी नारद द्वारा अनेक विद्याओं के साथ क्षत्रिय विद्या ज्ञान का भी उल्लेख है।

अस्त्र-शस्त्र—इस युग में धनुष बाण का महत्व अत्यधिक था। इसकी शिक्षा एवं बनावट आदि तथा और भी अनेक प्रकार की युद्ध विद्याओं का वर्णन विस्तृत रूप से धनुर्वेद नामक उपवेद में मिलता है। दाशराज्ञ आदि युद्ध वर्णनों में अधोलिखित रूप में अनेक अस्त्र शस्त्रों का वर्णन मिलता है।

धनुष, बाण, भाला, तलवार, ऋष्टि, या बल्लम, कटार, मुद्गर, (फाककर चलाने वाला अस्त्र) अशनि (हाथों पर रखकर फेंकनेवाले गोले या गोलियाँ)।

इनके अतिरिक्त उस युग के साहित्य में कहीं कहीं आग्नेय आदि शस्त्रों का भी आभास मिलता है। कभी कभी पुर के चारों ओर अग्नि लगाकर भी शत्रु को जीतने का वर्णन मिलता है।

अन्य सैन्य उपकरण—वैदिक युग की धातु प्रयोग श्रेष्ठता प्रसिद्ध है। इस युग में सिर की रक्षा के लिए लोह ताँबे और कहीं कहीं स्वर्ण टोप, हाथों की धनुष प्रत्यञ्चा से रक्षा के लिए दस्ताने तथा शरीर रक्षा के लिए अनेक प्रकार की पुष्ट धातुओं से निर्मित कवचों का प्रचलन था। तथा युद्ध भूमि में वीरों का प्रोत्साहित करने वाले दुन्दुभि, घोर क्रन्द (युद्धघोष) तथा ध्वज व पताकायें रहती थीं।

दुर्ग के विविध रूप—इस युग के लोग अपने नगरों एवं पुरों को अनेक प्रकार के परिखा या परकोटा से शत्रु रक्षा के लिए घेर देते थे। इन्द्र को दस्युओं के अनेक पुर नष्ट करने के कारण ही पुरन्दर कहा गया है। फलतः निरत दुर्गों के वर्णन के साथ साथ इन्द्र द्वारा लौह पुरी का विनाश वर्णन भी है। शतभुजी या अनेक में बचाने वाले शतस्तम्भों वाले दुर्गों का भी उल्लेख है।

यद्यपि चातुर्य—सबसे पहले दस्यु आर्यों की सीमा में पहुँच ईंटों के टुकड़े फेंकता था। ईश्वरोपासना करते हुये योद्धा रथ पर आते तथा [illegible]

धारण किये साधारण पैदल सैनिक पंक्ति बद्ध होकर युद्ध करते थे। सामरिक दृष्टि से क्षेत्र चुनाव होता था। जैसे दाशराज्ञ युद्ध मे नदी का तट चुना गया था। जीतने पर उत्सव मनाने की प्रथा थी।

युद्ध में विविध वाद्य प्रयोग—उस समय शत्रुओं को हतोत्साहित एवं अपनी सेना में स्फूर्ति पैदा करने के लिए दुन्दुभि एवं धौंसो का संग्राम मे अत्यधिक प्रयोग होता था। कन्द आदि से भी सैनिको मे धैर्य एवं उत्साह भरते रहते थे।

जलयान तथा वायुयान—जलयानो तथा वायुयानो का वर्णन व्यापार के लिए मिलता है कही कही जलयान के लिये नाव शब्द प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है युद्ध मे भी इनसे काम लिया जाता हो।

इस प्रकार वैदिक युग में भारतीय सैन्य कला विश्व की सभी सैन्य कलाओं मे मूर्धन्य थी। युद्ध सम्बन्धी नियमों का अभाव होते हुये भी प्रायः निवास भूमि एवं सीमा विस्तार के लिए संग्रामों का प्रचलन था।

रामायण, महाभारत तथा पुराणों में लिखित सैन्य व्यवस्था

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है, अतः जैसा जिस काल का समाज होता है, उस काल में वैसे ही साहित्य का निर्माण होता है, तत्कालीन समाज की झाँकियाँ साहित्य मे निखर उठती हैं। तथा वे झाँकियाँ आगे आने वाली पीढ़ियों का पथ प्रदर्शन कर गौरवान्वित करती हैं। वैदिक साहित्य के अनन्तर रामायण महाभारत तथा पुराण कालीन साहित्य का भी विश्व में अद्वितीय स्थान है इसीलिये विश्व के अनेकों विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से इनकी प्रशंसा की है। रामायण तथा महाभारत मे आर्थिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक सैन्य व्यवस्थाओं का वर्णन वेदो से कुछ भिन्न है। वैदिक युग के बाद तथा बौद्ध युग के पूर्व की भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप समझने के लिये

इन ग्रन्थों का आलोडन अत्यन्त श्रेयस्कर है।

इन दोनों महाकाव्यों में युद्ध का इतिहास है। रामायण में वर्णित राम रावण युद्ध से पता चलता है कि इस युग में राक्षसाधिपति दशानन अपूर्व सैन्य शक्ति एवं भौतिक यन्त्र शक्ति में इतना आगे था कि उसे पुरुषोत्तम राम ऐसे योद्धा भी बहुत काठिन्य के बाद परास्त कर सके। महाभारत में भी प्रमुख रूप से, पाण्डव तथा कौरव इन दो पक्षों को लेकर, सभी भारतीय राजाओं के संग्राम का वर्णन है।

ये ग्रन्थ संग्राम वर्णनों से युक्त होने के कारण विस्तृत सैनिक व्यवस्था का परिचय देते हैं इनके अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल से इस काल में अत्यधिक सैन्य विकास हो चुका था। रामायण से भी अधिक महाभारत काल में सैन्य अस्त्र शस्त्रों का विकसित रूप लक्षित होता है। इनमें सेना के कर्तव्यों, शस्त्रास्त्रों एवं युद्धकला तथा रक्षात्मक साधनों का विस्तृत वर्णन है।

सैनिक वर्ग तथा उसका कर्तव्य—इस युग में वर्ण व्यवस्था पूर्ण विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग अन्य लोगों से विलग हो चुके थे शासन में क्षत्रियों का पूर्ण अधिपत्य हो चुका था। बाह्य एवं आन्तरिक रक्षा का इनके ऊपर पूर्ण उत्तरदायित्व था। सभी की रक्षा एवं प्रजा की सेवा ही परम कर्तव्य था। सेना के साथ सर्वत्र रहना, सबका हित करना, मृत्यु पर्यन्त, बिना पराजय, युद्ध में बने रहना आदि क्षत्रियों के कर्तव्य थे। प्रमुख रूप से क्षत्रियों का शासनिक एवं सामरिक कार्य था। चुनौती स्वीकार कर युद्ध करना क्षत्रिय का परम धर्म समझा जाता था। युद्ध में मृत्यु से स्वर्ग प्राप्ति पर पूर्ण विश्वास करते थे।

संग्राम के कुछ कारण—इस युग में युद्ध के राजनीतिक सामाजिक, एवं आर्थिक कारणों के साथ २ स्त्री प्राप्ति भी प्रधान रूप से युद्ध का कारण बन गया था। सभी क्षत्रिय शासक अपने राज्य के विस्तार एवं कीर्ति हेतु रणभूमि जाने के लिए सदा तैयार रहते थे। चक्रवर्ती साम्राट बनने के लिये राजा

युधिष्ठिर एवं राम आदि अश्वमेध यज्ञों का विधान करते थे। सामान्य क्षत्रिय दो विवाह एवं राजा अनेक विवाह कर सकता था। इस काल के साहित्य में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है तथा राक्षस पद्धति का विवाह पत्नी के लिये स्वयम्बर पद्धति में भी श्रेष्ठ समझा जाता था जैसे दुर्योधन ने कलिङ्गराज की पुत्री का तथ कृष्ण ने रुक्मिणी का तथा अर्जुन ने सुभद्रा का हरण करके राक्षस पद्धति से विवाह किया था। राम रावण आदि के युद्ध के मूल में भी नारी ही कारण है। इसके अतिरिक्त राज्य आदि के बटवारे के लिये भी कौरवों और पाण्डवों के युद्ध का वर्णन मिलता है।

रण में ब्राह्मण वर्ग का योग दान—क्षत्रिय लोगों का जितना विश्वास अपने शस्त्रास्त्र बल पर था उससे भी अधिक विश्वास वह ब्राह्मणों के मन्त्रबल पर रखते थे। इसीलिए ब्राह्मणों की मन्त्रणा के बिना राजा युद्ध संचालन नहीं करता था। युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद ब्राह्मणों का पूजन एवं दान कर राजा उन्हें सम्मानित करता था। उसके साथ साथ रावण एवं उसके राज्य में कुछ ब्राह्मणों के संग्राम में भाग लेने तथा महाभारत में भी अश्वत्थामा द्रोणाचार्य आदि ब्राह्मण वीर ही थे।

सैनिक रचना—यद्यपि वैदिक युग में प्रधानतः पैदल तथा रथ दो प्रकार की ही सेना का वर्णन है परन्तु इसकाल में मनुस्मृति के आधार पर छः प्रकार की सेना का तथा महाभारत में आठ प्रकार की सेना का वर्णन मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं १ पैदल, २ रथ ३ घोड़े ४ हाथी ये चार प्रकार की सेना का वर्णन तो दोनों में है परन्तु मनुस्मृति में अस्त्र शस्त्र ढोने वाले एवं कर्मचारी वर्ग भी सेना के अन्तर्गत माने गये हैं। इसी प्रकार महाभारत के अनुसार युद्ध सामग्री ढोने वाला वर्ग, नौका वर्ग, दूत वर्ग एवं उपदेशक वर्ग भी सैनिक वर्ग माना गया है। परन्तु प्रधानतः युद्ध कार्य पूर्वोक्त चार प्रकार के सैनिक ही करते थे। सेना में चिकित्सक वर्ग भी रहता था।

वैदिक युग में जिन सैनिक वर्गों का लघु स्वरूप था, इस युग तक उनका विकास आश्चर्यजनक हो गया।

जब आर्य लोग विशाल दुर्गों को तोड़ने में असमर्थ हुये तो उन्होंने दुर्गों को तोड़ने एवं दूर देश तक जाने तथा नाले नदी पार करने, मैदानी क्षेत्रों में सेना सुरक्षा के लिये चलायमान किलो के निर्माण के लिये हाथियों को उपयोगी समझ कर युद्ध में इनका विस्तार कर लिया।

अश्व सेना का महाभारत काल तक इतना अधिक विकसित होने का यह कारण है कि घोड़े भी दूर जाने एवं सेना में अत्यन्त तीव्रता से प्रविष्ट होने में अश्व सबसे अधिक सफल प्रतीत हुये।

आधुनिक युग को टैंकों की भाँति ही इनका आशातीत विकास हो गया।

इसी प्रकार पैदल तथा रथ सेना का भी महत्व पूर्ण विकास हुआ। सैनिकों की संख्या एवं शिक्षा पद्धति में भी महाभारत काल तक महत्व पूर्ण विकास हो चुका था। इस काल में रथ खींचने का कार्य अश्वों के अतिरिक्त खच्चरों बैलों एवं गदहों से लिया जाने लगा था। जैसे वाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड ७३।८ के अनुसार इन्द्रजीत के रथमें खच्चर जुते हुये थे। बैल जोतने का कार्य सैन्य सामग्री ढोने वाले रथों में होता था।

इस युग में सेना अत्यधिक होती थी। विराट पर्व(३३/४८)के अनुसार मत्स्य सेना में ८००० रथ १००० हाथी तथा ६०००० अश्व थे। इस प्रकार इस युग में वैदिक काल की अपेक्षा सैनिक रचना में महत्वपूर्ण विकास हो चुका था।

सैनिक भर्ती एवं वेतन भत्ता आदि

सेना में प्रधानत: क्षत्रिय ही भर्ती किए जाते थे। इस युग में स्थाई सेना का प्रचलन हो गया था। इसका मुख्य कार्य दुर्गों की रक्षा करना व राज्य में शान्ति स्थापित करना था। सैनिक पदाधिकारी भी स्थाई होते थे। उनमें सेना पति तथा दुर्ग रक्षक अधिकारी राज्य के प्रमुख १८ अधिकारियों में गिने जाते थे। सैनिकों के लिए नियमित रूप से वेतन का भी प्रबन्ध होता था। युद्ध में सैनिक के शहीद हो जाने पर उसके दु:खी परिवार को राज्य-सहायता भी दी जाती थी। प्रत्येक सैनिक की भत्ता एवं नकद विदली सभी शान्ति के दृष्टिकोण से

में की जाती थी। स्थाई सेना के अतिरिक्त ऐसे भी व्यक्ति होते थे जो युद्ध के समय सेना में भर्ती हो जाते थे और अपने कार्यों का पारिश्रमिक प्राप्त करते थे। मनु के मतानुसार सेना में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन के निवासियों की भर्ती भी की जाती थी। इन देशों के व्यक्ति युद्ध क्षेत्र के विभिन्न भागों में युद्ध करने के लिए उत्तम समझे जाते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि इस युग में क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र भी भाग लेते थे।

सैनिक शिक्षण-प्रशिक्षण

स्थाई सेना व क्षत्रिय वर्ग के कर्त्तव्यों की सीमा के दृढ़ रूप में निश्चित हो जाने के कारण सैनिक शिक्षा का महत्व भी बढ़ गया था। भर्ती किये जाने वाले सैनिकों को युद्ध शिक्षा दी जाती थी। रामायण में रावण अपने सेनापति को आदेश देता है कि हे वीर सेनापति, हमारी चतुरंगिणी सेना को जो पूर्णता युद्धकला में प्रशिक्षित है, शत्रु से नगर की रक्षा हेतु यथा स्थान नियत कर दो। इससे स्पष्ट है कि इस काल में सैनिकों को शिक्षा देने की उचित व्यवस्था थी। आयुध जीवी व्यक्ति शायद अपने ग्रामों की व्यक्तिगत पाठशालाओं में ही जिनका सचालन एक व्यक्ति (गुरु) करते होंगे, सैनिक शिक्षा प्राप्त करते होंगे। राजकुमारों और उच्चकुल के पुत्रों के लिए राज्य की ओर से सैनिक पाठशाला होती थी। द्रोणाचार्य जी को पाण्डु और कुरु राजकुमारों की सैनिक शिक्षा के लिए नियुक्त किया गया था। रामायण में भी राजा का अनेक विषयों की शिक्षा के साथ साथ धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। आदि पर्व में एक ऐसे विश्वविद्यालय का उल्लेख है जो नगर से कुछ दूर वन में था, जिसमें नवयुवक अन्य विषयों की शिक्षा के साथ ही साथ सैन्य विज्ञान की शिक्षा भी प्राप्त करते थे। उस युग में क्षत्रिय बालक १६ वर्ष की आयु में सैनिक शिक्षा समाप्त कर लेते थे। रामायण में उल्लेख मिलता है कि जब विश्वामित्र राजा दशरथ से राम और लक्ष्मण को माँग रहे थे तब दशरथ ने कहा था कि राम अभी १६ वर्ष के भी नहीं हुए है और उनकी शस्त्र विद्या भी पूरी नहीं हुई है। महाभारत में भी स्पष्ट है कि

अभिमन्यु १६ वर्ष की आयु में ही निपुण योद्धा बन गया था। उसका विवाह भी हो चुका था तथा वह युद्ध-क्षेत्र में भी गया था। इससे सिद्ध होता है कि उस युग में सैनिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र में भी समुचित विकास हुआ था।

शस्त्रास्त्र

वैदिक युग की अपेक्षा इस युग में शस्त्रास्त्रों का अधिक विकास हुआ। कई नवीन अस्त्रशस्त्र भी इस युग में दिखाई देते हैं सुरक्षात्मक साधनों और शस्त्रास्त्रों में भी उन्नति हुई थी। किन्तु, वैदिक एवं पाषाण युग के पत्थर लकड़ी और हड्डी के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग भी इस युग के ग्रन्थों में मिलता है। राम-रावण युद्ध में, वानर सेना ने, पत्थर तथा वृक्षों का प्रयोग किया था। वानर जाति आदि जाति थी, शायद उसने शस्त्रों में उतना विकास नहीं किया था जितना आर्य जातियों ने कर लिया था। इसीलिए उन्होंने पत्थर और वृक्षों के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया था। मार्कण्डेय पुराण (अध्याय ८४, ८७) में ८६ प्रकार के शस्त्रों और ८४ प्रकार की गदाओं का उल्लेख है। इस युग में शतघ्नी नामक शस्त्र का नाम उल्लेखनीय है। उसे कुछ विद्वानों ने आग्नेय अस्त्र माना है। श्री दीक्षितार के अनुसार यह एक साथ सौ व्यक्तियों को मारने वाला अस्त्र था। यह अयोध्या तथा लंका के दुर्गों की दीवारों के ऊपरी भाग पर लगा दिया गया था। डा० चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'आर्ट आफ वार इन ऐंशियेण्ट इण्डिया' (पृ० १५०—१८०) में इस युग के निम्नलिखित शस्त्रास्त्रों का उल्लेख किया है।

६ वल्लम
७. यन्त्र (एक प्रकार की मशीन)
८ कुठार (फर्सा)
९ चक्र (धातु का बना घूमने वाला यन्त्र)
१०. शतघ्नी

इन शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त सुरक्षात्मक आवरण भी होते थे। इस युग के अश्वारोही तथा रथ-सारथी भी अपने शरीर के अंगों की रक्षा के लिए कवच आदि का प्रयोग करते थे। भीष्मपर्व (अध्याय १६१८) मे सैनिकों की अंगुलियो के कवच तथा पशु चर्म से शरीर को ढकने वाले कवचो का वर्णन मिलता है। विशेष कर धातु के ही कवच होते थे। भीष्मपर्व (अध्याय ८८) म हड्डी के दस्तानो का भी उल्लेख मिलता है। डा० चक्रवर्ती ने निम्नलिखित सुरक्षात्मक कवचो का उल्लेख किया है।

१. आवरण चर्म
२ वर्मन् कवच
३ शिरस्त्राण
४ कण्ठत्राण
५. हस्तावाप

दुर्ग परिखा आदि

दुर्ग रचना तथा बस्ती के चारो ओर खाई की निर्माण-पद्धति प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही थी। हाथी सेना मे अधिक होते थे अत उनसे नगर की सुरक्षा करने के लिए तथा दूर फेंके जाने वाले अस्त्रों से बचाव हेतु अब ऊँची २ दीवारो वाले, गहरी खाई से घिरे हुए, दुर्ग बनने लगे थे। युद्धकला की दृष्टि से मनु के ६ प्रकार के दुर्गों-धन्व दुर्ग महीदुर्ग जलदुर्ग, वार्क्षदुर्ग, नृदुर्ग, गिरिदुर्ग-में से गिरि दुर्ग को ही सर्वोत्तम बताया है। उनका कहना है कि गिरिदुर्ग तक शत्रु को पहुँचने मे कठिनाई होती है तथा दुर्ग म फेंके जाने

वाले अस्त्र शत्रु की अधिक सेना को हानि पहुँचा सकते है। उनका यह भी विचार है कि दुर्ग में सभी आवश्यक सामग्री रहनी चाहिए, ताकि युद्ध के समय दुर्ग के भीतर की जनता उसका प्रयोग कर सके।

रामायण में लंका के दुर्ग का विवरण यह बताता है कि दुर्ग की दीवारें ऊँची, दृढ़ तथा खाइयों से सुरक्षित होती थीं। खाई में जल भरा रहता था और उसमें भयानक जीव जन्तु रहते थे। दीवारों के ऊपर सैकड़ों शतघ्नी जैसी मशीनें लगी होती थी, जिनसे दुर्ग के बाहर शत्रु पर अस्त्रों की वर्षा की जा सकती थी। खाई पर दुर्ग के भीतर जाने आने के लिए पुल बने होते थे, जिनके दोनों सिरों पर विध्वंसक यन्त्र लगाये जाते थे। इसी प्रकार सभापर्व (अध्याय २१) में जरासंध की राजधानी मगधपुर, वन-पर्व (अध्याय १६, २०) में द्वारका का और रामायण (बालकाण्ड अ० ५) में अयोध्या नगर के दुर्गों का वर्णन है जो इस काल की दुर्ग रचना के विकास पर प्रकाश डालता है।

युद्ध-क्षेत्र में भी सेना अपनी किलेबन्दी किया करती थी। शायद हाथियों का प्रयोग मैदानी क्षेत्र में किलेबन्दी के लिए अधिक उत्तम समझा जाता होगा किन्तु महाभारत या रामायण के युद्धों में उसका प्रमाण नहीं मिलता। केवल धनुर्वेद में राज-सेना का समावेश ही इस अनुमान का आधार है। एक शिविर का उल्लेख इस पर और प्रकाश डालता है। इस शिविर में अनगिनत तम्बू, खम्भे गड़े हुए थे। जिनमें शस्त्र तथा आवश्यक सामग्री प्रचुर मात्रा में सुरक्षित थी। यह शिविर पाँच योजन के क्षेत्र में फैला हुआ था। इन सभी उदाहरणों से सिद्ध होता है कि इस काल में किलेबन्दी का महत्त्व पहले की अपेक्षा अधिक था।

सैन्य यात्रा विधि—युद्ध के लिए सेना की यात्रा का मुहूर्त ज्योतिषी निश्चित करते थे। साधारणतः लम्बी यात्रा का मुहूर्त सर्दी के दिनों में और समीप की यात्रा का गर्मी के दिनों में निश्चित किया जाता था। सेना के आगे कुछ महारथी चलते थे। मध्य में राजा और आवश्यक सामग्री युक्त वाहन चलते थे। उनके पीछे प्रमुख सेनाध्यक्षों के अधीन मुख्य सेना चलती थी। यदि

युद्ध सामग्री अपर्याप्त होती या शत्रु राजा से सन्धि की आशा होती थी तो सेना की गति धीमी रहती थी अन्यथा सेना तीव्र गति से यात्रा करती थी। मनु के अनुसार राजा के अपने नगर से युद्ध-क्षेत्र अथवा शत्रु-पक्ष की ओर यात्रा करते समय यदि चारों ओर से शत्रु का भय हो तो दण्ड-व्यूह, यदि दोनों बगलों से भय प्रतीत हो तो वराह व्यूह या गरुड़ व्यूह यदि आगे पीछे से भय हो तो मकर व्यूह और यदि आगे की ओर से भय मालूम हो तो सूचीमुख-व्यूह के आकार में सेना को सज्जा कर यात्रा करनी पड़ती थी। इस प्रकार से य यात्रा को सुरक्षित बनाने पर उस युग में विशेष महत्व दिया जाने लगा था। कभी कभी सेना को चारों ओर समान रूप से फैलाकर मध्य में राजा को स्थान दिया जाता था। इस प्रकार के व्यूह को कमल व्यूह की संज्ञा प्रदान की गई है। कमल व्यूह का प्रयोग सैन्य यात्रा तथा सैनिक पड़ाव के लिए उचित बताया गया है। इसका अभिप्राय है कि युद्धक्षेत्र में पहुँच कर शिविर में सेना को सुरक्षित रखने की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

भारतीय संस्कृति का युग-प्रवाह

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

संसार-चक्र परिवर्तनशील है। प्राणिमात्र ही नहीं, ग्राम, नगर, देश और राष्ट्र भी काल की सीमा में आबद्ध हैं। उनका भी उत्थान-पतन होता है। भारत के जिस भाग में आज मरुस्थल है, कुछ सहस्र वर्ष पूर्व ही वहाँ हरीतिमा का प्रसार था। लगता है आज की मरुमरीचिका कल की कल-कल छल-छल करने वाली सरिताओं की ही छाया है। सिन्धु नदी की घाटी में एक उन्नत व समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ था, जिसके प्रधान नगरों के भग्नावशेष, इस समय के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। यह सभ्यता पूर्व में काठियावाड़ से प्रारम्भ होकर पश्चिम में मकरान तक विस्तृत थी। उत्तर में इसका आभोग हिमालय तक था। इसके प्रधान नगर सिन्धु व उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती प्रदेश में विद्यमान थे, इसीलिए इसे 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' कहा जाता है।

इस सभ्यता का ज्ञान हमें जिस प्रकार हुआ, वह इतिहास भी बड़ा रोचक है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व की यह सभ्यता वसुन्धरा के उदर में अपने भग्नावशेष छोड़कर विलीन हो गई थी। पर पुरातत्ववेत्ताओं के अदम्य उत्साह एवं कार्यनिष्ठ धैर्य के फलस्वरूप वे तिमिर-विलीन, नगरों के नाम स्मरों वाले भग्नावशेष आज पुनः सूर्य का प्रकाश पाने के लिए करवट बदल चुके हैं।

उत्खनन के स्थल इस प्रकार हैं :—

१—मोहनजोदड़ो

२—हड़प्पा

३—अरबाना

४—करांची

५ – चैन्हुदडों एव झूकरदडो

६—केलात (बलूचिस्तान)

इस सम्यता के सुविस्तृत क्षेत्र को यदि एक त्रिभुज द्वारा प्रकट किया जाय तो उसकी तीनों भुजाएँ क्रमशः ६४०,६०० और ५५० मील लम्बी होंगी। इस सुविशाल क्षेत्र म, अब तक, चालीस बस्तियों मे खुदाई का कार्य हुआ है।

उत्खनन क्षेत्रो मे से सम्यता के सच्चे स्वरूप को सम्मुख लाने का श्रेय मोहनजोदडो एव हडप्पा की खुदाइयों को ही दिया जा सकता है, क्योंकि ये ही सिन्धु सम्यता के केन्द्र थे। अधिकाश भग्नावशेष यहीं प्राप्त हुए है।

मोहनजोदड़ो—मोहनजोदड़ो का शाब्दिक अर्थ शवों की ढेरी है'। यह स्थल करांची से २०० मील उत्तर, सिन्धु के लरकाना जिले मे, सिन्ध तथा नर नहर के मध्य स्थित है। सर्व प्रथम १६२२ ई० मे 'आर्केओलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' के पश्चिमी सर्किल के अध्यक्ष श्री राखालदास बनर्जी को यहाँ एक बौद्ध धर्म की समाधि प्राप्त हुई थी। इस आशा स कि यहां बौद्ध धर्म-सम्बन्धी कुछ सामग्रियाँ प्राप्त होंगी, बनर्जी ने उत्खनन-कार्य प्रारम्भ करवाया और बौद्ध अवशेषों के स्थान पर एक समृद्ध सम्यता का अवशेष प्राप्त हुआ।

हड़प्पा—यह पजाब मे लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम मे, रावी नदी के तट पर, माटगोमरी जिले मे एक स्थान है। यहाँ सर्व प्रथम १९२२ ई० मे दयाराम साहनी ने अन्वेषण कार्य आरम्भ किया था और कुछ भग्नावशेष प्राप्त किये थे, किन्तु तत्पश्चात 'ऑर्केअलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया' के डायरेक्टर जनरल, सर जॉन मार्शल के निरीक्षण मे यहाँ पर्याप्त उत्खनन कार्य हुआ, जिससे वसुधा-विलीन-वैभव का अनावरण हुआ।

नगरों की रचना एवं भवन-निर्माण

यह सम्यता अनुमानतः पाँच महस्र वर्ष प्राचीन है। मोहनजोदडो और हडप्पा मे जो खुदाई हुई है, उससे ज्ञात होता है कि इन नगरो की रचना ही, एक निश्चित योजना के अनुसार की गई थी। मोहनजोदडो मे जो भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण को सीधी रेखा मे जाती है और या पूर्व से

पश्चिम को। सड़कें चौड़ाई में भी बहुत अधिक है। नगर की प्रधान सड़कें पैंतीस फीट चौड़ी है और ये नगर के ठीक बीच में उत्तर दक्षिण की ओर चली गई है। कोई भी गली ४ फीट से कम चौड़ी नही है।

सिन्धु सभ्यता के इन नगरो में, नगर के गन्दे पानी को बाहर ले जाने का बहुत उत्तम प्रबन्ध था। मकानों के स्नानागारो, रसोइयां और शौचालयों का पानी नालियों द्वारा बाहर आता था और इस क्रम से वह गन्दा पानी नगर की बड़ी नालियों में मिल जाता था। प्रत्येक गली व सड़क के साथ साथ पानी निकालने के लिए नाली बनी हुई थी।

सड़कों व गलियों के दोनों ओर मकानो का निर्माण किया गया था। इन मकानों की दीवारें अब तक भग्न-रूप में विद्यमान है। अनुमान किया जाता है कि मोहनजोदड़ो के मकान मजबूत और सुन्दर होते थे। प्राचीन प्रासाद, आज अपने खण्डहरों में अपनी सभ्यता समेटे, प्रगाढ़ निद्रा में शयन कर रहे हैं।

किसी भी देश की संस्कृति उस देश की विकसित कला और शिक्षा में आँकी जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने कला के दो विभाग किये—(अ) उप-योगी कला (ब) ललित कला।

ललित कला को पाँच भागों में विभक्त किया गया—

(१) वास्तुकला (२) मूर्तिकला (३) चित्रकला (४) संगीत कला एवं (५) काव्यकला।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में इन समस्त कलाओ का विकास हुआ था, ऐसा अवशेषों से अनुमान लगता है।

वास्तुकला—साधारण गृहो से लेकर भव्य भवनों एवं विशाल प्रासादो तक का निर्माण किया गया। मकान प्रायः दो मंजिले होते थे। २५ फीट तक की दीवारों में ऐसे छिद्र मिले है, जिनमे शहतीर डालकर ऊपर की मंजिल बनाई गई होगी। ऊपर जाने के लिए मकानों में सीढ़ियाँ बनाई जाती थी। द्वार अनेक आकार के होते थे। कमरों में स्नान एवं अलमारियाँ भी होती थीं। नाली और मलगाह (हौदी) सुव्यवस्थित ढंग से बनाये जाते थे। स्नानागार

थे। स्नानागार प्रत्येक सदन का आवश्यक अंग होता था। मोहनजोदड़ो के एक विशाल भवन के भग्नावशेष मिले हैं, जो लम्बाई में २४२ फीट और चौड़ाई में ११२ फीट था। इसकी बाहरी दीवारें पाँच फीट मोटी थी। इसके समीप ही एक अन्य प्रासाद था, जिसकी लम्बाई २२० फीट और चौड़ाई ११५ फीट थी। इसकी बाहरी दीवारें पाँच फीट से भी मोटी थी।

मूर्तिकला—उत्खनन कार्य में एक योगी की मूर्ति प्राप्त हुई है, जो निज नासिका के अग्रभाग का अवलोकन करता हुआ ध्यानस्थ है। महर्षि पतंजलि के योगशास्त्र के भाष्य में व्यास ने कहा है कि नासिकाग्र पर ध्यान लगाने से दिव्य गन्ध की उपलब्धि होती है, जिसके समक्ष कोई भी भौतिक सुरभि हेय है। नासिका के अग्र भाग पर ध्यान लगाने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार कहा गया है :—

> 'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
> सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६।१३

योग का अभ्यास करने के लिए उसकी विधि का यह वर्णन है कि शरीर, शिर और ग्रीवा को समान और अचल रूप से धारण किए हुए दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर दिशाओं को न देखता हुआ (ईश्वर में स्थित हो जाय)।

ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इन्ही शब्दों का मूर्तरूप यह उत्खनन प्राप्त योगि-विग्रह है।

उस समय के कलाकारों ने मूर्तिकला में विशेष उन्नति की थी। उनकी मूर्तियाँ अधिक कलात्मक एवं कल्पनापूर्ण है। वहाँ नर्तकी की भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है। नर्तकी त्रिभंगी मुद्रा में नृत्य करने के लिए प्रस्तुत है। वह पैर ऊपर उठाकर पग-निक्षेप करना चाहती है। असंख्य देवियों की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। विद्वानों का यह मत है कि ये मूर्तियाँ मातृदेवी या प्रकृति देवी की हैं।

एक देवता की भी बड़ी भव्य मूर्ति प्राप्त हुई है। इस देवता के तीन मुख और दो सींग हैं। यह योगासन में बैठा है। इसके दाहिने ओर एक हाथी और एक सिंह हैं। बाईं ओर बारहसिंघा तथा भैंसा अंकित है। यही प्रतिमा पशुपति के नाम से विख्यात है। सिर पर शिरस्त्राण है। पत्थर की बनी हुई मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर से नीचे टूटी हुई है। यह केवल ७ इंच ऊँची है। अविकल दशा में यह अवश्य बड़ी रही होगी। इस मूर्ति में मनुष्य को एक कंचुक (चोगा) पहने दिखाया गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्म वाली पुष्पाकृति बनी है। मूर्ति के पुरुष की मूंछें साफ है, किन्तु दाढ़ी खूब लम्बी है। पत्थर की मूर्तियों के अतिरिक्त मिट्टी की भी अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से एक स्त्री की मूर्ति उल्लेखनीय है। यह स्त्री की मूर्ति अर्द्ध-नग्नावस्था में अंकित है। मूर्ति पर बहुत से आभूषण अंकित किये गये हैं और सिर की टोपी पंख के आकार की बनाई गयी है, जिसके दोनों ओर दो प्याले या दीपक हैं। पवित्र अश्वत्थ वृक्ष भी अनेक मुद्राओं सहित अंकित। एक प्रस्तर खंड पर एक चलदल वृक्ष उत्कीर्ण है, जिसकी एक शाखा पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक तो उसका फल खा रहा है, जब कि दूसरा फलों का भोक्ता न होकर केवल द्रष्टा रूप में स्थित है। विद्वानों का मत है कि इस पीपल पर उपनिषद् का निम्नांकित श्लोक चित्रित है —

> "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥"

चित्रकला—मुहरों और मुद्राओं में अनेक प्रकार के चित्र अंकित हैं। कुम्भकार घटादि भाण्डों पर विविध प्रकार की चित्रकारी करते थे। अनेक मुद्राओं पर कतिपय पशुओं के भी चित्र अंकित हैं।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से द्विरद-दन्त-निर्मित (हाथी दाँत का) एक पुष्प दान प्राप्त हुआ है। इस सुन्दर पुष्पदान पर अनेक प्रकार के रेखाचित्र उत्कीर्ण किये गये हैं। कर्पास, ऊर्ण एवं क्षौम के वसनों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलाकृतियाँ

प्रदर्शित की जाती थी। फल, पुष्पादि की कढ़ाई होती थी एवं सम्भवतः छापे से विविध प्रकार के चित्र भी बनाये जाते थे। कुछ ऐसे मृत्तिका-पात्र मिले हैं, जिनमें बैल, हाथी, गैंडा, हरिण आदि पशुओं एवं काक, बक, शुकादि पक्षियों के भी चित्र अंकित हैं।

संगीतकला—सिन्धु सभ्यता के लोग संगीत (गायन वादन और नृत्य) के प्रेमी थे। अनेक छोटे-छोटे वाद्य यन्त्र प्राप्त हुए हैं। तबले और ढोल के भी चित्र उत्कीर्ण मिले हैं। बच्चों के बजाने की सीटियाँ मिली हैं। लोग बाँसुरी और सीटी प्रायः बजाते थे। कुछ फूटी ढोलकों के घेरे प्राप्त हुए हैं। नर्तकी की मूर्ति से नर्तन-कला का विकास लक्षित होता है।

काव्यकला—सिन्धु घाटी की सभ्यता में उत्खनन-कार्य में जो अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, वे सब मूक ही हों ऐसी बात नहीं है। उनमें से अनेक वस्तुएँ कुछ कह रही हैं। उनके नीचे कुछ लिखा हुआ है, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि उन्हें आज तक पढ़ा नहीं जा सका। भावों की यह कलात्मक अभिव्यक्ति काव्य नहीं तो और क्या है? बहुत कुछ सम्भव है कि चित्रों के नीचे लिखे काव्य के आधार पर ही ऊपर के चित्र उत्कीर्ण किये गये हों। अथवा उनमें मूर्ति के हृद्‌गत भाव अभिव्यंजित किये गये हों। मोहरों, ताम्र-पत्रों एवं मिट्टी के बर्तनों में भी लेख मिले हैं। अनेक शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। स्पष्ट ही है कि इतने लिखित उपकरणों में मानव की सहज रागात्मक वृत्ति अवश्य प्रस्फुटित हुई होगी।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में उपयोगी कलाओं की उन्नति उच्च शिखर पर आरूढ़ हो चुकी थी। कुम्भकार, सुनार, लुहार, बासोवाय आदि की कृतियों में प्रगति दिखाई देती है। धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में विकास हुआ था। ललित कला का प्रत्येक अंग विकसित हुआ था। इस आश्चर्यजनक सभ्यता का प्रचार व प्रसार इतना व्यापक, ठोस, गम्भीर

और महान् था कि इसके खण्डहर भी एक विशेष गौरव रखते हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता मानो निरवधि काल की असीम यात्रा करके अतिशय क्लान्त होकर अवशेषों के आवरण में चुपचाप सो गई है।

नासिकाग्र भाग देखते हुए योगी की मूर्ति, पिप्पल वृक्ष पर साभिप्राय अंकित मृग युग्म, वेदोपनिषद् मन्त्रों की ही अनुकृतियाँ है और ऐसी स्थिति में विचारणीय विषय है यह कि क्या ऋषियों द्वारा अनादि कहे गये वेदों का अस्तित्व सिन्धु घाटी की सभ्यता के पूर्व भी था ?

ऋग्वेद कालिक संस्कृति

ऋग्वेद आर्य जाति का सर्व प्राचीन स्मारक है, जिसमे हमको आर्य जाति का पूर्ण चित्र प्राप्त होता है। वैदिक युग की संस्कृति एवं सभ्यता ऋग्वेद की ऋचाओं में मूर्त हो उठी है।* वैदिक साहित्य में ऋक् का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद की संस्कृति उस सम्पूर्ण वैदिक युग की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, जो पूर्व वैदिक युग कहलाता था। उत्तर-वैदिक युग की संस्कृति विकास के कुछ पृथक् तत्व भी रखती थी। पूर्व-वैदिक युग की सभ्यता पूर्णतः आध्यात्मिक आधार पर आश्रित थी।

विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति का विकसित रूप प्राप्त होता है। सुखी जन, विकसित सभ्यता एवं व्यवस्थित समाज का चित्र ऋग्वेद में स्पष्टतः चित्रित है।*

---

*"The history of the Regved is the history of the culture of the age" —Dr R. K. Mookerji - Hindu Civilization

† The Rigvedic civilization was based on plain living and high thinking" Dr R. K. Mookerji—Hindu Civilization

* "It points to a settled people, an organised society and a full grown civilization" Dr. R. K. Mookerji

डा० ए० सी० दास भी कहते हैं—

"In the Regvedic period we find the home well establi—shed"—p 96 Regvedic Culture

ऋग्वेद कालीन संस्कृति में नारी—ऋग्वेद में गृहिणी गृहलक्ष्मी मानी गई है। पत्नी के बिना पति यज्ञ न कर सकता था। वह धार्मिक कृत्य में अर्धभाग की अधिकारिणी थी।

"अयोग्यो योऽपत्नीक"—तै० ब्रा०

‡नारी का शिक्षा के क्षेत्र में और समाज में सर्वत्र सम्मान होता था। घोषा, लोपामुद्रा अपाला, वागम्भृणी आदि ऋग्वेद की मन्त्रद्रष्टाएँ हैं। मैत्रेयी, गार्गी आदि दार्शनिक जगत् की रत्न हैं।

सम्पत्ति—पशु अश्व गाय, स्वर्ण, आभूषण और दास उस युग में सम्पत्ति समझे जाते थे। वीर पुत्र भी ऋग्वेद में सम्पत्ति माने गये हैं। कुछ दिनों बाद खेत भी सम्पत्ति माने जाने लगे।

ऋग्वेद कालीन शिक्षा— यज्ञों एवं तत्सम्बन्धी वाङ्मय के विकास के कारण, साहित्य को सुरक्षित रखने और उसे शिक्षा का विषय बनाने की ओर ऋषियों का ध्यान गया। संहिताएँ अध्ययन का विषय बनी। उस समय शिक्षा का घरेलू अध्यापन क्रम था। ‡शिक्षक अपने आस पास के छात्रों को अपने घरपर ही मौखिक पढ़ा देते थे।

ऋग्वेद काल की नागरिक व्यवस्था— (दुर्ग—पुर—ग्राम—गृह) ऋग्वैदिक युग का समाज कृषि-बल और आखेटक था। देश में ग्राम फैले थे जो रथ्या के द्वारा सम्बन्धित थे, कुछ विशिष्ट वासस्थानों का उल्लेख ऋग्वेद में है।

दुर्ग—वैदिक युग में नगरों की सत्ता के विषय में मतभेद है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में १०० दीवार वाले किलों का उल्लेख दो स्थानों में प्राप्त होता

---

‡ The ancient Aryans never looked upon women as the cause of human downfall" Dr, A C Dass

* 'Literary education was transmitted only orally,by word of mouth, from teacher to pupil' The Vedic Age p. 454

पेय-ऋग्वैदिक युग में सोम और सुरा पेय पदार्थ थे। 'पीतासो युध्यन्ते सुर्मदासो न सुरायाम" से सिद्ध है कि सुरा को लोग निन्द्य मानते थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मुजावत-पर्वत पर सोम वल्ली का उल्लेख है, जिसके रस का पान किया जाता था। ऋक् के अष्टम मण्डल में सोम की मादकता और उसकी आनन्दप्रद शक्ति का वर्णन है। "अपाम सोम मृता अभूमा"—८।४८।३

वेशभूषा-ऋग्वेद में वासस्, वस्त्र, अधोवस्त्र एवं उत्तरीय का उल्लेख है। ऊनी वस्त्र प्रायः भेड की ऊन के होते थे, जिसे ऊर्णा कहते थे। परुष्णी की ऊर्णा और गान्धार की भेडें प्रसिद्ध थी। 'परुष्ण्या ऊर्णा शुन्धयव.'— ऋक् ५।५२।९। सिन्धु को ऊर्णावती भी कहा गया है। सिन्धु प्रदेश ऊनी वस्त्रों का घर था। मुनि लोग अजिन व वल्कल के वस्त्र भी पहनते थे। ऋक् के प्रथम मण्डल में अजिनधारी ऋषियों का उल्लेख है। अथर्ववेद में मृतक के लिए तार्प्य वस्त्र का उल्लेख है, जिसे विद्वान् लोग रेशमी वस्त्र कहते हैं। वस्त्रों में पेशस् और उष्णीष आदि का उल्लेख है।

आभूषण—पुरुष और स्त्री अलकार धारण करते थे। सुवर्ण का निष्क गले में, रुक्म वक्षस्थल मे, और खीद पैरों में पहनने के आभूषण थे। इन सबका वर्णन ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में है। "रुक्म वक्षस", हिरण्यैत मणिना शुम्भमाना", 'मणिग्रीव" आदि शब्द प्रथम मण्डल मे आए हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनुसार "चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा" स्त्रियाँ चार प्रकार से वेणी-सज्जा करती थी। ओपश, कुम्ब, कुरीर आदि वैदिक पारिभाषिक शब्द है जो सज्जा के विशिष्ट नाम है।

आमोद-प्रमोद—मनोरजन जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग है। पचम मण्डल में रथ की दौड एवं घुडदौड का वर्णन है। दौड के लिए यहाँ 'आजि' शब्द आया है। दौड के मैदान को काष्ठा कहते थे। जुआ खेलने का द्वितीय मण्डल में वर्णन है। पुरुष और स्त्री दोनों आघाटि' बजाकर नृत्य व गान में

भाग लेते थे। उस समय तीनो प्रकार के वाद्यो का आविष्कार हो चुका था। दुन्दुभि, कर्करि, वाण (वीणा) और नाली आदि वाद्यो की तथा सप्तस्वरो की पहचान हो चुकी थी।

ऋग्वेद मे अनार्य-सस्कृति —आर्यो की सभ्यता और समाज के साथ-साथ अनार्यो की सभ्यता व समाज का वर्णन भी ऋग्वेद मे है। अनार्यो को ऋक् मे दास दस्यु और असुर कहा गया है। कुछ अनार्य सरदार चमुरि, शम्बर, पिप्रु और वर्चिन आदि थे। ऋग्वेद मे आर्यो और अनार्यो का सास्कृतिक अन्तर स्पष्ट है। ऋग्वेद मे उन्हे शिश्नदेव मृध्रवाक अकर्मन अदेवयु, अयज्वन् और अव्रत कहा गया है। ऋग्वेद मे उनके पुरा तथा दुर्गो का उल्लेख है। सिन्धु-घाटी सभ्यता के अवशेष सम्भवत अनार्य सभ्यता के ही हैं।

'ऋग्वेद मे आर्यों और अनार्यो के सघर्ष और अनार्यो के नाश तथा पराजय का वर्णन है। उनकी सिम्यु कीकट अज सिगरस ओर यक्ष जातियां थी।‡

कुछ समय के बाद आर्यो और अनार्यो मे सम्बन्ध भी होने लगे थे।

'अनार्यो की सभ्यता भौतिकता म आर्यो से श्रेष्ठ थी। इस बात का प्रमाण सिन्धु-घाटी की सभ्यता है। अनार्य सभ्यता से आर्य-सभ्यता बहुत दूर तक प्रभावित है।''—सरदार के० एम० पनिक्कर

सक्षेप मे ऋग्वेदकालीन सस्कृति एव सभ्यता के उपर्युक्त चित्र से दो बातें स्पष्ट होती है -एक तो यह कि हमारे समाज की जिस सास्कृतिक पृष्ठभूमि ने परवर्ती काल म लोक मे हमारा सम्मान-वर्द्धन किया, उसका यथेष्ट विकास इतिहास के उस प्रारम्भिक युग मे ही हो चुका था। दूसरी यह कि भारतीय सस्कृति की जो सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है—उदारता, वह उस काल मे ही आर्य सस्कृति और अनार्य सस्कृति के मेल के रूप मे दिखाई पडने लगी थी।

---

‡"The Aryans drove the non- Aryans to forest and mountain fortrersses or made them slaves'

Hindu Civilization p 70

इस प्रवृत्ति का नव मे निरन्तर विकास होता रहा है और सांस्कृतिक क्षेत्र में धार्मिक सहिष्णुता और मानवीय सहानुभूति जैसे निरुपम आदर्श समय-समय पर हमारे देश के लोगों ने उपस्थित किए हैं। उनकी प्रशंसा विश्व के अनेक विद्वान् आज भी करते हैं।

"बोघाज-कुइ" (इन्सक्रिप्शन्) इष्टिका-लेख

भारत और भारत के बाहर जो पुरातत्व सम्बन्धी खोजें हुई है, उनसे भारतीय साहित्य और संस्कृति के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सन् १९०७ में डा० ह्यूगो विकलर को एशिया-माइनर (वर्तमान टर्की) के बोघाज कुइ नामक स्थान पर खुदाई से एक प्राचीन शिला लेख प्राप्त हुआ। इसमें १४ ईंटों पर लिखी हुई एक संधि मिली है।

पश्चिमी एशिया की दो प्राचीन जातियों, हित्तिति और मितन्नि के राजाओं ने आपस में संधि की और साथ ही साक्षी रूप से, देवताओं की अभ्यर्थना भी। इन देवताओं में इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्यौ (अश्विनौ) का उल्लेख है। इन नामों के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि ये जातियाँ प्राचीन आर्यों की ही जातियाँ थी। पश्चिमी एशिया और भारत का प्राचीन सम्बन्ध

उत्तरवैदिक-काल की सस्कृति

उत्तर वैदिक युग को हम संहिता-काल के उपरान्त ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों के रचना क्रम तक ही मानते हैं। ऋग्वैदिक संस्कृति मे जो सामाजिक आर्थिक राजनैतिक सामरिक, धार्मिक आदि स्थितियों का वर्णन हो चुका है, उससे संहिता काल की अवस्था का पता लगता है। इधर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद ग्रन्थों तथा कल्पसूत्रों के अनुशीलन से कर्म, उपासना एव ज्ञानकाण्ड की विद्याओं तथा सम्पिण्ड, सयमित प्रक्रियाओं से सारी सामाजिक व्यवस्था अनुप्राणित दिखाई देती है। इनके यथाक्रम विकास के साथ सभ्यता एव सस्कृति मे भी धार्मिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों की छाया में सतत परिवर्तन लक्षित होता है। महाभारत-युद्ध के बाद का इतिहास क्रम ब्राह्मण (आरण्यक और उपनिषद) साहित्य मे तथा सूत्रग्रन्थों मे सूक्ष्मत मिलता है, जो पुराणों मे पूर्णत. प्रकट हो गया है। पूर्व वैदिक युग मे आर्यों के राज्य और उनकी सभ्यता का विस्तार पञ्चनद से पूर्व की ओर सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के मध्य भाग तक की भूमि मे ही सीमित था। अब इस सभ्यता का केन्द्र कुरुक्षेत्र हो गया था। यज्ञों की कर्म भूमि का स्थान कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि ने ले लिया था। आर्यों ने कुरु-पाञ्चाल के साथ मध्य देश तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। इस समय की विद्याओं और कलाओं का केन्द्र सम्मिलित कुरु-पाञ्चाल राज्य ही था किन्तु गगा के प्रवाह मे भी यज्ञाग्नियाँ प्रतिबिम्बित हो उठी थीं। अथर्वन और आगिरस के अभिचार तथा तन्त्रादि के प्रयोग ख्याति प्राप्त कर रहे थे।

इस समय भी कई प्रकार के राज्य प्रचलित थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य, भौज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, समतपर्यायी, सार्वभौम आदि राज्यों का उल्लेख कथन हुआ है। इस काल मे राजा का पद पैतृक अधिकार बन गया था। नृपतिगण कतिपय नियन्त्रणा के रहते

हुए भी स्वच्छ हो चले थे। फिर भी राज्याभिषेक के समय राजा धर्मानुसार प्रजा-पालन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। समिति, सभा और मन्त्रि-मण्डल के प्रभाव में रहने के अतिरिक्त अभी उसके निर्वाचन का सिद्धान्त भी नष्ट नहीं हुआ था।

शासन व्यवस्था भी नियन्त्रित थी। मन्त्रियों की सहायता से ही नृप राज्य का शासन करता था। इनका पद और अधिकार परम्परा से अथवा जनपद से अनुमोदित था। मन्त्रिमण्डल में निम्नलिखित सदस्य होते थे —

पुरोहित, राजन्य महिषी, वावात (प्रियरानी), परित्यक्ता रानी, सूत (वन्दीजन), सेनानी, ग्रामणी, संगृहीतृ (कोषाध्यक्ष), क्षत्ति (राजप्रासाद-रक्षक) भागदुघ (राज-कर लेनेवाला अधिकारी) आदि। इनके अतिरिक्त प्रान्तपति या न्यायाधीश के रूप में स्थपति होता था। राज्यों में अपराध बहुत कम होते थे। शासन-व्यवस्था उत्तम कोटि की थी। शेष राजनीतिक व्यवस्था ऋग्वैदिक काल के समान थी।

सामाजिक स्थिति—पूर्व वैदिक काल में जिन वर्गों तथा व्यवसायों की उन्नति हुई थी, वे तरल अवस्था में ही थे। उत्तर वैदिक काल में उन्हें स्थायित्व प्रदान किया गया। ऋग्वेदकालीन वर्ण गुण-कर्म पर आश्रित थे, जो अब जन्म के आधार पर पैतृक हो चुके थे। वर्ण एक सामाजिक व्यवस्था थी, जिस पर जन्म पर आश्रित रहने वाली आदिम संस्था, जाति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होने लगा था। ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मण वर्ण सोमपायी, अदायी स्वेच्छानुसार गतिवाला, भ्रमणशील तथा राजाश्रयी माना गया है। वैश्य को राजा कभी भी राज्य से बाहर निकाल सकता था, शूद्र भी सदा दण्ड्य था, किन्तु ब्राह्मणों के लिए ऐसा कोई दण्ड-विधान नहीं बना था। धार्मिक कृत्यों पर तो ब्राह्मणों का पूर्ण अधिकार था, राजाओं पर भी उनका समुचित प्रभाव था।

वर्ण और आश्रम—सामाजिक संगठन वर्ण पर आश्रित था। ब्राह्मण

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तो ऋग्वैदिक काल में भी थे किन्तु अब इन वर्णों के कई उपविभाग हो गये थे। ब्राह्मण में पुरोहित, मन्त्री, शिक्षक, उपदेशक आदि; क्षत्रिय में राजवंश राजपुरुष, शासक, सैनिक आदि, वैश्य वर्ण में कृषक, व्यापारी, उद्योगपति आदि तथा शूद्र में दास, नौकर, कर्मकार, रथकार आदि विविध उपविभाग हो गये थे। भारतीय समाज में जातियाँ तो पहले ही थी, अब उनमें कई उपजातियाँ बन गई थीं। वर्ण व्यवस्था गुण और कर्म-परक न रहकर पैतृक और जाति-परक हो गई थी।

इस युग में वर्ण के साथ आश्रम-व्यवस्था का भी विकास होना स्वाभाविक था। समाज शास्त्रियों ने वेदों के, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के अध्ययन करने योग्य क्रमशः जीवन के चार भाग करके ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास नाम के चार आश्रम बनाये, जिनका विकास, जीवन के पुरुषार्थ रूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की क्रमशः प्राप्ति के लिए अपने आप हुआ।

सामाजिक सम्बन्ध—सामाजिक संस्थाओं में गतिशीलता थी, यद्यपि रूढ़िवाद अपनी जड़ें जमाने लगा था। इस समय कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से समाज में ब्राह्मणों का सम्मान सर्वाधिक था। यों तो सभी वर्णों और जातियों में विविधता थी, किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों का तथा वैश्य-शूद्रों का परस्पर निकट सम्पर्क स्थापित हो चला था। क्रमशः समाज के ऊँचे तथा निचले स्तरों में भेद आ चला था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सगोत्र-विवाह वर्ज्य था, यहाँ तक कि दो या तीन गोत्रों को छोड़कर विवाह विहित माना जाता था। अब सवर्ण-विवाह प्रचलित हो चले थे, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी सम्भव था।

इस समय पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा कृषि में समुचित विकास हो चुका था। हल की माप क्रमशः बढ़ गई थी। पहले हलों के कर्षण में कम बैलों का प्रयोग किया जाता था, किन्तु अब चौबीस बैलों के द्वारा कर्षित होने वाले हल का वर्णन मिलता है। कर्षण, वपन, कर्तन और मर्दन इन चारों प्रक्रियाओं का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में क्रमशः मिलता है। कृषि में गोमय की उर्वरक (खाद)

का भी उल्लेख है। खानपान, वेषभूषा, आमोद-प्रमोद और व्यापार आदि में प्राय: ऋग्वेद के काल का ही प्रभाव चला आ रहा था। स्त्रियों के कार्य प्रायः रँगाई करना, डलिया बनाना, चटाई बुनना तथा कढ़ाई तक ही सीमित न थे वरन् उच्च शिक्षा प्राप्त करना तथा वाद विवाद में भाग लेना भी था। गार्गी और मैत्रेयी जैसी दार्शनिक विदुषियों का राजर्षि जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ के लिए उद्यत होना उसका ज्वलंत प्रमाण है।

धार्मिक स्थिति--पूर्व वैदिक काल में धार्मिक जीवन अत्यन्त सरल था। वेद की पूजा-पद्धति में आत्मसमर्पण और भक्तिभावना का प्राधान्य था, किन्तु उत्तर-वैदिक काल में मनुष्य ने प्रकृति से किंचित् स्वाधीन होकर गर्वपूर्वक अपनी शक्ति को पहिचाना और अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए देवताओं को वश में करना चाहा। समाज वेद-मन्त्रों की ओर फिर उन्मुख हुआ, किन्तु इस बार वेदवाद के साथ कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। देवगण प्राय: पूर्व-वैदिक काल के ही बने रहे, किन्तु कुछ देवताओं की मान्यता में उत्कर्ष और अपकर्ष भी लक्षित होने लगे। वरुण और इन्द्र की प्रधानता का ह्रास हुआ तथा प्रजापति विष्णु और शिव विशेष महत्त्व के अधिकारी हो गये। अब तक मनुष्य जीवन और जगत् की समस्याओं के संघर्ष में आ चुका था, जिनका उत्तर वह प्रत्यक्ष जगत् में ही ढूँढ रहा था। अब चिंतनशील मनुष्य अंतर्मुख होकर आत्मतत्त्व में डूबकर समाधान पाने में सक्षम और समर्थ होने लगा। इसी गहन चिंतन के प्रसादस्वरूप आरण्यकों एवं उपनिषदों में दार्शनिक तथ्यों और सिद्धांतों का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में बाह्य आडम्बर तो था, किन्तु उसमें नीति के सिद्धान्त निहित थे। पंचमहायज्ञों और तीन ऋणों * की परिकल्पना की जा चुकी थी। सत्य, आर्जवता, यम, नियम, मैत्री, मुदिता आदि का महत्त्व माना जा चुका था।

---

* जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवज्जायते।
यज्ञेन देवभ्यो ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्य प्रजया पितृभ्य.॥ तै० सं०

उत्तरवैदिक काल के धर्म की विशेषता यह थी कि यज्ञों के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिये गये थे जिनका सूत्रपात उपनिषद्-काल में ही हुआ था। मुण्डकोपनिषद् में यज्ञ को फूटी और अदृढ़ नौका के समान माना गया है।* इस समय राजन्य वर्ग ज्ञान काण्ड की ओर अग्रसर हो रहा था। अमृतत्व की प्राप्ति मुक्ति, कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त विशेष मान्य बन रहे थे।

स्त्रियों की स्थिति में भी अंतर आ गया। उनकी स्थिति इस युग के अन्त तक बहुत गिर चुकी थी। उन्हें शूद्र-तुल्य समझा जाने लगा था (स्त्रीशूद्रा नाधीयताम्)। कर्मकाण्ड की जटिलता के कारण पत्नी पति के साथ समूची यज्ञ प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकती थी। उसकी कतिपय क्रियाओं का सम्पादन पुरोहित करने लगे थे। ऋतुधर्म के कारण भी स्त्रियों को अपावन समझा जाता था। साथ ही आर्य लोग अनार्य स्त्रियों से विवाह सम्बन्ध करने लगे थे और अनार्य स्त्रियाँ यज्ञ कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य थीं यह समझकर शास्त्रकारों ने उनसे अधिकार छीनने का उपक्रम कर लिया था। अब उन्हें वैदिक अध्ययन में अनधिकारी बनाकर उनका बाल विवाह किया जाने लगा था। यद्यपि गार्गी और मैत्रेयी जैसे पूर्वोक्त अविनाशी स्त्री-रत्नों को इसी समय की विभूतियाँ कहा जाता है। इन्हें अपवाद कहकर टाला नहीं जा सकता। सम्भव है कि इन्हें अपवाद मान कर निभाया जा सकता है। आशय यह कि इन पार्टी में भाग लेने का अधिकार स्त्री से छीना नहीं गया था। योग्य और अयोग्य का प्रश्न अवश्य महत्व पा चुका था।

---

* प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥
मुण्डकोपनिषद् (१-७)

सूत्रकालीन संस्कृति का स्वरूप—संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की गगनचुम्बी राशि देखकर चिन्तनशील मानव ने, जब समूचे वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में व्यक्तियों को असमर्थ पाया, तब कम से कम अक्षरों और पदों में—अधिक से अधिक विचारों और भावों को भरने के लिए एक नवीन शैली का सूत्रपात किया। यह थी * सूत्रशैली। प्राय विद्वान् वैदिक साहित्य से बाद के साहित्य को तीन रूपों में विभक्त करते हैं—सूत्र, इतिहास और स्मृति। इस प्रकार साहित्य-सर्जन का श्री गणेश आठ सौ ईसवी पूर्व ही हो चुका था, जिसका अध्ययन हिन्दू, बौद्ध एवं जैन सभ्यता को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

किसी विषय को स्मरण करने की सुविधा के लिए अत्यन्त संक्षिप्त वाक्यों में किया हुआ संग्रह अपनी विशेषता रखता है। यह साहित्य षड्वेदाङ्ग के रूप में प्रसिद्ध है जिसमें तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक एवं राजनीतिक स्थितियों का दर्शन पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था

(क) आचार —पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का निरूपण सूत्र रूप में ही किया है। पाणिनि के अतिरिक्त ऋषियों ने कल्पसूत्रों (श्रौत, गृह्य, शुल्व तथा धर्मसूत्रों) में तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता का विधिवत् एवं सांगोपांग चित्रण किया है। गृह्यसूत्रों में तत्कालीन पारिवारिक जीवन का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों में गृहस्थ के जन्म से लेकर मृत्यु तक षोडश संस्कारों (गर्भाधान, जातकर्म, पुंसवन, उपनयन आदि), आठ प्रकार के विवाहों का विशद वर्णन हुआ है। मनु ने अपने ग्रन्थ मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का कथन इस प्रकार किया है :—

---

* लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतःसारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥

ब्राह्मोदैवस्तथा आर्ष. प्राजापत्यस्तथाऽसुरा ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टम. स्मृत ॥

अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धव, राक्षस और पैशाच इन आठ विवाहों का उल्लेख हुआ है। इनमे प्रथम चार शुभ एवं अन्तिम चार अशुभ माने जाते थे। प्रत्येक गृहस्थ को पच महायज्ञो(ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, तथा अतिथि यज्ञ) का अनिवार्य रूप से अनुष्ठान करने का प्रमाण मिलता है। स्त्रियो को गृहसस्कार तथा श्रोत सूत्रो के वैदिक विधानो का अधिकार तो था, किन्तु उत्तराधिकार तथा सस्कारो के सम्बन्ध मे उन्हे कोई स्वतन्त्रता प्राप्त न थी। अन्य बातो मे उनकी स्थिति उत्तर वैदिककाल के समान थी। अपने तथा माता के ६ गोत्रो को छोड कर विवाह किया जाता था।

(ख) वर्ण-व्यवस्था—सूत्रकाल मे वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप अत्यन्त जटिल एव कठोर हो गया था। अन्तर्जातीय विवाह तथा पारस्परिक भोज आदि का प्रचलन नही हुआ था। जाति-व्यवस्था, जातीय विवाह, स्पृश्यास्पृश्य आदि के विचार लोगो मे अत्यन्त गहराई से घर कर गए थे। इस काल जैसी कट्टरता प्राचीन काल मे नही थी। यद्यपि पराशर द्वारा रचित गृह्यसूत्र मे एक ब्राह्मण का उल्लेख पाया जाता है, जिसने शूद्रा स्त्री के साथ विवाह किया था, उसकी सन्तान को द्विज नही माना गया। चारो वर्णों के कर्तव्यो का स्पष्ट एव पृथक् पृथक् उल्लेख इन सूत्रग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। ब्राह्मण को अध्ययनाध्यापन, यजन-याजन, प्रतिग्रह आदि का अधिकार था। क्षत्रिय को प्रजापालन, सैन्य सगठन, कराराधन आदि का अधिकारी कहा गया है। वैश्य को कृषि, वाणिज्य गो-रक्षा आदि का अधिकारी बतलाया गया है और शूद्र को नम्रता, सत्य और पवित्रता का अभ्यास तथा तीनो वर्णो की सेवा करने का अधिकार दिया गया है। यह सब होने पर भी उस समय शूद्रो का अनादर न था। सगे सम्बन्धियो की तरह उन्हें सम्बोधित किया जाता था। सेवा कार्य करने के योग्य न रहने पर भी स्वामी उनकी रक्षा करता था।

वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त गृह्य सूत्रों में मानव-जीवन को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास —इन चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। इनमें क्रमशः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् पठन-पाठन का विधान था। उस समय, धार्मिक नियन्त्रण कठोर हो जाने के कारण, प्रत्येक व्यक्ति को इन आश्रमों के अनुसार ही जीवनयापन करना पड़ता था। आश्रम प्रथा के अनुसार शिक्षा अनिवार्य थी। शेष सामाजिक विधान उत्तर-वैदिककाल की भाँति था, जो निश्चित् दृढ़ हो गया था।

जहाँ तक धार्मिक व्यवस्था का सम्बन्ध है, इस पर भी उत्तर-वैदिक युग का पर्याप्त प्रभाव था। यज्ञ-यागादिक प्रचलित थे, यद्यपि उनकी प्रति-क्रिया में बौद्धों और जैनों आदि का संघर्ष कुछ प्रबल हो गया था। मन्दिरों में और विहारों में व्यक्तिगत और सामूहिक प्रार्थनाएँ होती थीं। सब अवस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत कही जा चुकी हैं।

राजनीतिक व्यवस्था—पाणिनि के ग्रन्थ में इस युग के राज्यों को जनपद कहा जाता था। उन्होंने ऐसे २७ राज्यों का उल्लेख किया है, जिनमें कैकय कम्बोज, गान्धार, कुरु, पांचाल, मद्र, अंग, बंगादि उल्लेखनीय हैं। इन प्रदेशों के नृपति जनपति नाम से प्रसिद्ध थे और राज्यों के नागरिक राजानपद कहे जाते थे। जहाँ तक देशभक्ति का सम्बन्ध है, जनता अपने राज्य और राजा के प्रति पूरी श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने कर्त्तव्य के पालन में भी जागरूक थी। शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उपर्युक्त जनपदों में विश, नगर, ग्राम आदि विभाग वैदिक काल की ही भाँति विद्यमान थे। मुखिया के नाम पर भी कभी-कभी ग्रामों के नाम रख दिये जाते थे। प्रायः राजनीतिक व्यवस्था उत्तर-वैदिक-काल के समान थी।

न्याय-प्रणाली, सूत्रकार गौतम के अनुसार वेद, धर्म-शास्त्र, स्मृति और उपवेदों के मार्ग पर अग्रसर हो रही थी। नृप स्वतन्त्र रूप से नियम बनाने का अधिकारी न था। विविध जातियों के प्रधान व्यक्ति ही धर्म-नियम बनाते थे। राजा का कर्त्तव्य जहाँ वर्णों, आश्रमों और जनपदों की देखभाल तथा रक्षा

करता था, वही राज्य को उपज का दशम, अष्टम या षष्ठ भाग प्राप्त करने का अधिकार भी था। मास में एक दिन बिना कुछ दिये हुए लोगों से श्रमदान लिया जाता था। यह तथ्य उस समय की बेगार प्रथा की ओर संकेत करता है।

उत्तराधिकार के सम्बन्ध में, पुत्र के स्थान पर ६ गोत्र और पीढ़ी तक के सपिण्डों को उत्तराधिकार प्राप्त करना विहित था। इस अवस्था में कन्या भी उत्तराधिकार की अधिकारिणी थी। प्रायतः ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकार प्राप्त होता था। दण्ड-विधान सरल और कठोर दोनों ही प्रकार का प्रचलित था। चोर, व्यभिचारी और छल या धोखे से आक्रमण करनेवाला बड़े अपराध करने का दण्ड पाता था। ब्राह्मणों को ऐसे अपराधों से अधा तक कर दिया जाता था, शूद्रों की सम्पत्ति हर ली जाती थी।

रामायण और महाभारत काल की संस्कृति

रामायण तथा महाभारतकालीन संस्कृति के आदर्शों में पर्याप्त अंतर है। यद्यपि स्वस्त्ययन आदि का प्रचार दोनों के राक्षसों तक दिखाई देता है किन्तु एक में भाई भाई के लिए राज्य छोड़कर वन के कष्टों का सहर्ष वरण करता है, दूसरे में राज्य के लिए भाई भाई के प्राणों तक का ग्राहक बन जाता है। रामायण-कालीन ब्राह्मण ऋषि या ऋषि-कल्प है। क्षत्रिय भी ब्राह्मणोचित सत्व-प्रधान गुणों से युक्त होने में गौरव का अनुभव करते हैं, जबकि महाभारत में ब्राह्मण शस्त्रास्त्र संचालन की शीक्षा-दीक्षा ही नहीं करते हैं, प्रत्युत योद्धा बनकर रणक्षेत्र में क्षात्र धर्म का पालन करना भी आवश्यक समझते हैं। क्षत्रियों का ध्यान युद्ध में विजय प्राप्त करने की ओर अधिक है, प्रजा की रक्षा करने में उतनी सावधानी नहीं है। रामायण कालीन राजा और प्रजा में इतना सौहार्द है कि राम को वन में लौटा लाने के लिए भरत के साथ अवध की सारी प्रजा चित्रकूट तक पैदल जाकर राजा के प्रति सच्चे प्रेम का परिचय देती है। महाभारत में कुन्ती सहित पाँचों पाण्डवों को चौदह वर्ष वनवास होने पर प्रजा का कोई भी वर्ग उन्हें सहायक सिद्ध नहीं होता है। वे स्वयं प्रजा की रक्षा के

लिए अधिक व्याकुल नही दिखाई देते है ।

रामायण मे शूद्र वर्ण का निषाद राजा गंगा पार उतारने और ले आने तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझकर भरत को राम पर आक्रमण हेतु आने का भ्रम होने पर अपने अधिकारी राजा की रक्षा के लिए परिवार सहित सन्नद्ध होकर भरत की सेना से युद्ध करने को उद्यत हो जाता है, फिर भ्रम निवारण होने पर चित्रकूट तक उन्हे मार्ग दिखाता हुआ स्वयं जाता है। महाभारतकाल मे शूद्र लोग विद्याओं के ज्ञान म निष्णात होने लग थे । सूतकुल मे उत्पन्न लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा जनमेजय के नाग यज्ञ से जब नैमिषारण्य पहुँचे तो वहाँ कुलपति महर्षि शौनक के बारहवर्षों तक चलने वाले यज्ञ मे अनेक ब्रह्मर्षि एकत्र थे । सब ऋषियो ने सौति से ही व्यासरचित 'महाभारत संहिता' सुनाने का निवेदन किया और सूत-पुत्र ने ही अठासी सहस्र शौनकादि ऋषियों को श्रीमद्भागवत सुनाने की भी कृपा की । एकलव्य भी शूद्र ही था जिसने धनुर्विद्या मे अर्जुन से भी अधिक कौशल दिखाया था और सम्भवत इसी लिए उसे अपने मानस-गुरु द्रोणाचार्य को दाहिने हाथ का अँगूठा गुरु दक्षिणा मे सहर्ष भेंट कर देना पड़ा था ।

रामायण और महाभारत दोनो ही मे नटो और नर्तकों का वर्णन कई जगह मिलता । 'नट-नाटक यह मिला-जुला शब्द दोनो मे आया है । शैलूष तथा शैलूषी के कृत्रिम प्रलापो तथा विलापो के अभिनय का उल्लेख भी हैं। गायन और नृत्य के साथ ये प्रहसन भी किया करते थे ।

रामायण तथा महाभारतकाल मे स्त्रियो को वैदिककाल की सी स्वतन्त्रता प्राप्त नही थी । सीता और दमयन्ती आदि के मुखावगुण्ठन (घूँघट) इस बात की ओर सकेत करते हैं, भले ही वह शिष्टाचार वश क्यो न हो ? राम के शिविर मे सीता के आगमन पर जब जनसाधारण का उत्सारण किया जाता है तो राम स्पष्ट कहते हैं 'मुझसे बिना पूँछे ही इन लोगो को क्यो कष्ट दे रहे हो ? इस उद्वेग को बन्द करो । ये सब मेरे ही स्वजन हैं ।' महाभारत मे भी युधिष्ठिर का सैरन्ध्री को विराट के सभा-भवन से हटाना भी यही द्योतित

करता है कि वैदिककाल की अपाला और लोपामुद्रा को सर्वत्र ही जो स्वतन्त्र का अधिकार प्राप्त था वह महाभारतकालीन स्त्रियों को स्वप्न हो चुका था।

रामायण में राम की नैतिकता से रावण की अनैतिकता का सीधा संघर्ष होता है, जबकि महाभारत में दुर्योधन की अनैतिक नैतिकता को परास्त करने के लिए कृष्ण पाण्डवों के द्वारा नैतिक अनैतिकता का प्रयोग कराते हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन जैसे वीरों का वध कृष्ण के संकेत मात्र पर हो जाता है। पाण्डव जानते हैं कि अनैतिक साधनों का प्रयोग उनसे कराया जा रहा है। किन्तु नैतिक साध्य का निश्चय श्रीकृष्ण के समर्थन से हो जाता है। यही धर्मराज की नैतिक-अनैतिकता है, जो सत्यवादी को भी असत्य-भाषण के लिए विवश कर देती है।

रामायण-कालीन तक्षण तथा वास्तुकला के अवशिष्टांश, आज भी राम-जन्मस्थान के समीप, अयोध्या में, राजा दशरथ के महल के खम्भे, पार्श्वस्थ एक अन्य स्थान में लगे हैं। कसौटी के पत्थर पर अंकित विविध दृश्य तथा मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक तक्षणकला की स्पष्ट झलक दे देते हैं। महाभारत में वास्तु और तक्षण के साथ भी चित्र-कला का ऐसा उदात्त सम्मिश्रण मिलता है, जो युधिष्ठिर के यज्ञ में आये दुर्योधन जैसे चतुर व्यक्ति को जल में स्थल और स्थल में जल होने के भ्रम में डाल देता है। वारणावत का लाख का महल भी विचित्र वास्तुकला का निदर्शक है।

रामायण का काल-निर्धारण करने में हमको भारतीय जनश्रुति तथा बहिरंग और अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर विचार करना पड़ता है। प्राचीन भारतीय जनश्रुति के अनुसार वाल्मीकि आदिकवि और रामायण आदिकाव्य माना जाता है। वाल्मीकि राम के समकालीन थे। इन्हीं के राजत्वकाल में रामायण की रचना हुई थी। पार्जिटर ने प्राचीन वंशावलियों के आधार पर रामायण का समय १६०० ई० पू० सिद्ध किया है।

कई शताब्दियों तक रामायण कुशीलवों द्वारा मौखिक रूप में व्यवहृत होती रही। भास, कौटिल्य तथा तथा पतञ्जलि ने इसका उल्लेख किया है, अथवा वे

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि रामायण का उपलब्ध स्वरूप ईसा पूर्व दूसरी सदी में बन चुका था। विंटरनित्ज इसका यही समय मानता है।

रामायण में प्रक्षिप्त अंशों की बहुलता है, जिनको मूल रूप से अलग करना कठिन है। योरोपीय विद्वानों के अनुसार बालकांड के कुछ अंश और उत्तरकांड प्रक्षिप्त है। अयोध्याकांड से युद्धकांड तक ही सब महापुरुष रूप में वर्णित है। रामायण के बालकांड में उत्तरकांड का उल्लेख नहीं है अत. अयोध्याकांड तक का ही अंश मूल एवं प्रामाणिक माना जाता है। विद्वानों का दल 'पूना रिसर्च इन्स्टीट्यूट' से रामायण का शुद्ध एवं प्रामाणिक सम्करण प्रस्तुत कर रहा है। देखें! उसे कहाँ तक सफलता प्राप्त होती है।

बौद्ध संस्कृति

यद्यपि बौद्ध-धर्म भारत से लुप्तप्राय हो चुका है पर वह इस देश की संस्कृति, विचार सरणि और जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ गया है। बात यह है कि बौद्ध-संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अंग है। एक सहस्र वर्ष से भी अधिक तक बौद्ध-धर्म का प्रभाव इस देश में अक्षुण्ण होकर व्याप्त रहा। इस काल में ही उसने भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों पर इतना अधिक प्रभाव डाला कि आज उसके न होने पर भी वह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

६—बोधिसत्व की मूर्तियाँ—कनिष्क के समय मे बौद्ध धर्म का मूल तत्व निवृत्ति मार्ग था। पर महायान के उपासक भक्ति और उपासना पर बल देते थे। अत बुद्ध या बोधिसत्व की मूर्तियो का निर्माण हुआ। पेशावर व कलाकारो ने सहस्रो की सख्या मे मूतियो का निर्माण किया। इन मूर्तियो मे तीन प्रकार की बुद्ध मूर्तियाँ प्रसिद्ध है—

(१) सारनाथ की बुद्ध की मूर्ति—इसमे बुद्ध भगवान् पद्मासन पर बैठे हैं। उनके मुख पर अपार तेज एव अलौकिक आभा है। वे धर्मचक्र का प्रवर्तन कर रहे है। इस मूर्ति मे कोमलता और सुकुमारता के साथ ही आध्यात्मिकता की भी पूर्ण छाप है। इसमे वे एक वस्त्र ओढे है तथा सिर के पीछे प्रभामण्डल है। यह गुप्त कालीन कला की सजीव अनुकृति है।

(२) मथुरा की खडी मूर्ति —इसमे उनके मुख-मण्डल पर अपर्व शान्ति है—आध्यात्मिक भावना का मिश्रण है। वे एक महीन वस्त्र 'ओढे है, जिसमे मे उनके अग दिखाई पडते हैं। यह मूर्ति मथुरा मे है। इस प्रकार की अन्य मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

(३) ताम्र की बुद्ध मूर्ति –यह मूर्ति भागलपुर के सुल्तानगज नामक स्थान पर मिली थी जो आज वरमिंघम के म्यूजियम मे है। यह ७॥ फीट ऊँची है।

७—भारतीय जीवन पर बौद्ध प्रभाव—बौद्ध धर्म ने भारतीय जीवन को अधिकाश रूप मे प्रभाविन किया। आज भारतीय जीवन मे अहिंसा, दया, क्षमा, करुणा, मुदिता और प्रेम के जो दर्शन होते हैं वह बौद्ध धर्म की ही देन है। बौद्ध धर्म ने भारतीय वातावरण मे अपूर्व सहिष्णुता का बीज वपन किया। बौद्धो ने कभी भी अपने धर्म को बलात प्रचारित नही किया अपितु अपने सदाचार पूर्ण नैतिक व्यवहार मे उसको व्यापक बनाया। यही कारण था कि भारत मे धार्मिक विद्वेष कभी नही हुआ।

८—भारतीय संस्कृति का व्यापक विस्तार–आज विदेशों में जो भारतीय संस्कृति का प्रभाव दिखाई देता है उसका एकमात्र श्रेय बौद्ध धर्म ही को है। बौद्ध धर्म के भिक्षुओं और आचार्यों ने बौद्ध धर्म के साथ, बुद्ध के उपदेशों के साथ भारतीय भाषा, संस्कृति और साहित्य को भी सार्वदेशिक बना दिया और ये पूर्ण सार्वभौम बन गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित ही नहीं किया अपितु उसको सार्वजनिक एवं सार्वभौम बना दिया।

जैन. संस्कृति

जैन और बौद्धकालीन संस्कृति को समझने के लिए विक्रम पूर्व आठवीं शती से लेकर सातवीं शती के अन्त के बुद्ध पूर्व भारत की दशा का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इस समय के सम्बन्ध में 'आचाराङ्ग' आदि जैन सूत्रों तथा पालिसाहित्य और त्रिपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। उपर्युक्त ग्रन्थों के आलोडन से यह विदित होता है कि तत्कालीन भारत दो प्रकार के राज्यों में विभक्त था. (१) राजतन्त्रात्मक (जनपद) और (२) गणतन्त्रात्मक। कोशल, काशी, मगध, अंग, बंगादि सोलह थे जो 'षोडश महाजनपद" के नाम से विख्यात थे। शेष समस्त राज्य गणतन्त्रात्मक थे। फिर बुद्ध के समय में तो भारतवर्ष प्रधानतः उत्तरी भारत, कई गणराज्यों में बंट गया था पाली-साहित्य में जिसका विशद विवरण प्राप्त होता है।

जहाँ तक जैन और बौद्ध धर्म के उदय के कारण सम्बन्धित है यह तथ्य सर्वविदित है कि ईसवी छठी शताब्दी में एक प्रबल धार्मिक क्रान्ति का उदय हुआ था। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध दोनों ही उसके प्रधान नेता थे। याज्ञिक कर्मकाण्ड की निरर्थकता, वेदों की अप्रामाणिकता ब्राह्मणों के प्रभुत्व की निन्दा तपस्या नैतिकता आदि इस क्रान्ति के मूलतत्व माने जाते हैं। इस

दोनों को नास्तिक धर्मान्दोलन इसलिए कहा जाता था कि वेद, ईश्वर और आत्मा पर इनका विश्वास न था। यद्यपि इस क्रान्ति की जड़ उपनिषदों के युग में ही जम चुकी थी, जिसे अनेक तीर्थंकर और बोधिसत्व अपने जीवन-रस से सींच चुके थे। बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व स्वतन्त्र धार्मिक सम्प्रदाय और दार्शनिक विचार प्रौढ़ हो चुके थे। इनके विकास की जड़ें तत्कालीन दो प्रधान विचारधाराओं पर जमी हुई थीं। एक ओर था ब्राह्मण ग्रन्थों का याज्ञिक कर्मकाण्ड और दूसरी ओर था उपनिषदों का ज्ञान। यज्ञों के विरोध में उपनिषदों ने समाज में एक दार्शनिक चेतना जगाई थी और संसार-सागर को पार करने के लिए यज्ञ को फूटी नाव तक कह डाला था, किन्तु उन्होंने यज्ञों के विरुद्ध जिस ब्रह्मविद्या और ज्ञान का आश्रय लिया था, केवल बुद्धिजीवी वर्ग को ही उसका मर्म ज्ञात हो सकता था। साधारण समाज के लिए तो आडम्बरपूर्ण यज्ञ और रहस्यवादात्मक उपनिषद् समान रूप से जटिल, दुर्बोध और अगम्य थे। जन-सामान्य तो सरलातिसरल आचार और भक्ति-भावनामय धर्म के लिए तरस रहा था इनमें से प्रथम आवश्यकता की पूर्ति तो जैन और बौद्ध मतों ने की और पौराणिक-धर्म ने दूसरी आवश्यकता पूरी कर दी।

जैनों के मतानुसार उनके धर्म का प्रादुर्भाव बहुत प्राचीनकाल में हुआ था। वर्धमान महावीर से पहले २३ तीर्थंकर इस मत का प्रचार चुके थे। इतिहास की दृष्टि से महावीर से २५० वर्ष पहले पार्श्वनाथ के तीर्थंकर की सत्ता सिद्ध होती है। इससे बहुत पूर्व ऋषभदेव नाम के प्रथम तीर्थंकर ने जैनमत का सूत्रपात किया था। वस्तुत. जैनमत का पूर्ण प्रचार महावीर द्वारा ही सम्पन्न हुआ। इनका मूल नाम वर्धमान था। वैशाली के निकट कुन्डग्राम इनका जन्मस्थान था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ था, जो ज्ञातिक कुलोद्भव क्षत्रिय थे। लिच्छिवियों के नायक चेटक की भगिनि त्रिशला इनकी माता थी। ३० वर्ष तक गृहस्थ आश्रम में रहे, फिर १२ वर्ष तक कठिन तपस्या करके कैवल्य प्राप्त किया किया और निर्ग्रन्थ, जिन, केवली आदि नामों से प्रख्यात हुए। तीस वर्ष तक निरन्तर धर्म प्रचार किया और बहत्तर वर्ष की अवस्था में पावापुरी में नि-

र्वाण को प्राप्त हुए। मगध, कलिंग, अंग, कोशल और मिथिला में इन्होंने अपने मत का प्रचार किया। सत्य अहिंसा, अस्तेय, त्याग और कठिन तपस्या इनके उपदेशों के विषय थे। महावीर का समय ईसवी पूर्व ५३९ से ४६७ तक माना जाता है। इसके एक दो शती के उपरान्त तक पश्चिमी भारत में भी जैन-धर्म फैल गया। आज भी भारत में जैन मतानुयायी एक अच्छी सख्या में विद्यमान हैं।

जैनमत के सिद्धान्त—जैनमत न वेदों को मानता है, न यज्ञों को महत्व देता है। इसके अनुसार अहिंसा का पालन कठोरतापूर्वक किया जाता है क्योंकि यह मत जगत के कण-कण में जीव को व्याप्त मानता है। सर्व व्यापक आत्मा (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) या (एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म) अद्वितीय ब्रह्म के सिद्धान्त को यह मत नहीं मानता। इस मत के अनुसार मनुष्यों में छिपी हुई शक्तियों का उदात्त सुन्दर और पूर्ण दर्शन ही ईश्वर का स्वरूप है। इसके अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य तपोबल द्वारा कर्म के बन्धनों को तोड़ना है। नवीन तथा पुरातन कर्मों से छुट्टी पाना ही मोक्ष है। (१) सत्यज्ञान (२) सद्विश्वास (३) और सच्चरित्र ही लक्ष्य प्राप्ति के साधन माने गए हैं। इन तीनों को त्रिरत्न कहा जाता है।

भारतीय संस्कृति के विकास में जैनों का बहुत बड़ा योग है। ऐतिहासिक दृष्टि से धार्मिक क्षेत्र में अहिंसा जैनों की ही देन है, न कि बौद्धों की। प्राचीन भारतीय सहिष्णुता और उदारता को पुष्ट करने में अहिंसा का बड़ा योग है। कला और भाषा सम्बन्धी देन भी जैनों की अपनी अलग है। इन्होंने भी बौद्धों की भांति अपने तीर्थंकरों की स्मृति में स्तूप, अलकृततोरण और प्रस्तर वेदिकाएँ स्थापित की हैं। भाषा विषयक विकास की दृष्टि से भी जैनों ने धर्म प्रचार करने या ग्रन्थ लिखने के लिए विविध प्रदेशों और विभिन्न कालों में प्रचलित प्राकृतादि लोकभाषाओं का प्रयोग करके उनमें साहित्य सर्जन की क्षमता उत्पन्न की। अपभ्रंश में भी जैनों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। संस्कृत में भी व्याकरण, कोश दर्शन आदि विषयों पर जैनों ने महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

जैन और बौद्ध मतों की तुलना– जहाँतक समानता का सम्बन्ध है दोनों वेद विरोधी हैं। जातिवाद को और ईश्वर को दोनों ही नहीं मानते। दोनों के प्रवर्तक क्षत्रिय है। अहिंसा पर दोनों बल देते है। ईश्वर को न मानने पर भी दोनों मे मूर्तिपूजा पर कर ही गई। कर्म मे दोनो का विश्वास है। जन-साधारण मे प्रचलित यक्षादिक की पूजा दोनो ही करते है।

जहाँ तक विषमता का सम्बन्ध है—जैन-मत कठोर तप पर बल देता है, तो बौद्ध मत शरीर को सुखाने के विरुद्ध है। जैनो के मुख्य ग्रन्थ अङ्ग और सूत्र है, जब कि बौद्ध-त्रिपिटक और जातक को मूल ग्रन्थ मानते है। जैन को प्रत्येक वस्तु मे जीव की सत्ता मान्य है जब कि बौद्ध पूर्णत. अनात्मवादी है। जैनो को परिमित मात्रा मे ही राजाश्रय मिल सका, जबकि बौद्ध-मत को देश-विदेश सभी जगह पर्याप्त राजाश्रय प्राप्त हुआ। एक के नियम अत्यन्त कठोर हैं तो दूसरे के अत्यन्त सरल और उदार। एक के त्रिरत्न सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र है तो दूसरे के त्रिरत्न, बुद्ध सघ एव धर्म है। जैनमत अपनी कठोरता के कारण भारतवर्ष के बाहर नहीं फैल सका, जबकि बौद्ध मत भारत और भारत के बाहर कोरिया, जापान, लंका, जावा, बाली सुमात्रा, चम्पा आदि विविध विदेशी द्वीपो तक प्रसार को प्राप्त हो गया।

मौर्य-कालीन सभ्यता और संस्कृति

मौर्य-कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का स्वरूप कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रकरणो, अशोक के स्तूपो, स्तम्भो और अभिलेखो, तथा मैगस्थनीज के वर्णनो को पढकर अंकित किया जा सकता है। यूनानी समाज की व्यवस्था के अनुसार कतिपय व्यवसायियो और सरकारी वर्गों को एक मे मिलाकर मैगस्थनीज ने भारत मे भी (१) दार्शनिक (२) किसान (३) गोपाल (४) कारीगर (५) सैनिक (६) निरीक्षक और (७) सरकारी कार्यकर्ता इन सात जातियो का वर्णन किया है जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था को यथावत न समझने के

धारण किया हुआ प्रतीत होता है। वस्तुत कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्राचीन काल के अनुसार मौर्यकालीन समाज में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों एव ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चार आश्रमों की सत्ता का स्पष्ट वर्णन किया है।

मौर्यकालीन समाज में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे (१) ब्राह्म (अलकृत कन्या को पिता के द्वारा वर को सौपना) (२) प्राजापत्य (सन्तान की कामना से किया जाने वाला विवाह), (३) आर्ष (कन्या का पिता वर पक्ष से गौवो का एक जोडा लेकर कन्या के साथ पुन वर को दे देता था) (४) दैव (योग्य ऋत्विज को कन्या देना), (५) आसुर (धन लेकर लडकी ब्याहना), (६) गान्धर्व (माता-पिता की आज्ञा के बिना, प्रेमवश कन्या और वर का सयुक्त होना), (७) राक्षस (कन्या को बलपूर्वक छीन लेना) तथा (८) पैशाच (छल-बल से सुप्त या मूर्छित कन्या का उपभोग)। इनमे से आदि के चार प्रशस्त तथा बाद वाले अप्रशस्त समझे जाते थ। असवर्ण तथा अन्तर्जातीय विवाह भी हो सकते थे किन्तु अपने वर्ण और जाति म ही विवाह श्रेयस्कर माने जाते थे। पुरुष और स्त्री को पुनर्विवाह का भी अधिकार था। दहेज भी प्रचलित था। नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। कुछ परिस्थितियों मे सम्बन्ध विच्छेद भी हो सकता था। म्लेच्छ और अनार्य जातियों को दास भी बना लिया जाता था। शिलालेखो से तत्कालीन दास प्रथा पर भी प्रकाश पडता है।

इस युग म कृषको की दशा अच्छी थी। उन्हें राज्य के सैनिक या किसी अन्य रूप में सेवा नही करनी होती थी। सुख के प्राय. सभी साधन उन्हे प्राप्त थे। उनका जीवन सुखमय था। वे अपनी उपज का छठा भाग राज्य को देते थे और पूरा समय कृषि मे लगाते थे। राजा सब प्रकार से कृषि की रक्षा करता था। इस समय सस्कृत, पालि और प्राकृत तीन भाषाएं एव ब्राह्मी और और खरोष्ठी दो लिपियो का प्रचलन था। वैदिक, जैन तथा बौद्धो के ग्रन्थो का पठन-पाठन होता था। सक्षेपत मौर्यकाल मे भारतीय समाज उन्नतोन्मुख था।

शैली का स्वरूप—मौर्य काल मे जौहरियो की कला बहुत उन्नत हो चुकी थी साथ ही प्रस्तर कला के क्षेत्र म तो अद्वितीय विकास हो चुका था। समूचे पत्थर कटवाकर गढवाए हुए स्तम्भो के शिरोभाग उस समय के अपूर्व अवशेष । बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अशोक ने अनेक स्मारक बनवाये।

(१) स्तूप—बुद्ध जी के सम्पर्क मे आने वाले स्थानो पर तथा उनकी भस्म स्तूपो का निर्माण किया गया। ये स्तूप पत्थरो तथा ईंटो के उल्टे कटोरे म ठोस गुम्बज के आकार के होते थे। वैदिक काल म शव को जलाकर या बिना जलाए रखकर जो थूहा बनाने की प्रथा थी। उसी का विकास स्तूपरूप म आ था। मौर्यकालीन स्तूपो म उनकी सुरक्षा के लिए चौकोर बाढ बना दी जाती थी और ऊपर एक छत बनता था तथा चारो ओर का घेरा प्रदक्षिणा का काम देता था जिसम चारो ओर तोरणो और द्वारो का निर्माण होता था। स चौरासी हजार स्तूपो का निर्माण अशोक ने करवाया था। जिसका ज्वलन्त उदाहरण साँची का स्तूप है। सारनाथ म अशोक के बनवाए धर्मराजिक स्तूप निम्न भाग आज भी दर्शनीय है।

(२) स्तम्भ—अपने धर्मलेखो के प्रचारार्थ अशोक ने अनेक स्तम्भ बनवाए जो चुनार के लाल पत्थर के बने थ। ये स्तम्भ चालीस फीट ऊँचे और ५० न तक के हैं। जो आधार की ओर मोटे ओर शीर्ष की ओर पतले होते गये हैं। न पर इतनी चिकनी पालिश है जिस पर दृष्टि भी फिसलती है। दो सहस्त्र से अधिक वर्षो के बाद भी यह पालिश नवीन प्रतीत होती है। यह पालिश एव तर कला का ऐसा उत्कृष्ट नमूना ससार मे अन्यत्र दुर्लभ है।

(३) गुहाऐं—सम्राट अशोक उसके पौत्र दशरथ ने भिक्षुओं के निवास-हेतु गुहा भवन बनवाए थे जो गया से उत्तर की ओर बराबर नामक स्थान म हैं।

(४) मन्दिर(चैत्य)—बोधि गया म अशोक ने एक मन्दिर बनवाया था

जिस स्थान पर आज एक दूसरा मन्दिर स्थित है। फिर दशरथ ने अपने सारे जीवन भर बराबरा की पहाड़ियों में साधुओं के लिए गुहामन्दिर या चैत्य बन वाये।

राजप्रासाद—चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में एक राजप्रासाद बनवाया था, जिसका सभाभवन स्तम्भों पर आश्रित था। मैगस्थनीज के शब्दों में ईरान की राजधानी सूसा का राजप्रासाद इस मौर्य राजप्रसाद की अपेक्षा नगण्य था। अशोक ने भी पाटलिपुत्र में कई राजप्रासाद बनवाए थे जिनके विषय में फाहियान (पाँचवी श०ई०)ने कहा था कि ये मनुष्यों के बनाए हुए नहीं हो सकते। इनका निर्माण देवताओं ने किया है। ये राजप्रासाद लकडी के थे। इसी से खुदाई में इनके भग्नावशेषों के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता है।

मूर्तियाँ–मौर्यकाल के स्तम्भ-शीर्षों पर अश्व, बैल, हाथी और शेर की मूर्तियाँ खचित हैं। स्तम्भों के कण्ठ में चक्र पशु-पक्षी, लता और पुष्प आदि चित्रित है। मूर्ति-कला की दृष्टि से ये स्तम्भ-मूर्तियाँ अत्यन्त उत्कृष्ट है। इस युग की मूर्तियों में मथुरा के पास परखम में प्राप्त यक्ष की मूर्ति, रामपुरवा की वृषभ-मूर्ति, दीनारगंज और पटना में प्राप्त मूर्तियाँ विशेष आकर्षक है। संक्षेप में मौर्यकालीन भवन निर्माणकला, चित्रकला तथा मूर्तिकला उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। हृद्गत भावों को प्रकाशित करने में इस काल की कला सर्वश्रेष्ठ है। अशोक के अभिलेखों तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रकरणों का वर्णन अगले पृष्ठों में किया जायगा।

मौर्यकालीन अभिलेख

"अशोक के कतिपय अभिलेख" अपने मूल रूप मे, संस्कृत तथा हिन्दी अनुवादों के साथ प्रस्तुत है, जो 'अशोक के अभिलेख" नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखे गये हैं।

गिरनार शिला

"तृतीय अभिलेख'

(१) देवान प्रियो पियदसि राजा एव आह। [१] द्वादश वासाभिसितेन मया इद आजापित। मित्रमस्तुतजानीना ब्राह्मण समणान साधु दान।

संस्कृत — देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा एवम् आह। द्वादशवर्षाभिषिक्तेन मया इदम् आज्ञापितम्। मित्र संस्तुतजाति केभ्य ब्राह्मण श्रमणेभ्य साधुदान।

हिन्दी — देवताओ के प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा। अभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् ऐसी आज्ञा मेरे द्वारा दी गई। मित्र, परिचित, जाति ब्राह्मण और श्रमण को दान देना साधु है।

कालसी शिला

"सप्तम अभिलेख"

सयमे मे भावसुधि किटनाता दिढभतिता च निचेबाड।

संस्कृत — सयम भावशुद्धि कृतज्ञता दृढभक्तिता च नित्या बाढम्।

हिन्दी — सयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता एवं दृढभक्ति नित्य आवश्यक है।

जौगड शिला

"षष्ठ अभिलेख"

मे सवलोकहिते। तस च पन इय मूले उठाने च अठसतीलना च। नथि हि कमेतना।

संस्कृत —[कर्त्तव्यमतं हि] मे सर्वलोकहितं।

तस्य च पुन इद मूलम् उत्थानम् अर्थसतीरणा च। नास्ति पि कर्मान्तरं [सर्वलोकहितात्]।

हिन्दी — मेरे विचार से सर्व लोक हित मेरा कर्त्तव्य है, और उसका मूल

है उत्थान और कार्य साधन। सर्वलोक हित से बढ़कर दूसरा कोई कर्म नहीं।

साँची स्तंभ अभिलेख

इछा हिमे कि ति सघे समगे चिलथितो ने सिया ति।
संस्कृत —इच्छा हि मे किमिति संघ समग्र चिरस्थितिक स्यात् इति।
हिन्दी —क्योंकि मेरी इच्छा है कि संघ समग्र होकर चिरस्थायी होवे।

सारनाथ स्तम्भ अभिलेख

देवा [नपियेपियदसि लाजा आनपयति] —ए चु खो भिखू व भिखुनि वा सघ भाखति से ओदातानि दुसानि सनंघापयिया आनावससि आवासयिये।

संस्कृत —देवा [नांप्रिय प्रियदर्शी राजा आज्ञापयति]—य तु खलु भिक्षु वा भिक्षुणी वा सघ भड्क्ष्यति, स अवदातानि दूष्याणि सनिधाप्य अनावासे आवास्य।

हिन्दी —देवानाम प्रियदर्शी राजा आज्ञा देते हैं जो भी कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ का भङ्ग करेगा वह श्वेत वस्त्र पहनाकर अयोग्य स्थान मे रक्खा जायेगा।

कौशाम्बी स्तम्भ अभिलेख

देवानपिये आनपयति कोसंबियं महामात समगे कटे संघसि नो लहिये।

संस्कृत —देवनांप्रिय आज्ञापयति। कौशाम्ब्या महामात्र —समग्र कृत। संघे नो लभ्य।

हिन्दी —देवनामप्रिय आज्ञा करते हैं—कौशाम्बी के महामात्र को संघटित किया गया है। संघ में लिया नहीं जायेगा।

लौरियानन्दगढ स्तम्भ अभिलेख

'षष्ठ अभिलेख''

देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा । दुवाडस वस अभिसितेन मे धमलि-ट लिखापिता लोकसा हितसुखाये से त अपहटा त त धमवडि पापोवा ।

संस्कृत --देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा एवम् आह ।

द्वादसवर्षाभिक्तेन मया धर्मलिपि लेखिता लोकस्य हितसुखाय येन तत् अप्रहर्त्ता ता ता धर्मवृद्धि प्राप्णुयात् ।

हिन्दी —देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा ।

द्वादशवर्षाभिषिक्त मेरे द्वारा धर्म लिपि लिखाई गई । लोक के हित सुख के के लिए जिससे कि वे [धर्मलिपि की] अवज्ञा न करने वाले की धर्मवृद्धि प्राप्त करे ।

कलकत्ता वैराट अभिलेख

ए केचि भते भगवता बुधेन भाषिते सर्वे मे सुभासिते वा । ए चु खो भते हमीयाये दिसेया हेव सधमे चिलठिकीते होसती ति अलहामि हक त वातवे ।

संस्कृत -- यत् किंचित् भदन्ता भगवता बुद्धेन भाषिता सर्वं तत् सुभाषिता वा । यत् च खलु भदन्ता मयादेश्य एव सद्धर्म चिरस्थिति क भविष्यति इति अर्हामि अह तत् वक्तम् ।

हिन्दी —भदन्त जो कुछ भगवान बुद्ध द्वारा भाषित है वह सब अच्छी तरह सुभाषित है। किन्तु भदन्त जो कुछ मुझे निश्चित रूप से लगता है धर्म चिरस्थायी होगा । उसकी घोषणा करना मेरा कर्तव्य है ।

अहरौरा अभिलेख

खुदकेन पि पलकममीनेना विपुले पि स्वग (स) क्ये आलाधेतवे एताये अठाय इय सावने। खुदका च उडाला च पलकमतु। अता पि जानतु। चीलठीतीके च पलकम होतु। इय च अठे बढिसति विपुल पि च बढिसती। दियढिय (अ) वल पिया बढिसती एस सावने विवुथन दुय सपना लाति शति (स) म (स) बुधस सलीले अलोढे च।

संस्कृत— क्षुद्रकेण अपि पराक्रममाणेन विपुल अपि स्वर्ग शक्य आराद्धुम। एतस्मै अर्थाय इद श्रावण। क्षुद्रकाश्च उदाराश्च पराक्रमन्तु। अन्त अपि जानन्तु। चिरस्थितिकश्च पराक्रम भवतु। अय च अर्थ वर्धिस्यति विपुलमपि च वर्धिस्यति। द्व्यर्द्धम अवराधिकेन वद्धिष्यति। एतत श्रावण व्युष्टेन षट्पञ्चाशदधिक द्विरात्रिशतेन (स) म्यक (स) बुद्धस्य शरीरे आरूढे च।

हिन्दी— क्षुद्र द्वारा भी पराक्रम करने वाले से विपुल स्वर्ग भी प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रयोजन के लिए यह श्रावण किया गया। जिसमें क्षुद्र और उदार महान पराक्रम करें। सीमान्त के लोग भी जानें। यह पराक्रम चिरस्थायी हो। यह प्रयोजन बढ़ेगा और अधिक बढ़ेगा। कम से कम ड्योढ़ा बढ़गा। यह श्रावण (विनान्ति)प्रवास की दो सौ छप्पनवीं रात्रि में किया गया जब सम्यक् सम्बुद्ध के शरीर (अवशेष) की प्रतिष्ठापना हुई थी।

रुम्मिनदेई स्तम्भ अभिलेख

देवानंपियेन पियदसिना लाजिन वीसतिवसाभिसितेन अतन आगाच महीयते। हिद भगव जाते ति। लुंमिनिगामे उबलिके कटे अठभागिये च।

संस्कृत— देवानांप्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा विंशति वर्षाभिषिक्तेन

आत्मना आगत्य महीयितम् इह भगवान् जात इति । लुम्बिनिग्राम उद्बलिक कृत अष्टभागी च ।

हिन्दी— बीस वर्षों के अभिषिक्त देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा स्वय आकर (स्थान का) गौरव किया गया क्योंकि भगवान् यहाँ उत्पन्न हुए थ । लुम्बिनी ग्राम कर से मुक्त किया गया और अष्टभागी बना दिया गया ।

निगली सागर स्तम्भ अभिलेख

देवान पियेन पियदसिन लाजिन चोदसवसाभिसितेन बुधस कोनाकमनस थुबे दुतिय वढिते ।

सस्कृत— देवानाप्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा चातुर्दश-वर्षाभिषिक्तेन बुद्धस्य कनकमुने स्तूप द्वितीयवर्द्धित ।

हिन्दी— चौदह वर्षों से अभिषिक्त देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कनक मुनि बुद्ध का स्तूप दुगना बढाया गया ।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र

कौटिल्य अर्थशास्त्र का समय और उसकी प्रमाणिकता—गौतम-सूत्र 'चरणव्यूह' के अनुसार 'अर्थशास्त्र' अथर्ववेद का उपवेद है । अर्थशास्त्र एव धर्मशास्त्र में आदर्श सम्बन्धी विभेद है, किन्तु वास्तव में अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र की ही एक शाखा है ऐसा कुछ विद्वज्जन स्वीकार करते हैं । प्रारम्भ में, धर्म' अर्थ एव काम इस त्रिवर्गशास्त्र पर एक साथ ही विचार किया जाता था । इनके स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थिति बाद में आई और कालान्तर में, 'धर्मान्तर

महत्वपूर्ण मानता है'

'विराट् हिन्दू जाति ने 'राजनीतिक-विषयक साहित्य' का निर्माण लग भग ६५० ई० पूर्व ही चुका था'—वाचस्पति गैरोला

यहाँ हमारा विवेच्य विषय केवल 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' का रचनाकाल एव उसके प्रणेता के प्रश्न का निर्णय करना है।

संस्कृत साहित्य अत्यन्त प्राचीन साहित्य है। इसमे ऐसे अनेक ग्रन्थरत्न है, जिनके रचयिता एव रचनाकाल का निश्चित उल्लेख कर सकना सरल नहीं है। 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' भी ऐसी ही रत्नमाला का भास्वर-मणि है। बहुशून्य भाव से लिखे गए ग्रन्थो मे प्राय. लेखक अपना जीवन-वृत्त और रचनाकाल देने के प्रति सचेष्ट नही रहे है। अत निर्णयात्मक ढङ्ग से कुछ भी कहने का साहस प्रबल प्रमाण के बिना नहीं किया जा सकता।

'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' का प्रश्न भी कुछ इसी प्रकार का है। इसके लेखक, प्रणयन-काल आदि विषयो पर बहुत सी शकाएँ उठाई गई है। इसके निर्माता के सम्बन्ध मे जितना विवाद रहा, उससे कही अधिक भ्रमपूर्ण धारणाएँ उसके रचनाकाल के सम्बन्ध मे प्रचारित की गई।

इस विषय पर विविध विद्वानो ने-अपने ग्रथो मे विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं, जिनमे से पौरस्त्य विद्वानों मे—सर्वप्रथम प० शामशास्त्री, प० गणपतिशास्त्री, डॉ० जायसवाल, राधाकुमुद मुकर्जी, श्री नरेन्द्रनाथ लॉ, भण्डारकर मजूमदार, सरकार, श्री जयचन्द्र विद्यालकार एव श्री प्राणनाथ विद्यालकार प्रमुख है। पाश्चात्य विद्वानो मे– श्री हिलेब्राट, हर्टेल, याकोबी, वी० स्मिथ, श्री ओटोस्टाइन, डॉ० जौली, डॉ० विण्टरनित्ज एव डॉ० कीथ के नाम उल्लेखनीय हैं।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र का रचनाकाल—रचनाकाल का उल्लेख प्राय

भारतीय लेखक एवं विचारक अपने ग्रंथों में नहीं करते रहे हैं। बाद के समालोचक भी ग्रंथ एवं ग्रंथकार की प्रशंसा में तो लेखनी चलाते रहे हैं, परन्तु उसके समय का उल्लेख करने की प्रवृत्ति बहुत कम आलोचकों में दृष्टिगोचर होती है।

'कौटिलीय अर्थशास्त्र' के 'प्रणयनकाल' के विषय में हम अन्त.साक्ष्य पर ही अपने तर्कों को रख सकते है, क्योंकि वाह्य प्रमाण हमें दूर तक नहीं ले जा पाते हैं।

विविधमत—(१) 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के सैकड़ों शब्दों पर एवं उसकी लेखनशैली पर कल्पसूत्रों (१०० ई० पू०) की शब्दावली एवं उनकी लेखन-शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार (कौटिलीय अर्थशास्त्र की प्रस्तावना)

(२) 'धर्मस्थीय' प्रकरण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि गौतम, आपस्तम्ब एवं बौधायन के धर्मसूत्रों (५०० ई० पू०) से बहुत आगे की प्रगतिशील बातें 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में वर्णित हैं। इस आधार पर इसका प्रणयन ५०० ई० पू० के बहुत बाद में हुआ होगा।

(३) सूत्रकाल की समाप्ति के समय (२०० ई० पू०) अर्थशास्त्र एक प्रामाणिक शास्त्र के रूप में समादृत हो चुका था, अतः उसकी रचना २०० ई० पू० से पहिले ही हो चुकी होगी।

(४) ई० पू० ४०० से ४०० ई० के मध्य रचे धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में सर्वत्र ही अर्थशास्त्र की विस्तृत चर्चा और उसके सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि इसकी रचना ई० पू० चतुर्थ शती तक अवश्य हो चुकी होगी।

(५) आचार्य कामन्दक ने ४०० ई० के लगभग एक पद्यमय ग्रंथ 'नीतिसार' लिखा, जिसमें अर्थशास्त्र का उल्लेख भी आया है।

(६) कीथ के अनुसार 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' ३०० ई० का है।

(७) तंत्राख्यायिका (३०० ई०) मे भी इसका उल्लेख मिलता है,अत उससे पू० इसका प्रणयन हो चुका था।

(८) पचतन्त्र (३००ई०) मे अर्थशास्त्र' को 'मनुस्मृति' एव 'कामसूत्र' की तरह अपने विषय का एकमात्र प्रामाणिक ग्रथ कहा गया है।

'ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि। अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि। कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि।'' पचतन्त्र विष्णुशर्मा'।

(९) Meyer के विचार से तिथियो के आधार पर मनुस्मृति अर्थशास्त्र से कम से कम, २०० वर्ष पीछे की है और मनुस्मृति का समय २००ई० पूर्व तक माना गया है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र ३०० ई० पूर्व तक का माना जा सकता है।

(१०) डा० शामशास्त्री ने Kautilya Arthashastra मे J S Fleet के इस कथन को प्रस्तुत किया है—'The work has been assigned by some scholars to the 4th Century B.C"

(११) Studies in Indian History aud Culture मे नरेन्द्रनाथ लॉ ने लिखा है—

"The Arthshastra came into existence at varying dates after the 4th century B C." प्रो० याकोबी एव प्रो० गार्बे भी इसी मत के समर्थक हैं।

(१२) ई० पू० प्रथम शताब्दी मे विद्यमान कालिदास से लेकर याज्ञवल्क्य (१५० ई०) वात्स्यायन (३०० ई०), विशाखदत्त (६०० ई०) एव बाण प्रभृति की कृतियाँ 'अर्थशास्त्र' से प्रभावित हैं।

(१३) प्रो० विन्टरनित्ज़-(History of Indian Literature)

ने 'अर्थशास्त्र-विषयक-साहित्य' को ४००ई० पू० मे या उसके बाद का निर्मित मानकर लिखा है 'Hence the कौटिल्य-अर्थशास्त्र' must be later और उसका रचनाकाल ३०० ई० माना।

(१४) डॉ० जौली ने 'Arthshastra of Kautilya' मे सिद्ध किया कि 'अर्थशास्त्र तीसरी शताब्दी मे लिखा गया एक जाली ग्रंथ है।" विण्टरनिट्ज ने इनके मत की पुष्टि की।

(१५) P. B. Kane ने' History of Dharmashastra'—मे लिखा है—"कौटिलीय अर्थशास्त्र मनुस्मृति से पुराना है • इसमे बहुत से प्राचीन तथ्य विद्यमान है। यह ई० पूर्व ३०० की कृति है इसमे सन्देह नही करना चाहिये।'

(१६) डॉ० जौली के भ्रमपूर्ण प्रचार का खडन करके डा०जायसवाल प्रामाणिक आधारो पर कहा है कि अर्थशास्त्र जैसा सस्कृत साहित्य का महान ग्रंथ जाली नही है। उसका रचयिता कौटिल्य एक कल्पित व्यक्ति न होकर सम्राट् चान्द्रगुप्त मौर्य का राजमन्त्री था। अर्थशास्त्र उसी की प्रामाणिक कृति है जिसकी रचना ४०० ई० मे हुई।' —हिन्दू राजतन्त्र

(१७) जयचान्द्र विद्यालकार ने कीथ की आलोचना करते हुए अपना अभिमत भी कौटिल्य अर्थशास्त्र के ३०० ई० पूर्व के लगभग रचे जाने के समर्थन म प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष—इस प्रकार स्पष्ट है कि विविध मतो का समन्वय करके, प्रामाणिक रूप से, ई० पू० ३०० 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' का रचनाकाल स्वीकार किया जा सकता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र का प्रणेता (नामकरण)—आज प्राय सभी विद्वान् 'कौटिल्य' को ही अर्थशास्त्र-प्रणेता के रूप मे स्वीकार करते हैं। 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' नाम से भी स्पष्ट है कि कौटिल्य नामक कोई विद्वान् इस अर्थशास्त्र ग्रन्थ का प्रणेता होगा। इसी से इसे 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' कहते हैं।

बहुत प्राचीन काल से ही चाणक्य अर्थात् कौटिल्य या विष्णुगुप्त 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ के प्रणेता माने जाते रहे हैं, यद्यपि कुछ विद्वानों ने बाद में इस नाम को प्रामाणिक नहीं माना। उन्होंने 'कौटिल्य' शब्द पर ही अपना अविश्वास प्रकट किया है।

इस प्रश्न के सम्बन्ध में विविध विद्वानों ने अपनी-अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं—

विविध मत—(१) 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' में प्रथम अधिकरण के अन्त में 'कौटिल्य' को इस शास्त्र का प्रणेता कहा है—''**कौटिल्येन कृतंशास्त्र विमुक्त ग्रन्थविस्तरम्।**'' इसी प्रकार द्वितीय अधिकरण के १०वें अध्याय में वे राजाओं के लिए शासन-विधि के निर्माता कहे गये हैं—''**कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृत।**'' अन्तिम श्लोक में—

> ''येनशास्त्र च शस्त्र च नन्दराजगता च भू ।
> अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिद कृतम ॥'' (अर्थशास्त्र)

इससे प्रचलित विश्वास को आधार मिला कि 'अर्थशास्त्र' चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य विष्णुगुप्त या 'कौटिल्य, की कृति है।' A. B, Keith

(२) '**वाचस्पति गैरोला**' ने भी 'अर्थशास्त्र' के समाप्ति सूचक श्लोक के आधार पर यही माना है कि '**अर्थशास्त्र का निर्माता कौटिल्य ही था।**

(३) 'History of Indian civilization' में भी 'कौटिल्य' को ही 'अर्थशास्त्र-प्रणेता' स्वीकार किया गया है।

(४) **कामन्दक 'नीतिसार'** में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की चर्चा है। वह अपने गुरु के रूप में चाणक्य को नमस्कार करता है—यहीं चाणक्य का 'विष्णुगुप्त नाम उपलब्ध होता है—

"नीतिशास्त्रामृत धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
समुद्ध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥" (नीतिसार ४.५७)

अतः अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य विष्णुगुप्त ही हैं कौटिल्य के नाम करण के विषय में 'कामन्दक' का कथन है कि—

"नामकरण-संस्कार के समय उनका नाम विष्णुगुप्त रखा गया था, जब कि जन्म-स्थान तथा गोत्र के आधार पर इनको चाणक्य और कौटिल्य कहते हैं।" * —कामन्दक

(५) "अर्थशास्त्र कौटिल्य की कृति है और वह अपने मूल-रूप, में उपलब्ध है" —प० शामशास्त्री

(६) हिलेब्रांट, हर्टल, याकोबी तथा स्मिथ ने भी 'शामशास्त्री' के मत का समर्थन किया है। स्मिथ ने तो Early History में इनकी मान्यताओं को पूर्णतः स्वीकार कर लिया है।

(७) डॉ० जौली Arthsastra of kautilya में "अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य को एक कल्पित राजमन्त्री कहते हैं।"

(८) डॉ० कीथ एवं विन्टरनिट्ज भी कौटिल्य को मौर्यमन्त्री नहीं स्वीकार करते हैं। 'कीथ' तो कहता है कि "कौटिल्य शब्द कुटिल से बना है, अतः कोई विद्वान स्वयं अपने मत को इस उपाधि से घोषित किया जाना पसन्द नहीं

---

*"Vishnu Gupta was the name given to him at the naming ceremony, while Chanakya and Kautilya were derived from the birth-place and the gotra respectively." (कामन्दक)

करेगा। "इतना ही नहीं विन्टरनिट्ज तो लिखते हैं : "The statesman could not be Pandit"

आलोचना-पाश्चात्य विद्वान कीथ यह भूल जाते हैं कि अर्थशास्त्र में ही 'कौटिल्य' से भी विचित्र एवं गर्ह्य नाम प्राप्त होते है, यथा—पिशुन, वातव्याधि, कौणपदन्त शुन शेप आदि, अत उनका यह कहना कि कौटिल्य नाम हो ही नहीं सकता, कुछ अर्थ नहीं रखता।

विन्टरनिट्ज का कथन भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। राजनीतिज्ञ ब्राह्मण 'विद्वान' नहीं हो सकता यह कथन ठीक नहीं है। इसी से उन्हें 'Hyper critic' कहते है।

(९) कदम्बरी, तन्त्राख्यायिका, मुद्राराक्षस, पचतन्त्र एव कामन्दकनीतिसार में कौटिल्य शब्द का प्रयोग हुआ है। पचतन्त्र में चाणक्य एव विष्णुगुप्त (कौटिल्य) को एक ही माना गया है। दण्डी ने भी 'विष्णुगुप्त' को राजनीतिज्ञ स्वीकार किया है।

(१०) Jacobi का मत है कि चाणक्य और विष्णुगुप्त विभिन्न व्यक्ति थे जिनका परवर्ती काल में 'कौटिल्य' में शकर कर दिया गया।

(११) श्री 'ओटो स्टाइन' का यह तर्क कि मैगस्थनीज ने 'Indica' में कौटिल्य की चर्चा नहीं की है और न उसकी बातों में अर्थशास्त्र की बातों का मेल बैठता है, निराधार है। मेगस्थनीज की बातें भ्रामक भी हो सकती हैं। उसे देववाणी का उतना ज्ञान कहाँ कि वह मौर्यमन्त्री की बातें समझ सकता।

(१२) कीथ का कथन है कि "इति कौटिल्य." से यही प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र कौटिल्य की रचना न होकर उनके विचारों के अनुवर्ती किसी सम्प्रदाय विशेष की कृति है।

पर यह कहना उचित नहीं है, 'सस्कृत साहित्य के अन्य अनेक ग्रन्थों

म भी ऐसे प्रयोग मिलते है,यथा —मनूरथवीत, आदि । अत यह कृति कौटिल्य की ही है ।, गणपतिशास्त्री कौटिल्य' का शुद्ध रूप 'कौटल्य' मानते है ।

(१३) डॉ० जायसवाल के अनुसार—' अर्थशास्त्र का रचयिता कौटिल्य एक कल्पित व्यक्ति न होकर सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का राजमन्त्री था । अर्थशास्त्र उसी की प्रमाणिक कृति है ।" —हिन्दू राजतन्त्र

(१४) जयचन्द्र विद्यालकार ने कीथ के मत का खण्डन करते हुए कहा है—"कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५-२७३ ई० पू०) के अमात्य थे और अर्थशास्त्र उन्ही की कृति है, जो अपने प्रामाणिक रूप मे उपलब्ध है ।"

निष्कर्ष—अर्थशास्त्र और उसके निर्माता के सम्बन्ध म विरोधी मान्यताओ को निर्मूल करने के लिए विद्वानो ने जो तर्कपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, उन विविध मतो के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कौटिल्य तथा चाणक्य विष्णुगुप्त ही अर्थशास्त्र-प्रणेता हैं ।

समीक्षा—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'अर्थशास्त्र' और कौटिल्य के सम्बन्ध मे कुछ दिनो पूर्व तक, जो विवाद चल रहा था, आधुनिकतम खोजो ने उसका भ्रमात्मक और सर्वथा व्यर्थ सिद्ध करके अन्तिम रूप से सिद्ध कर दिया है कि 'अर्थशास्त्र' का निर्माता विष्णुगुप्त' अथवा 'कौटिल्य' चाणक्य ही है । उसके ग्रन्थ का रचनाकाल भी ई० पू० ३०० मान्य है ।

अर्थशास्त्र की सांस्कृतिक समीक्षा

कौटिल्यीय अर्थशास्त्र से तत्कालीन राजनैतिक विज्ञान के उत्कर्ष की सूचना मिलती है, साथ ही प्राचीन भारत की सभ्यता एव सस्कृति पर प्रकाश भी पड़ता है । इसमे राजा के विविध कर्त्तव्यो के साथ ग्रामो के बसाने की योजना, खेती और व्यापार आदि की समस्याओ की विवेचना के द्वारा भारतीयो

के व्यावहारिक ज्ञान का पक्ष उद्घाटित किया गया है । कलाओं तथा शिल्पों को उन्नत और समृद्ध करने की युक्तियाँ बताई गई हैं । खनों तथा खानों से लाभ उठाने, मद्य आदि नशीली वस्तुओं पर नियन्त्रण रखने, सिंचाई के साधनों को जुटाने, दण्डविधान अपनाने तथा रीति नीति के व्यवहारिक आचरण का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है ।

रचना प्रकार—इसकी रचना-शैली सूत्र-शैली के अधिक निकट है । *इसमें गद्य और पद्य दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ।* सम्पूर्ण अर्थशास्त्र १५ विशाल अधिकरणों तथा १८० प्रकरणों में विभक्त है । इसमें राजनीति तथा ब्राह्मण-कालीन विचारों की प्रधानता है । इसमें धर्म, अर्थ और काम ही जीवन के *उद्देश्य माने गए हैं । उनमें से भी अर्थ पर बल दिया गया है ।* वेद-वेदाग, इतिहास पुराण, महाकाव्य, आम्नायिका, धातु विज्ञान, रस विज्ञान तथा सेना-विज्ञान में लेखक का ज्ञान अपरिमेय प्रतीत होता है ।

इस ग्रन्थ के मिलने से पूर्व राजनीतिशास्त्र में भारतीयों का ज्ञान शून्य-वत् समझा जाता था । पाश्चात्यों की दृष्टि से भारतीयों ने विचार क्षेत्र में तो पर्याप्त उन्नति की थी किन्तु क्रिया क्षेत्र में उनका योग नगण्य था । *कौटिलीय* अर्थशास्त्र में राज सिद्धान्तों का ही नहीं प्रत्युत राजप्रबन्ध सम्बन्धी सूक्ष्म तत्वों का भी निरूपण किया गया है । इसमें सिद्धान्त और क्रिया का सामजस्य मिलता है । इसी से इसका महत्व अरस्तू और प्लेटो की रचनाओं से अधिक प्रमाणित होता है ।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का अमात्य विष्णुगुप्त, चणक का पुत्र चाणक्य या कुटिल नीति का पक्षपाती कौटिल्य ही इस ग्रन्थ का रचयिता है ।

श्री हिलब्रांट का कथन है कि इस ग्रन्थ में "इति चाणक्य" प्रयोग ७२ बार आया है अत यह ग्रन्थ चाणक्य का नहीं चाणक्य को मानने वाले विद्वानों का लिखा ग्रन्थ हो सकता है ।

डा० जैकोबी का कथन है कि अनेक भारतीय लेखकों ने ग्रन्थों में अपने नाम का प्रयोग प्रथम पुरुष में ही किया है। ग्रन्थ के आदि में लेखक ने ग्रन्थ का उद्देश्य कथन किया है—"पृथ्व्या लाभेपालने च यावदयर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायस्तानि संहृत्य, एकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्। " फिर चाणक्य ने स्वयं ही ग्रन्थ के अन्त में लिखा है "स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यञ्च"। साथ ही इस ग्रन्थ में लगभग ११४ बार अपने पूर्वाचार्यों का उल्लेख करके चाणक्य ने उनके सिद्धान्तों की आलोचना की है।

डा० फ्लीट, प्रो० जैकोबी, डा० टामस आदि ने अर्थशास्त्र का निर्माण काल ३२१ से २९६ ई० पू० सिद्ध किया है भारत में पुरोहित तथा राजनीतिज्ञ दोनों एक ही होते आये हैं, यथा सायण और माधव। चन्द्रगुप्त और चाणक्य इतने घनिष्ट है कि अलग नहीं किए जा सकते।

गुप्तकाल की सभ्यता और संस्कृति

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है। सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी दृष्टियों से यह युग भारतीय पुनरुत्थान का युग था, जिसमें राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई थी। मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त अधिकांश प्रदेशों पर शक, कुषाण आदि विदेशी जातियों ने जो अधिकार जमा लिया था, उनका मूलोच्छेद करके गुप्त राजाओं ने हिन्दू धर्म एवं संस्कृति को पुनः स्थापित किया। धार्मिक दृष्टि से भी सहिष्णुता एवं उदारता का महत्व था, और सभी धर्म के लोग अपने-अपने आचार विचार के अनुसरण में स्वाधीन थे। हिन्दू धर्म का संरक्षण करने में गुप्त सम्राट सदा सतर्क रहते थे। इस समय ब्राह्मणों को अपना प्रतिष्ठित पदपुनः प्राप्त हो गया। पौराणिक देवताओं की अर्चना के साथ ही साथ देश भर में विविध देवालयों का निर्माण हुआ।

जहाँ तक शासन प्रणाली का सम्बन्ध है अत्यन्त शक्तिशाली राज्य की

स्थापना करके कुशलतापूर्वक शासन व्यवस्था का सचालन करने म गुप्त सम्राट निष्णात थे। उनकी दण्ड व्यवस्था सामान्य थी और नियम भी सरल थे। देश म सुख, शान्ति एवं व्यवस्था का साम्राज्य था। प्राणदण्ड तो उस समय किसी को दिया ही न जाता था। प्रजाजन समृद्ध सन्तुष्ट और स्वतन्त्र थे।

साहित्यिक दृष्टि से भी गुप्तकाल बेजोड था। क्योकि साहित्य की विविध शाखाओ का समुचित उत्थान इस समय हुआ। गुप्तसम्राट विद्वानो को आश्रय देते थे और विद्याओ के प्रेमी थे। संस्कृत ने अभूतपूर्व उन्नति करके राष्ट्रभाषा का गौरवमय स्थान प्राप्त कर लिया था। यहाँ तक कि संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा बौद्ध विहारो तक म दी जाती थी, जहाँ पहल पाली का बोलबाला था।

कलाओ की दृष्टि से भी गुप्तकाल पुनरुत्थान का युग था, जब शिल्प कला वास्तुकला, चित्रकला और सगीत के साथ ही साथ वाद्यकला की भी पर्याप्त उन्नति हुई। स्वाभाविकता, आध्यात्मिकता, सुन्दरता, भावव्यजना की सुगमता तथा शैली की सरलता गुप्तकाल की कलाओ की विशेषता मानी जाती है इन सब बातो का विस्तृत उल्लेख आगे किया जायगा।

कलाओ के साथ ही साथ विज्ञान ने भी आश्चर्यजनक उन्नति कर ली थी। गणित, गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष, भौतिकी, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि विज्ञान क्रमश उन्नति करके अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुके थे।

इस युग मे शिक्षा की भी अभूतपूर्व उन्नति हुई थी। तक्षशिला, नालदा, सारनाथ आदि विश्व विख्यात विश्वविद्यालय थे। जहाँ प्राय सभी पाठ्य विषयो की शिक्षा का प्रबन्ध था और विदेशो से भी वहाँ अनेक विद्यार्थी विद्याध्ययन करने आया करते थे। आर्य सभ्यता एव संस्कृति की रक्षा करने वाले गुप्तसम्राटों ने अनेक ग्रामों की आय इन विश्वविद्यालयो मे लगा रखी थी

जिसमे छात्रो को छात्रवृत्तियो और प्राध्यापको को वेतन आदि की व्यवस्था सम्पन्न हो जाती थी। गुप्तसम्राटो ने स्वदेश, स्वधर्म और स्वराष्ट्र के साथ ही साथ स्वभाषा की भी पूर्ण रक्षा की।

अशोक के उपरान्त भारत की राजनैतिक एकता छिन्न भिन्न हो चुकी थी। सारा देश अनेक खड राज्यो मे बँट गया था। इस विलुप्त राजनैतिक एकता की पुन संस्थापना करना गुप्तसम्राटों का ही काम था।

बृहत्तर भारत मे सभ्यता का प्रसार

इस समय जावा, सुमात्रा, चम्पा, वोर्नियो आदि मे भारतीय शिक्षा साहित्य और नामावलियो का प्रचार हुआ। हमारे धार्मिक प्रचारको और कलाकारो ने समुद्र पार भी इन बस्तियो मे भारतीय संस्कृति का मत्र फूँका था। और भारतीय शासन प्रणाली का अनुकरण भी इन स्थानो मे होने लगा। इस युग मे पोत-निर्माण-कला की उन्नति हुई और जलमार्ग द्वारा देश-विदेशो मे भ्रमण और आवागमन स्वच्छन्दता से होने लगे थे। विदेशो से व्यापार मे भी वृद्धि हुई थी। पश्चिम मे रोम और पूर्व मे पूर्वीय द्वीप समूह तक बे रोक-टोक व्यापार होता था। इस प्रकार राजनीतिक, सामरिक, समाजिक, आर्थिक एव आध्यात्मिक आदि सभी दृष्टियो से गुप्तकालीन भारत उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग इसीलिए कहा जाता है कि उस समय सांस्कृतिक दृष्टि मे चूडान्त उन्नति हो चुकी थी।

गुप्तकालीन कला

गुप्तकालीन कला अपनी उन्नतिशील विशिष्टताओ के लिए प्रसिद्ध है। यद्यपि उस युग के भवन और मूर्तियाँ विदेशी आक्रमणो की सहारात्मक नीति और

की प्रिय एव रुचिकर कला थी। स्त्री और पुरुष दोनों ही इस कला मे निपुण थे। मृत्तिका की मूर्तियाँ प्राय. तीन प्रकार की होती थी। (१) देवी-देवताओ की, (२) पशु-पक्षियो की, (३) मनुष्यो की। ये मिट्टी की मूर्तियाँ मन्दिरो, स्तूपो और घरो को भी अलकृत करने के काम मे आती थी।

चित्रकला के सम्बन्ध मे उस समय की कला अपनी सानी नही रखती है। इस समय के अनूठे चित्र हैदराबाद मे अजन्ता की गुहाओ तथा ग्वालियर राज्य के बाघ की गुहाओ तथा लका मे चट्टानो से काटी हुई दीवारो मे आज भी विद्यमान हैं।

गुप्तकाल मे सगीत एव विविध आतोद्य विधान सहित वाद्यकला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। गुप्त-सम्राटो की सगीत मे विशेष रुचि थी और अनेक सगीतज्ञो को उनके दरबार मे सम्मान प्राप्त था। महान विजेता सम्राट समुद्रगुप्त तत विधान वाले वीणावादन का बडा प्रेमी था। प्रयाग का स्तम्भलेख इस बात का प्रमाण है कि वह सगीत मे नारद एव तुम्बरु के समान ही प्रवेश रखता था। वीणावादन करते हुए उसका एक चित्र, उसके वीणानुराग का जाज्वल्यमान प्रमाण है। उपर्युक्त तथ्यो के अतिरिक्त इस युग के नाटकों मे भी गान्धर्व-विद्या के अनेक प्रयोगात्मक उदाहरण उपलब्ध हैं। सारनाथ मे विशाल पाषाणखड उपलब्ध हुआ है, जिस पर नृत्य करती हुई स्त्री का एक चित्र उत्कीर्ण है। इसके चारो ओर अन्य स्त्रियाँ भी क्रमश बाँसुरी, भेरी, मृदङ्ग आदि बजाती हुई चित्रित की गयी हैं, जो कि गुप्त-युग की नृत्य-कला के विकास के जीते-जागते प्रमाण हैं।

भारतीय इतिहास मे जहाँ तक सिक्को की सुन्दरता और सुडौलता का सम्बन्ध है, सबसे अधिक सुन्दर सिक्के गुप्तकाल मे ही उपलब्ध होते हैं। मुद्रा ढलाई मे गुप्त सम्राटो ने पहले कुषाणो एव शको के सिक्को का अनुकरण अवश्य किया, तदनन्तर उन्होने सुवर्ण एव कार्षापण के विशुद्ध भारतीय सिक्के ढलवाये। सिक्को की सानुपातिक सुडौलता एव उन पर चित्रित मूर्तियाँ अति आ-

आकर्षक एवं कलात्मक है। उन पर देववाणी में सम्राटों की यशोगाथा का वर्णन अंकित है। दिग्विजेता सम्राट समुद्रगुप्त ने नूतन ढङ्ग की मुद्राओं का प्रचलन कराया था। परवर्ती सम्राट कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त ने उत्तरोत्तर इन मुद्राओं में भार वृद्धि की थी।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गुप्तकालीन भारत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, एवं नाट्यकला आदि ललितकला के विविध विधानों में पर्याप्त उन्नति कर चुका था। जहाँ तक काव्य और साहित्य का सम्बन्ध है, उसका निर्देश अगले प्रकरण में किया जाएगा। यह कहना सर्वथा संगत होगा, कि जहाँ तक काव्य, नाट्य और दर्शन सम्बन्धी साहित्य के सर्जन का सम्बन्ध है, गुप्तकाल परवर्ती रचनाओं पर अपना स्थायी प्रभाव डालता हुआ स्पष्ट लक्षित होता है।

गुप्तकाल को संस्कृत-साहित्य का स्वर्णयुग उसकी अभूतपूर्व उन्नति होने के कारण ही माना जाता है। गुप्त सम्राट् संस्कृत के परम अनुरागी थे। अतः उनकी स्निग्ध, शीतल छत्रछाया सुर-सरस्वती की सर्वतोमुखी आभा के छिटकन में सहायक हुई। राजशेखर के अनुसार तो गुप्त-सम्राटों में संस्कृत के प्रचार का ऐसा अदम्य उत्साह था कि उन्होंने अपने अन्तःपुर में भी संस्कृत के प्रयोग का आदेश दे दिया था। इसी युग में संस्कृत को फिर से राष्ट्र भाषा पद पर प्रतिष्ठित होने का श्रेय प्राप्त हुआ। यद्यपि जैनों ने सर्वप्रथम प्राकृत और बौद्धों ने पाली भाषा का उपयोग अपने-अपने मत के सम्वर्द्धन एवं प्रचार में किया, परन्तु संस्कृत के विशाल शब्द-भंडार एवं सर्वविध सामर्थ्य को देखकर, वे उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके। बौद्धों ने तो प्रथम तथा द्वितीय शती में ही संस्कृत को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। बौद्धों की महायान शाखा के उद्भट आचार्यों एवं विद्वानों की पांडित्यपूर्ण रचनाओं में संस्कृत का प्रयोग चमक उठा है। तत्कालीन भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करने से *यह अवगत होता है कि उस समय शिक्षित वर्ग समष्टि रूप से संस्कृत का प्रयोग* करता था। संस्कृत के प्रचार का प्रभाव भारत तक ही सीमित न रहकर,

बृहत्तर-भारत जावा चम्पा, सुमात्रा, बाली, मलाया, चीन, आदि देशों मे भी व्याप्त हो गया। संस्कृत-भाषा की सर्वोत्कृष्ट, रचनाएँ इसी युग की देन मानी जाती है।

संस्कृत-वाङ्मय के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों एव नाटककारों को जन्म देने का श्रेय इसी युग को प्राप्त है। कवि मूर्धन्य कालिदास को भी कतिपय विद्वान् उसी युग मे मानते है। महाकवि कालीदास की अनूठी रचनाओं मे रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार नाम के उच्च कोटि के काव्य तथा मालविकाग्निमित्र विक्रमार्वशीय एव अभिज्ञान-शाकुन्तल नामक सर्वोत्कृष्ट नाटक विशेष रूप से अवलोकनीय है। जर्मन दार्शनिक एवं विद्वान् गेटे कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल को पढ़कर अननुभूत आनन्द से फूला न समाया था और सहसा गुनगुना उठा था कि शकुन्तला नाम के कथन से सृष्टि के सम्पूर्ण सुकुमार पदार्थों का उल्लेख एक साथ हो जाता है। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, भारवि का किरातार्जुनीय, भर्तृहरि के शतकत्रय (शृङ्गार, नीति एव वैराग्य-शतक) भी गुप्त-युग की चरमोत्कृष्ट रचनाएँ हैं। काव्य एव नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत के कथा-वाङ्मय का अनूठा ग्रन्थ विष्णुशर्मा द्वारा विरचित 'पञ्चतन्त्र' भी इसी युग की निधि है।

संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत काव्य, नाटक एव कथा-साहित्य के साथ व्याकरण आदि शास्त्रीय ग्रन्थों का भी गुप्त काल मे अभूतपूर्व उत्थान हुआ। पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' के आधार पर लिखा गया बौद्ध-भिक्षु चन्द्रगोमिनो का चान्द्रव्याकरण नामक लोकविश्रुत ग्रन्थ उल्लेखनीय है। गुप्त-युग मे ही अमरसिंह ने 'अमरकोष' की रचना की। वात्स्यायन का कामसूत्र इसी युग की देन है। श्रुतबोध-अग्नि-पुराण एव वराहमिहिर की बृहत्संहिता मे गुप्त कालीन छन्द-शास्त्र का विवेचन हुआ है।

गुप्त-युग मे धार्मिक साहित्य का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। गुप्तकालीन सम्राटों के उत्कर्ष के प्रथम चरण मे वैदिक-काल मे चल पड़े, पुराणों के

आकर्षक एवं कलात्मक हैं। उन पर देववाणी में सम्राटों की यशोगाथा का वर्णन अंकित है। दिग्विजेता सम्राट समुद्रगुप्त ने नूतन ढङ्ग की मुद्राओं का प्रचलन कराया था। परवर्ती सम्राट कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त ने उत्तरोत्तर इन मुद्राओं में भार वृद्धि की थी।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गुप्तकालीन भारत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, एवं नाट्यकला आदि ललितकला के विविध विधानों में पर्याप्त उन्नति कर चुका था। जहाँ तक काव्य और साहित्य का सम्बन्ध है, उसका निर्देश अगले प्रकरण में किया जाएगा। यह कहना सर्वथा संगत होगा, कि जहाँ तक काव्य, नाट्य और दर्शन सम्बन्धी साहित्य के सर्जन का सम्बन्ध है, गुप्तकाल परवर्ती रचनाओं पर अपना स्थायी प्रभाव डालता हुआ स्पष्ट लक्षित होता है।

गुप्तकाल को संस्कृत-साहित्य का स्वर्णयुग उसकी अभूतपूर्व उन्नति होने के कारण ही माना जाता है। गुप्त सम्राट् संस्कृत के परम अनुरागी थे। अतः उनकी स्निग्ध, शीतल छत्रछाया सुर-सरस्वती की सर्वतोमुखी आभा के छिटकने में सहायक हुई। राजशेखर के अनुसार तो गुप्त-सम्राटों में संस्कृत के प्रचार का ऐसा अदम्य उत्साह था कि उन्होंने अपने अन्तःपुर में भी संस्कृत के प्रयोग का आदेश दे दिया था। इसी युग में संस्कृत को फिर से राष्ट्र-भाषा पद पर प्रतिष्ठित होने का श्रेय प्राप्त हुआ। यद्यपि जैनों ने सर्वप्रथम प्राकृत और बौद्धों ने पाली भाषा का उपयोग अपने-अपने मत के सम्वर्द्धन एवं प्रचार में किया, परन्तु संस्कृत के विशाल शब्द-भंडार एवं सर्वविध सामर्थ्य को देखकर, वे उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके। बौद्धों ने तो प्रथम तथा द्वितीय शती में ही संस्कृत को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। बौद्धों की महायान शाखा के उद्भट आचार्यों एवं विद्वानों की पांडित्यपूर्ण रचनाओं में संस्कृत का प्रयोग चमक उठा है। तत्कालीन भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह अवगत होता है कि उस समय शिक्षित वर्ग समष्टि रूप से संस्कृत का प्रयोग करता था। संस्कृत के प्रचार का प्रभाव भारत तक ही सीमित न रहकर,

धर्म, दर्शन, वाङ्मय, गणित, विज्ञान कला आदि के कितने ही अमूल्य सिद्धान्त विदेशों ने भारत में सीखे। उपर्युक्त विवेचन से भारतीय-संस्कृति का अखिल विश्वव्यापी प्रभाव स्पष्टरूप में लक्षित होता है।

भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी प्रचार एवं प्रसार में तीन कारण प्रधान थे—(१) भारत का विदेशी राष्ट्रों से वाणिज्य सम्बन्ध, (२) प्राचीन भारतीयों की धर्म के प्रचार एवं प्रसार में आस्था, (३) विदेशी राष्ट्रों में उपनिवेशवाद की स्थापना।

जहाँ तक भारत का विदेशी राष्ट्रों में वाणिज्य-व्यापार का सम्बन्ध है, भारतीय व्यापारी संसार के विविध देशों में वहाँ की कलात्मक एवं उत्पाद्य वस्तुओं को लेकर व्यापार के लिए जाते थे। भारतीय व्यापारी चीन के पूर्वीय छोर से लेकर पश्चिम में अपने जलपोतों एवं नौकाओं से सिकन्दरिया (अलेक्जण्ड्रिया) तक विविध वस्तुओं को लेकर जाते थे और वहाँ से बहुत से नवीन पदार्थ लेकर अपने देश को लौटते थे। प्रायः बर्मा और मलाया आदि देशों को धन-धान्य से पूर्ण समझ कर और वहाँ स्वर्ण की खानें होने के कारण भी बहुत से साहसी युवक व्यापारी प्रभूत लाभ उठाने की आशा से जाया करते थे। इसी आधार पर उन स्थानों को 'स्वर्णभूमि' कहा जाने लगा था। एक पालि-जातक के अनुसार वाराणसी के समीप के वर्धक-ग्राम के एक सहस्र परिवारों ने एक विशाल वन को काट कर जहाज बनाए और गङ्गा की धारा के सहारे समुद्र पार करके व स्वर्णभूमि पहुँच गये। बावेरु जातक की कथा में कुछ व्यापारी पहले एक काग को लेकर सिंहलद्वीप गये थे, जिसे पक्षिविहीन देश के राजा ने एक सहस्र रजत मुद्रा देकर क्रय किया था। दूसरी बार उन्हीं व्यापारियों ने एक मयूर ले जाकर उसका विक्रय दस सहस्र रजत मुद्राओं में किया था। वृहत्कथा और जैन ग्रन्थों में भी ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं कि धनोपार्जन की लालसा से लोग समुद्र पार करके विविध देशों की यात्रा किया करते थे। अनेक शिष्ट व्यापारी भी विदेशों में जाते थे और वहाँ के लोगों पर अपनी सभ्यता और संस्कृति की स्थायी छाप छोड़ आते थे। दक्षिण पूर्वी एशिया के राजाओं के नि-

नूतन संस्करण तैयार हुए, और ३५० ई० तक की घटनाओं का उनमें जोड़ दिया गया। याज्ञवल्क्य-स्मृति, नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति, पाराशरस्मृति एवं बृहस्पति-स्मृति आदि का सर्जन भी इसी युग में हुआ।

गुप्त-युग में ही भारतीय दर्शनों पर अनेक भाष्य और संस्कृत भाषा में प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे गए। सांख्य कारिका की रचना भी गुप्तकाल में ही हुई। वात्स्यायन ने अपना न्याय-भाष्य और उद्योतकर ने इस भाष्य पर न्याय-वार्तिक टीका का भी सर्जन गुप्तकाल में ही किया। इस प्रकार गुप्त-काल में संस्कृत साहित्य का मूल्य आँकते तो थे ही, उसे यथेष्ट प्रोत्साहन भी देते थे। सम्राट समुद्रगुप्त विद्वानों के सम्पर्क में रहते थे और स्वयं एक सफल कवि और कुशल संगीतज्ञ थे। कुमारगुप्त आदि ने भी संस्कृत भाषा और साहित्य का उत्थान करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। इस समय प्राकृत भाषा का स्थान पूर्णतया संस्कृत ने ले लिया। इसी का प्रभाव था कि बौद्ध लेखकों ने भी पाली को छोड़ कर संस्कृत को ही अपने विचारों का माध्यम बना लिया था।

भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव

भारतीय इतिहास के अवलोकन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीयों ने अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को भारतीय भौगोलिक सीमाओं में ही परिसीमित नहीं रखा था अपितु विदेशी राष्ट्रों में भी अपनी उदात्त संस्कृति की ज्योति को विकीर्ण कर आलोकित किया था। उस समय भारतीय संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार विश्व के अनेक देशों में हुआ था। क्या पौरस्त्य देशों में, क्या पाश्चात्य देशों में पुरातनकाल के कितने ही प्रबुद्ध राष्ट्रों ने भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर यहाँ की अनेक उच्चकोटि की बातें सीखी थीं। मनु महाराज ने मनुस्मृति में इस बात का निर्देशन किया है कि भारतीय अग्रजन्मा अपने उदात्त चरित्रों से वसुमती के सम्पूर्ण मानवों को शिक्षित करें। *

* एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ 'मनुस्मृति'

धर्म, दर्शन, वाङ्मय, गणित, विज्ञान कला आदि के कितने ही अमूल्य सिद्धान्त विदेशों ने भारत से सीखे। उपर्युक्त विवेचन से भारतीय-संस्कृति का अखिल विश्वव्यापी प्रभाव स्पष्टरूप से लक्षित होता है।

भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी प्रचार एवं प्रसार में तीन कारण प्रधान थे—(१) भारत का विदेशी राष्ट्रों से वाणिज्य सम्बन्ध, (२) प्राचीन भारतीयों की धर्म के प्रचार एवं प्रसार में आस्था, (३) विदेशी राष्ट्रों में उपनिवेशवाद की स्थापना।

जहाँ तक भारत का विदेशी राष्ट्रों से वाणिज्य-व्यापार का सम्बन्ध है, भारतीय व्यापारी संसार के विविध देशों में यहाँ की कलात्मक एवं उत्पाद्य वस्तुओं को लेकर व्यापार के लिए जाते थे। भारतीय व्यापारी चीन के पूर्वीय छोर से लेकर पश्चिम में अपने जलपोतों एवं नौकाओं से सिकन्दरिया (अलेग्जण्ड्रिया) तक विविध वस्तुओं को लेकर जाते थे और वहाँ से बहुत से नवीन पदार्थ लेकर अपने देश को लौटते थे। प्रायः बर्मा और मलाया आदि देशों को धन-धान्य से पूर्ण समझ कर और वहाँ स्वर्ण की खानें होने के कारण भी बहुत से साहसी युवक व्यापारी प्रभूत लाभ उठाने की आशा से जाया करते थे। इसी आधार पर उन स्थानों को 'स्वर्णभूमि' कहा जाने लगा था। एक पालि-जातक के अनुसार वाराणसी के समीप के वर्धक-ग्राम के एक सहस्र परिवारों ने एक विशाल वन को काट कर जहाज बनाए और गङ्गा की धारा के सहारे समुद्र पार करके स्वर्णभूमि पहुँच गये। बावेरु जातक की कथा में कुछ व्यापारी पहले एक काग को लेकर सिंहलद्वीप गये थे, जिसे पक्षिविहीन देश के राजा ने एक सहस्र रजत मुद्रा देकर क्रय किया था। दूसरी बार उन्हीं व्यापारियों ने एक मयूर ले आकर उसका विक्रय दस सहस्र रजत मुद्राओं में किया था। बृहत्कथा और जैन ग्रंथों में भी ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं कि धनोपार्जन की लालसा से लोग समुद्र पार करके विविध देशों की यात्रा किया करते थे। अनेक शिष्ट व्यापारी भी विदेशों में जाते थे और वहाँ के लोगों पर अपनी सभ्यता और संस्कृति की स्थायी छाप छोड़ आते थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के राजाओं के नि-

लालेखों के अतिरिक्त व्यापारियों द्वारा लिखवाये गए प्रस्तर-लेख भी प्राप्त होते हैं। मलाया के वैरजली जिले में एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसे बुधगुप्त नाम के नाविक ने चतुर्थ शती में उत्कीर्ण करवाया था।

प्राचीन भारतीयों की धर्म के प्रचार एवं प्रसार में अटूट आस्था भी भारतीय संस्कृति के अखिल विश्वव्यापी होने में एक कारण रही है। भारत के अनेक बौद्धभिक्षु व धर्माचार्य धर्म-प्रसार एवं प्रसार को एक पावन उद्देश्य समझकर, उसके प्रचारार्थ विदेशों में गए। धर्मचक्रप्रवर्तन के अभियान में महात्मा बुद्ध ने सारनाथ में अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया था, कि 'भिक्षुओ! बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय एवं लोक पर दया करने के हेतु परिभ्रमण करो, एक साथ दो मत जाओ,' भिक्षुओं ने उसका अदम्य उत्साहपूर्वक परिपालन किया। हिमालय और हिन्दूकुश की दुर्लंघ्य पर्वतमालाओं को लाँघकर और समुद्र को पारकर वे सुदूर देशों में गये और बुद्ध के अष्टांग मार्ग का उन्होंने सब जगह प्रचार किया। बौद्धों के धर्म-प्रचार का परिणाम हुआ कि चीन, जापान, इन्डोनेशिया, इन्डोचायना, बरमा, स्याम, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, लंका सब पर भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। शुङ्ग और गुप्त वंशों के शासन काल में भागवत और शैव सम्प्रदायों का पुनरुत्थान हुआ और इन मतों के आचार्य भी सागर पार करके पूर्वीय और दक्षिण-पूर्वीय एशिया में अपने सिद्धान्तों का प्रसार और प्रचार करने गये। जैन-मुनि भी तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओं का प्रचार करने विदेशों में जाते थे। भारतीय धर्मों के साथ ही साथ यहाँ की भाषा साहित्य और संस्कृत का भी विदेशों में बहुत प्रचार हुआ।

उपनिवेश बसाने की दृष्टि से भी भारत के साहसी युवक विदेशों में जाया करते थे। अशोक के पुत्र कुस्तन द्वारा खोतन में भारतीय बस्ती के बसाने की बात तिब्बत की ऐतिहासिक अनुश्रुति में आज भी विद्यमान है। कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण के सुयोग्य पथप्रदर्शन में अनेक भारतीय धर्म प्रचार की प्रवृत्ति से अनुप्राणित होकर स्वर्णभूमि में गये थे और वहाँ एक उपनिवेश स्थापित किया था, जो चीनी इतिहास में फूनान नाम से प्रख्यात है। दक्षिण पूर्वीय एशिया में चम्पा, कम्बुज आदि कई उपनिवेश भारतीयों ने स्थापित किये थे।

इस प्रकार संक्षेप में व्यापार, धर्म प्रचार और उपनिवेश स्थापित करने की दृष्टि से भारत का एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित हो गया था जिसे बृहत्तर भारत के नाम से कहा जाता है। यह दो भागों में विभक्त था—(१) दक्षिण-पूर्वीय एशिया का क्षेत्र, जिसमें बरमा, स्याम मलाया इन्डोचीन, इन्डोनेशिया (बाली, सुमात्रा, जावा आदि) और समीपस्थ द्वीप आते हैं। (२) उत्तर-पश्चिम या उपरले भारत में अफगानिस्तान और मध्य-एशिया आ जाते हैं। ईसाई और इस्लाम मतों के प्रसार से पहले चीन, तिब्बत और मंगोलिया ही नहीं, ईरान और ईराक-पश्चिमी एशिया के देश भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित हो चुके थे।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि अशोक ने शस्त्र-विजय की जगह धर्म-विजय की नीति अपनाकर पाण्ड्य, चोल और सिंहल तक ही नहीं, अपितु मिस्र और सीरिया आदि यवन प्रदेशों में भी, कुएँ खुदवाए, प्याऊ लगवाये, सड़कें बनवाईं, चिकित्सालय खुलवाया तथा धर्मशालाओं का निर्माण कराया। इन सत्कर्मों के प्रभाव से मिनान्डर और इन्द्राग्निमित्र जैसे यवन राजाओं ने बौद्ध-धर्म ग्रहण करके उसके प्रचार में भी योग दिया। कनिष्क का साम्राज्य तो पूर्व में मगध से लेकर पश्चिम में मध्य-एशिया के उपर अराल सागर तक फैला था। इस कुषाण राजा ने बौद्ध धर्म ग्रहण करके उसका प्रचार भी कराया था। यहाँ तक कि बौद्ध-धर्म की चतुर्थ महासभा (संगीति, जिसमें वसुमित्र, आचार्य पार्श्व और अश्वघोष ने भाग लिया था) कनिष्क के काल में हुई थी।

उत्तर पश्चिम का बृहत्तर भारत—उत्तर-पश्चिम भारत में कम्बोज और गान्धार बौद्ध-काल के सोलह महाजनपदों में आते थे। कम्बोज से अभिप्राय हिन्दुकुश पर्वत से परे पामीर के पर्वतीय प्रदेश और बदख्शाँ से है। गांधार राज्यान्तर्गत सिन्धु नदी के पूर्वीय और पश्चिमी प्रदेश आते थे जिनकी राजधानी क्रमशः पुष्करावती और तक्षशिला थी। पुराने काल में गान्धार

और कबोज भारत के ही अग थे, तभी तो इनकी गिनती बौद्ध काल के षोडप महाजनपदो मे की जाती थी। प्राचीन काल मे भारतीयो ने गांधार और कबोज से भी आगे बाल्हीक (बलख) से भी परे बढकर अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म का प्रसार किया था। अपनी संस्कृति के प्रचार द्वारा इस प्रकार वृहत्तर भारत के एक नूतन स्थल का सर्जन किया। इस प्रकार की प्रक्रिया का आदि मौर्य-युग मे हुआ था। महान् सम्राट् अशोक की धर्मविजय यात्राओं के कारण खोतन तथा उसके समीपस्थ क्षेत्रो मे भारत के उपनिवेशो का सूत्रपात हुआ, तथा किस प्रकार वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, इस सम्बन्ध मे उपर्युक्त प्रकरणो मे प्रकाश डाला जा चुका है। अशोक के काल मे जिस सुविचारित प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ, वह गुप्तकाल मे अपने विकास की चरम अवस्था को प्राप्त हुई। इस प्रकार वृहत्तर भारत मे विविध भारतीय उपनिवेशो की स्थापना हुई, जिनमे बहुसख्यक भारतीय जाकर रहने लगे। वहाँ के आदिम निवासियो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उन्होने एक नूतन वर्णसकरजाति को जन्म देकर उसका विकास किया, जो धर्म, सभ्यता, संस्कृति, भाषा आदि मे भारतीय ही थी।

उत्तर पश्चिम वृहत्तर भारत के अन्तरगत निम्नांकित राज्यो को सन्निविष्ट किया गया था—(१) शैलदेश (२) चौक्कु, (३) खोतन, (४) चल्मद (५) भरुक, (६) कुची, (७) अग्निदेश और (८) कोचाग। इन उपर्युक्त अष्ट राज्यो मे खोतन और कुची प्रधान थे। इनके भी आगे के चीन व अन्य राज्यों मे भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रचार एव प्रसार मे इन्होने बहुत श्लाघनीय एव महत्वपूर्ण कार्य किया था।

भारतीय प्रवासी चौक्कुक, खोतन, शैलदेश और चल्मद मे एक बहुत बडी सख्या मे बस गये थे। गांधार और कबोज राज्यों से इनका व्यापार-सम्बन्ध भी घनिष्ठता से स्थापित था। वाणिज्य एव व्यापार के हेतु वृहत्तर भारत के प्रवासी यहाँ की उत्पाद्य अमूल्य वस्तुओं को क्रय करने हेतु भारत मे

आने जाते रहते थे। उस समय यहाँ की भाषा प्राकृत थी जो उत्तर-पश्चिमी भारत की प्राकृत भाषा से बहुत मेल खाती थी। पूर्वकाल में भारतीय प्राकृत खरोष्ठी लिपि में लिखी जाती थी। मौर्य साम्राज्य के समय यह लिपि सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में प्रचलित थी। गुप्तकाल में उपनिवेशों में भी ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होने लगा था तथा ब्राह्मी लिपि के साथ साथ संस्कृत भाषा का भी इन उपनिवेशों में प्रसार हुआ। यद्यपि जनसाधारण पुरातन प्राकृत भाषा ही प्रयोग करता था पर प्रबुद्ध लोग संस्कृत का अध्ययन अवश्य करते थे। प्रख्यात चीनी यात्री फाह्यान जब चौथी शती के अंत में इस प्रदेश में आया, तो इस प्रदेश का वर्णन करते हुए उसने लिखा था कि इन प्रदेशों के प्रवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयों के बहुत सन्निकट हैं। बौद्ध-भिक्षु सब संस्कृत का अध्ययन करते हैं और बौद्ध-धर्म के भारतीय ग्रन्थों को भी पढ़ते हैं। इसी कारण से इस समय बहुत से पुरातन संस्कृत ग्रन्थ इस प्रदेश में उपलब्ध हुए हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ उनकी पुरातन स्थानीय भाषाओं में भी हैं। इन क्षेत्रों की अपनी भाषाओं का परिचय पहले-पहल इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त होता है।

खोतन—गुप्तकाल में खोतन भारतीय धर्म और संस्कृति एवं सभ्यता का प्रधान केन्द्र था, जिसका पता प्राचीन अनुश्रुति एवं पुरातत्व सम्बन्धी अवशेषों से लगता है। फाह्यान खोतन के एक गोमती विहार में ठहरा था, जिसमें प्रवासित बौद्ध भिक्षुओं की संख्या ३००० के लगभग थी। घंटी बजने पर तीन हजार भिक्षु सहभोज करते थे। खोतन के चौदह बड़े बौद्ध विहारों का भी उल्लेख फाह्यान ने किया है। उत्सवों में प्रधान रथयात्रा जुलूस था, जिसमें शहर की सफाई तथा सज-धज होती थी तथा तीन हजार गोमती विहार के भिक्षु अनुगमन करते थे। एक चार पहियों तथा तीस फीट से अधिक ऊँचाई-वाले रथ में भगवान बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी और उसके अगल-बगल में बोधिसत्वों और देवों की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। ये मूर्तियाँ स्वर्ण और रजत निर्मित होती थीं। फाह्यान ने एक नूतन राजकीय विहार का भी वर्णन

किया है जिसके निर्माण मे ८० वर्ष लगे थे। यह २५० फीट ऊँचा था, जो स्वर्ण एव रजत से सुसज्जित किया गया था । इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण खोतन चौथी शती मे बौद्ध-धर्म का अनुयायी था ।

खोतन मे कई स्थलो पर प्राचीन बौद्ध-कालीन अवशेष मिले हैं। इसमे योत्कन, रावक, दण्डन, उलिन और नीया उल्लेखनीय है । मूर्तियो और प्रतिमाओ के अवशेष के अतिरिक्त अनेक हस्तलिखित पुस्तकें व चित्र भी प्राप्त हुए है । खोतन मे अष्टम् शती के अत तक भारतीय संस्कृति और धर्म का बहुत प्रचार एव प्रसार रहा । इस्लाम के प्रवेश ने भारतीय उपनिवेश का कायाकल्प कर दिया । चीन मे बौद्ध-धर्म के प्रसार का मुख्य श्रेय खोतन और उसके समीपवर्ती मध्य एशिया के अन्य प्रदेशो के बौद्ध भिक्षुओ को ही है । खोतन मे बहुत से लेख भी उपलब्ध हुए हैं जो चौकोर काष्ठ पट्टिकाओ पर खरोष्ठी लिपि मे लिखे गये है । कुछ लेख चमडे पर भी लिखे हुए उपलब्ध हुए है ।

ऐतिहासिक लेखो के अनुसार तृतीय शती के प्रारभ मे खोतन का राजा विजयसम्भव था, जैसा, कि तिब्बती अनुश्रुति मे ज्ञात होता है । इस वश के सभी सम्राटो के नाम के साथ विजय लगा हुआ है । सम्राट् विजयसम्भव के गुरु आर्य वैरोचन थे। आर्य वैरोचन ने खोतनी भाषा के लिए एक लिपि तैयार की, जो भारत की ब्राह्मी लिपि के आधार पर बनाई गई थी । विजयसम्भव के वश मे राजा विजवीर्य अति प्रख्यात हुआ। उसने अपने गुरु भारतीय भिक्षु बुद्धदूत के तत्वावधान मे बहुत से स्तूपो एव विहारो का निर्माण कराया था ।

कुची—खोतन की तरह कुची का राज्य भी भारतीय सभ्यता एव संस्कृति का प्रधान केन्द्र था, इसी कुची को पुराणो मे कुशद्वीप के नाम से अभिहित किया गया है । चतुर्थ शताब्दी तक यह प्रदेश बौद्धो का विशाल गढ बन चुका था । इसमे दस सहस्र बौद्ध-विहार और चैत्य बन गये थे, इस तथ्य को चीनी अनुश्रुति मे स्वीकार किया गया है । प्रत्येक विहार मे पचास से अधिक भिक्षु रहते थे,

जो बुद्ध-स्वामी नाम के आचार्य द्वारा सचालित होते थे। एक विहार मे केवल भिक्षुणियाँ ही रहती थी, जो प्राय. राजघरानो की थी। वहाँ के राजाओ के नाम भारतीय थे, यथा स्वर्णदेव, हरदेव, हरिपुष्प, सुवर्णपुष्प आदि। पिछले दिनो कुची की खुदाई मे चैत्यो और विहारो के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। भारतीय राजकुल मे उत्पन्न आचार्य कुमारायन बौद्ध-भिक्षु होकर कुची पहुँचे। पहले तो कूची के राजा ने उन्हे राजगुरु के पद पर नियुक्त किया, फिर राजा की बहिन जीवा के साथ उनका पाणिग्रहण हो गया। उनके दो पुत्र हुए (१) कुमारजीव और (२) पुष्पदेव। कुछ समय बाद जीवा भिक्षुणी हो गई और अपने सात वर्ष के पुत्र कुमारजीव को लेकर बौद्ध-धर्म की उच्च शिक्षा दिलाने के उद्देश्य से भारत आई। काश्मीर मे आचार्य बधुदत्त के चरणो मे बैठकर कुमारजीव ने सभी बौद्ध-आगमो का आलोडन किया। तदनन्तर कुमारजीव काशगर (शैलदेव) आया, जहाँ उसने वेद, वेदाङ्ग, दर्शन और ज्योतिष का अध्ययन किया। यहाँ से कुमारजीव यारकन्द गये जहाँ उन्होने नागार्जुन, आर्यदेव आदि के ग्रन्थो का अनुशीलन किया। यहीं यारकन्द (चोक्कुक) मे वह नियमत. महायान शाखा मे दीक्षित हुए, तब कुमारजीव अपनी मातृभूमि कूची को लौट आये और अध्यापन कार्य प्रारभ किया। इन्ही के शिक्षण के महत्त्व से कुछ समय मे ही कुची विद्या का मुख्य केन्द्र बन गया। ३८३ ई० के लगभग कुची पर चीन का आक्रमण हुआ तथा अनेक युद्ध बदियो के साथ कुमारजीव भी चीन ले जाये गये। ४०१ ई० मे कुमारजीव चीन की राजधानी पहुँचे, जहाँ उनका बडा सत्कार हुआ और उन्हे सस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थो को चीनी भाषा मे अनूदित करने का कार्य सौंपा गया। १० वर्ष मे उन्होने १०६ सस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा मे उल्था किया। अनुवाद-कार्य मे सहायता के लिए कुमारजीव ने पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम सघदेव, धर्मयश, गुणवर्मन, गुणभद्र और बुद्धवर्मन नामक श्रेष्ठ विद्वानो को भारत से चीन बुला लिया। ये सब विद्वान चीन मे धर्माचार्य और धर्मगुरु के रूप मे समादृत हुए। इनके प्रभाव से सम्पूर्ण चीन बौद्ध मतावलम्बी हो गया।

तुर्फान—कुची से पूर्व तुर्फान नामक मरुस्थल मे अनेक सस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हुए है। पचम शती ईसवी तक इस प्रदेश मे बौद्धधर्म का विधिवत् प्रसार एवं प्रचार हो गया था। यहाँ के राजा चाउ ने मैत्रेय नामक मन्दिर का निर्माण कराकर एक लम्बा लेख उस पर उत्कीर्ण कराया था बौद्ध प्रतिमायें और विहारों के भग्नावशेष भी इस प्रदेश मे उपलब्ध हुए है।

काशगर—यह प्रदेश सम्राट कनिष्क के साम्राज्य का एक अङ्ग था। ४०० ई० के लगभग चीनी यात्री फाह्यान काशगर आया था। उसने लिखा है कि काशगर मे उस समय एक बौद्ध विहार था, जिसमे १००० भिक्खु रहते थे। प्रख्यात चीनी यात्री ह्वेनसाग ने अपनी यात्रावृत मे काशगर का वर्णन करते हुए, उसमे बौद्धधर्म की सत्ता प्रामाणित की है।

प्राचीन ऐतिहासिक निधियाँ—बीसवीं शती मे रूस, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों के पुरातत्ववेत्ताओ को बृहत्तर भारत के बहुत से स्थलों पर ऐसे अवशेष उपलब्ध हुए है, जिनसे पुरातत्व इतिहास के सबध मे महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। कुची के पूर्व की ओर करासहर, तुर्फान आदि को पारकर चीन की सीमा तुनह्वड् नामका स्थान है, जहाँ सहस्त्र बुद्ध गुहा विहार प्राप्त हुए है। ये गुहाविहार १००० गज से भी अधिक दूरी तक फैले हुए है। भारत की अजन्ता गुफाओ से मिलते-जुलते चित्र इन पर अकित हैं। ये गुहाचित्र भारतीय कला, गान्धार कला और चीन कला के सम्मिश्रण हैं। अधिकतर मूर्तियाँ बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय के सम्बन्ध रखती हैं। चित्र और प्रतिमाओ के अतिरिक्त वहाँ पुस्तको का एक विशाल भण्डार भी उपलब्ध हुआ है। सहस्त्र बुद्ध गुहाविहार की एक गुफा के खनन मे अकस्मात् एक लघु गुहा निकल आई जो हस्तलिखित ग्रन्थो से आपूरित थी। ये पुस्तकें संस्कृत भाषा मे भी लिखी हुई हैं, जिनमे ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है। इस प्रदेश के ये पुस्तक-भण्डार मध्य एशिया मे भारतीय धर्म, भाषा और सस्कृति के प्रचार के जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि दक्षिणपूर्व एशिया की भांति मध्य एशिया भी पुरातन-काल में वृहत्तर भारत का अंग था। इस प्रदेश में भारतीय धर्म के प्रचार के अतिरिक्त यहाँ की भाषा और संस्कृति पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दुत्व में हूणों का विलय—गुप्तकाल में भारतीय धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव प्रभृति अन्य भारतीय धर्मों में यह अद्वितीय जीवनी शक्ति विद्यमान थी कि वे विदेशी जातियों को अपने धर्म में विलय कर उन्हें अपने भारतीय समाज का अंग बना लेते थे। गुप्त-युग में हूणों का आगमन भारत में आक्रान्ता के रूप में हुआ था। उस समय भारतीय समाज पर उन्होंने क्रूर प्रहार किये; परन्तु बाद में वे भी पूर्णतया भारतीय समाज के अभिन्न अंग बन गये। हूण-राजा मिहिरगुल ने शैव-धर्म का अनुशीलन किया था। उसके सिक्कों पर त्रिशूल और नन्दी के चिन्ह अंकित हैं, और 'जयतु वृष" यह उत्कीर्ण किया गया है।

शैव और बौद्ध-धर्म को स्वीकार करके हूण हिन्दू समाज के अभिन्न अंग बन गये। भारतीयों ने प्राचीन सीरिया और मैसोपोटामिया में भी छोटे-छोटे उपनिवेश बसाये थे, जो अन्त में कालकवलित हो गये।

"व्यक्ति को चाहिए कि उस गुरु को माता-पिता के समान सम्मान प्रदान करे, जो बिना पीड़ा के ज्ञान के द्वारा अमरता का वरदान देते हुए, सत्य (की गूँज) से कर्ण छेदन करता है।"

"जो अयोग्य शिष्य, अत्यन्त विद्वान होने पर भी (विद्या यथाविन. गृहीत विद्या) अपने वचन, मन और कार्य से गुरु का सम्मान नहीं करते, उन्हें जैसे गुरु भोजन (तथा आश्रय) नहीं देता है, (वरन् भगा देता है) उसी प्रकार विद्या भी उन्हें छोड़ जाती है।

"ऐ ब्राह्मण अपने धन की रक्षा करने के लिए मुझे केवल उसको ही प्रदान करो, जिसे तुम शुद्ध (शुचि), प्रमाद रहित (अप्रमत) बुद्धियुक्त तथा ब्रह्मचर्य में स्थित—(ब्रह्मचर्योपपन्न) समझते हो।"

इस प्रकार ये पंक्तियाँ शिक्षा-प्रणाली के विषय में निम्न तथ्यों का उद्घाटन करती हैं—(१) गुरु का गृह ही अध्ययन का केन्द्र होता था, जहाँ शिष्य को गुरु के पास रहना पड़ता था और वह उसी से भोजन भी पाता था। (२) विद्यार्थी को शिष्यत्व तभी प्रदान किया जाता था जब उसे नैतिक-दृष्टि से सर्वथा योग्य समझ लिया जाता था। (३) ब्रह्मचर्य-रूपी अनुशासन का पालन शिष्य के लिये आवश्यक था। (४) शिष्य का कर्त्तव्य था कि वह गुरु का सम्मान उन्हें माता-पिता के समान समझते हुए मन, वचन और कर्म से करे। (५) जो शिष्य इन कर्त्तव्यों का पालन सम्यक् रूप से न करे उसे निष्कासित कर दिया जाता था।

उत्तर वैदिक-कालीन शिक्षा

गुरु तथा शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध—गुरु तथा शिष्य में परस्पर मधुरतम सम्बन्ध रहता था। शिष्य अपने गुरु को पिता के समान समझता था (प्रश्नोप० ६-८) जैसा कि 'सहनाववतु' इत्यादि पद से स्पष्ट होता है। यह

अध्याय १२

भारतीय शिक्षा प्रणाली

वैदिक कालीन शिक्षा प्रणाली

प्राचीन भारतीय संस्कृति की झलक तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली पर दृष्टि-पात करने से आसानी से मिल जाती है। यास्क ने अपने निरुक्त (२-३-४) में वैदिककालीन शिक्षा-प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि "अध्यापक को चाहिए कि पढ़ाने में 'जर्थात' आदि का व्यवहार न करे। अथवा 'एक पदानि' न पढावे। (न निर्ब्रूयात) और न तो ऐसे विद्यार्थियों को पढ़ाये जिन्हें व्याकरण का ज्ञान न हो।(अवैयाकरणाय)। न उसको जो गुरु के पास रहनेवाला विधिवत् अध्येता न हो (न अनुपसन्नाय)। उसको चाहिए कि केवल ऐसे अध्येताओं को पढ़ावें जो नियमित हो और मेधावी या तपस्वी या ज्ञान-पिपासु हो।" यह उद्धरण प्रकट करता है कि एक स्वतन्त्र विषय के रूप में व्याकरण का प्रचलन उस वैदिक काल में ही हो चुका था जब वेदों के पदों को समझने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक काल में विद्यार्थियों का ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु के साथ ही रहना भी आवश्यक तथा अनिवार्य था।

यास्क ने इसके आगे एक प्राचीन उद्धरण उपस्थित किया है जो वैदिक शिक्षा-प्रणाली का वर्णन इस प्रकार करता है—

"विद्या ब्राह्मण के पास पहुँची और कहा 'मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारा धन हूँ। मुझे इन अयोग्य लोगों को न प्रदान करना—जो असूयक (ईर्ष्यालु) हो जो अनृज (कुटिल)हो अथवा जो(अयत) असयमित हो, तभी मैं शक्तिमती होऊँगी।

"व्यक्ति को चाहिए कि उस गुरु को माता-पिता के समान सम्मान प्रदान करे, जो बिना पीड़ा के ज्ञान के द्वारा अमरता का वरदान देते हुए, सत्य (की सुई)से कर्ण छेदन करता है।"

'जो अयोग्य शिष्य, अत्यन्त विद्वान होने पर भी (विप्रा मेधाविन गृहीत विद्या) अपने वचन, मन और कार्य से गुरु का सम्मान नहीं करते, उन्हें जैसे गुरु भोजन (तथा आश्रय)नहीं देता है, (वरन् भगा देता है) उसी प्रकार विद्या भी उन्हें छोड़ जाती है।

"ऐ ब्राह्मण अपने मन की रक्षा करने के लिए मुझे केवल उसको ही प्रदान करो, जिसे तुम शुद्ध (शुचि), प्रमाद रहित (अप्रमत्त) बुद्धियुक्त तथा ब्रह्मचर्य में स्थित—(ब्रह्मचर्योपपन्न) समझते हो।"

इस प्रकार ये पंक्तियाँ शिक्षा-प्रणाली के विषय में निम्न तथ्यों का उद्घाटन करती हैं—(१) गुरु का गृह ही अध्ययन का केन्द्र होता था, जहाँ शिष्य को गुरु के पास रहना पड़ता था और वह उसी से भोजन भी पाता था। (२) विद्यार्थी का शिष्यत्व तभी प्रदान किया जाता था जब उसे नैतिक दृष्टि से सर्वथा योग्य समझ लिया जाता था। (३) ब्रह्मचर्य-रूपी अनुशासन का पालन शिष्य के लिये आवश्यक था। (४) शिष्य का कर्त्तव्य था कि वह गुरु का सम्मान उन्हें माता-पिता के समान समझते हुए मन, वचन और कर्म से करे। (५) जो शिष्य इन कर्त्तव्यों का पालन सम्यक् रूप से न करे उसे निष्कासित कर दिया जाता था।

उत्तर वैदिक-कालीन शिक्षा

गुरु तथा शिक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध—गुरु तथा शिष्य में परस्पर मधुरतम सम्बन्ध रहता था। शिष्य अपने गुरु को पिता के समान समझता था (प्रश्नोप० ६-८) जैसा कि 'सहनाववतु' इत्यादि पद से स्पष्ट होता है। यह

मन्त्र प्रतिदिन नित्यकार्यों को प्रारम्भ करने के पूर्व पढ़ा जाता था, कि शिष्य तथा गुरु एक ही समान लक्ष्य से सम्बन्धित होते थे और वह था पवित्र ज्ञान की रक्षा तथा प्रचार करना और अपने जीवन तथा चरित्र मे उसके मूल्य का उद्घाटन करना। कभी-कभी ऐसा होता था कि अन्तेवासी जो गुरु के गृह मे निवास किया करते थे सदैव के लिए इस प्रकार के जीवनयापन को अधिक महत्व देते थे और यावज्जीवन गुरु गृह मे रहने (तथा यथाक्रम अध्ययन एव अध्यापन करने की अनुमति भी उन्हे मिल जाया करती थी (छादोग्य २, २३, २)।

गुरु के कर्त्तव्य—उसे उच्चतम नैतिक और अध्यात्मिक गुणों से युक्त होना आवश्यक है। कठ उपनिषद् (१. २. ८) का कथन है कि निम्न कोटि के मनुष्य द्वारा उपदिष्ट यह सत्य गृहीत नही हो पाता। मुण्डक उपनिषद् (१, १२, २,) के अनुसार उसे श्रोत्रीय और पूर्णतया ब्रह्मनिष्ट होना चाहिए, उसे परमैक्य की तत्वानुभूति पर आधारित ज्ञान से युक्त होना चाहिए जिसके द्वारा उसे अपने शिष्यों को प्रबुद्ध करना है, अन्यथा "अधे का मार्गप्रदर्शन" वाली युक्ति चरितार्थ होगी।

गुरु का यह कर्त्तव्य है कि जब योग्य शिष्य उसके पास पहुँचे तो उसे अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का उपदेश करे (मुण्डक १. २, १३) और उससे कुछ भी छुपाये नही क्योकि इस प्रकार का दुराव उसके लिए हानि का कारण बनेगा (प्रश्न ६ १) तैत्तिरीय आरण्यक (७.४) कहता है कि गुरु को सम्पूर्ण हृदय से अध्यापक कहना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण (१, ४, १, १, २६, २७) के अनुसार वह अपने शिष्य के समक्ष प्रत्येक बात का उद्घाटन करने के लिए बाध्य होता या जो किसी भी मूल्य पर उसके साथ एक वर्ष पर्यन्त निवास कर चुका हो (सम्वत्सर-वासिन) । यह कहना सम्भवत. इस बात की ओर सकेत करता है कि विद्यार्थी लोगो के द्वारा अध्यापको का परिवर्तन होते रहना संभव था। जो भी हो यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि अध्यापक पूर्णतः

स्वेनग्य था कि वह किसी शिष्य को केवल उन्ही विद्याओ का उपदेश दे जिनके लिए वह योग्य हो और उस ज्ञान को गुप्त रखे जिसके योग्य वह न हो। इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं जब कि कुछ विद्याएँ गुप्त रखी गई और उनका उपदेश केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही किया गया—वशिष्ठों और स्तोन भागों का वर्णन (प० ब्रा० १५, ५, २४ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ५, २, १ कठसंहिता ३७, १७ प्रवहण जैवलि और उसका ब्रह्मज्ञान का वर्णन बृहदा० उप० ६.१, ११)

स्त्री-शिक्षा—प्राप्त प्रमाणो मे अनुसार सिद्ध होता है कि स्त्री के लिए शिक्षा का अभाव न था। कही-कही ऐसा वर्णन मिलता है जब कि स्त्रियाँ वैदिक कार्यों मे भाग लेती थी। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियो म से एक दार्शनिक विषयो के ऊपर बड़ा ही सुन्दर विवाद करती है, जिसका वर्णन हम बृहदारण्यक (३, ४, ४, ५, १) मे मिलता है। ऐतरेय उपनिषद् मे दिये हुए दो अनुशासनो के अनुसार (२,१) यह भी ज्ञात होता है कि विवाहित स्त्रियो को वेदान्त के विषयो पर होने वाले विवादो को सुनने की आज्ञा थी। उपनिषद् कुछ अन्य स्त्रियों का वर्णन करते है जो अध्यापन करती थीं, यद्यपि यह नही ज्ञात होता कि वे विवाहित थी या नहीं। बृहद० उप० (६, ४, १७) मे एक मनोरंजन अनुष्ठान का वर्णन है जिसमे एक व्यक्ति ऐसी कन्या की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है जो पंडित हो। कौषीतकि ब्राह्मण (७,६) मे एक आर्य स्त्री पथ्यावस्ति का वर्णन है जो उत्तर की ओर इसलिए पर्यटन करती है कि उच्चतर अध्ययन कर सके और अपनी विद्वता के बल पर उसे वाक् (सरस्वती) की उपाधि प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध मे हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्त्री को उन ललित कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी जिनके लिए पुरुष अयोग्य थे और जिनका ज्ञान स्त्रीत्व को पूर्णत्व प्रदान करने वाला समझा जाता था। नृत्य और गान ऐसी ही कलायें थी (तैत्तरीय संहि० ६, १, ६, ५, मैत्रायणी संहिता १, ७, ३, शतपथ ब्राह्मण ३, २, ४, ३-४)।

अध्यापन के विषय—अब इस काल मे अध्ययन के विभिन्न विषयो तथा

मन्त्र प्रतिदिन नित्यकार्यों को प्रारम्भ करने के पूर्व पढ़ा जाता था, कि शिष्य तथा गुरु एक ही समान लक्ष्य से सम्बन्धित होते थे और वह था पवित्र ज्ञान की रक्षा तथा प्रचार करना और अपने जीवन तथा चरित्र में उसके मूल्य का उद्घाटन करना। कभी-कभी ऐसा होता था कि अन्तेवासी जो गुरु के गृह में निवास किया करते थे सदैव के लिए इस प्रकार के जीवनयापन को अधिक महत्व देते थे और यावज्जीवन गुरु गृह में रहने (तथा यथाक्रम अध्ययन एवं अध्यापन करने की अनुमति भी उन्हें मिल जाया करती थी (छांदोग्य २, २३, २)।

गुरु के कर्त्तव्य—उसे उन्नततम नैतिक और आध्यात्मिक गुणों से युक्त होना आवश्यक है। कठ उपनिषद् (१ २. ८) का कथन है कि निम्न कोटि के मनुष्य द्वारा उपदिष्ट यह सत्य गृहीत नहीं हो पाता। मुण्डक उपनिषद् (१, १२, २,) के अनुसार उसे श्रोत्रीय और पूर्णतया ब्रह्मनिष्ट होना चाहिए, उसे परमैक्य की तत्वानुभूति पर आधारित ज्ञान से युक्त होना चाहिए जिसके द्वारा उसे अपने शिष्यों को प्रबुद्ध करना है, अन्यथा 'अंधे का मार्गप्रदर्शन" वाली युक्ति चरितार्थ होगी।

गुरु का यह कर्त्तव्य है कि जब योग्य शिष्य उसके पास पहुँचे तो उसे अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का उपदेश करे (मुण्डक १ २, १३) और उससे कुछ भी छुपाये नहीं क्योंकि इस प्रकार का दुराव उसके लिए हानि का कारण बनेगा (प्रश्न ६ १) तैत्तिरीय आरण्यक (७.४) कहता है कि गुरु को सम्पूर्ण हृदय से अध्यापक कहना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण (१, ४, १, १, २६, २७) के अनुसार वह अपने शिष्य के समक्ष प्रत्येक बात का उद्घाटन करने के लिए बाध्य होता था जो किसी भी मूल्य पर उसके साथ एक वर्ष पर्यन्त निवास कर चुका हो (सम्वतसर-वासिन)। यह कहना सम्भवत इस बात की ओर संकेत करता है कि विद्यार्थी लोगों के द्वारा अध्यापकों का परिवर्तन होते रहना सम्भव था। जो भी हो यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि अध्यापक पूर्णत

स्वतन्त्र था कि वह किसी शिष्य को केवल उन्हीं विद्याओं का उपदेश दे जिनके लिए वह योग्य हो और उस ज्ञान को गुप्त रखे जिसके योग्य वह न हो। इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं जब कि कुछ विद्याएँ गुप्त रखी गई और उनका उपदेश केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही किया गया—वशिष्टों और स्तोम भागों का वर्णन (पं० ब्रा० १५, ५, २४ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ५, २, १ कठसंहिता १७, १७ प्रवहण जैवलि और उसका ब्रह्मज्ञान का वर्णन बृहदा० उप० ६ १, ११)

स्त्री-शिक्षा—प्राप्त प्रमाणों से अनुसार सिद्ध होता है कि स्त्री के लिए शिक्षा का अभाव न था। कहीं-कहीं ऐसा वर्णन मिलता है जब कि स्त्रियाँ वैदिक कार्यों में भाग लेती थीं। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों में से एक दार्शनिक विषयों के ऊपर बड़ा ही सुन्दर विवाद करती है, जिसका वर्णन हमें बृहदारण्यक (३, ४, ४, ५, १) में मिलता है। ऐतरेय उपनिषद् में दिये हुए दो अनुशासनों के अनुसार (२,१) यह भी ज्ञात होता है कि विवाहित स्त्रियों को वेदान्त के विषयों पर होने वाले विवादों को सुनने की आज्ञा थी। उपनिषद् कुछ अन्य स्त्रियों का वर्णन करते हैं जो अध्यापन करती थीं, यद्यपि यह नहीं ज्ञात होता कि वे विवाहित थीं या नहीं। बृहद० उप० (६, ४, १७) में एक मनोरंजक अनुष्ठान का वर्णन है जिसमें एक व्यक्ति ऐसी कन्या की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है जो पंडित हो। कौषीतकि ब्राह्मण (७,६) में एक आर्य स्त्री पथ्यास्वस्ति का वर्णन है जो उत्तर की ओर इसलिए पर्यटन करती है कि उच्चतर अध्ययन कर सके और अपनी विद्वता के बल पर उसे वाक् (सरस्वती) की उपाधि प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्त्री को उन ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी जिनके लिए पुरुष अयोग्य थे और जिनका ज्ञान स्त्रीत्व को पूर्णत्व प्रदान करने वाला समझा जाता था। नृत्य और गान ऐसी ही कलायें थीं (तैत्तरीय संहि० ६, १, ६, ५, मैत्रायणी संहिता ३, ७, ३, शतपथ ब्राह्मण ३, २, ४, ३-४)।

अध्यापन के विषय —अब इस काल में अध्ययन के विभिन्न विषयों तथा

साहित्य के विभिन्न प्रकारो के विषय मे विचार करेंगे।

वेद के अध्ययन के लिए हमे, 'स्वाध्याय' एक शब्द के रूप मे प्रयुक्त मिलता है। स्वाध्याय के महत्व और उससे प्राप्त होने वाले विशिष्ट सत्फलो का उल्लेख हमे शतपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है। (दे० श० ब्रा० (ग्यारह) ५, ६ ६ तथा तैतरीय आरण्यक (दो १३) अन्यत्र भी विद्वान श्रोत्रिय अथवा विद्यार्थी के आनन्द की तुलना अधिक से अधिक संभव आनन्द स की गई है (दे० वृ० उप०(पाँच)३,३३ तथा तै० आ० ६, ८)। स्वाध्याय का मुख्य उद्देश्य ऋक्, यजुः और साम की सभी विद्या का ज्ञान करना था जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण के अनेक स्थलो पर मिलता है।

तीनो वेदो के अध्येता को त्रिशुक्रिय अथवा त्रिशुक (Thrice pure) कहा गया है (काठक सहिता ३७, १, ७ और तैतरीय ब्रा० २, ७, १, २)।

तत्कालीन साहित्य मे वेद के अतिरिक्त अन्य विषयो का भी उल्लेख है जिनका अध्ययन तथा अध्यापन उस काल मे होता था। उनमे निम्नलिखित मुख्य है —

१. **अनुशासन**—सायण के अनुसार यह ६ वेदांगो शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का ही नामान्तर है।

२ **विद्या**—सायण के अनुसार विद्या से न्याय,
शास्त्रो से अभिप्राय है, किन्तु एकलिंग (Eggeling)
से कुछ विशेष विद्याओ जैसे सर्प विद्या अथवा विष
चाहिये। गेल्डनर इसे प्रारम्भिक ब्राह्मणो के

३. **वाको वाक्यम्**—गेल्डनर के अनुसार यह
प्रकार है। शकर ने छान्दोग्य मे इसका अर्थ

४. इतिहास पुराण—इनका एक साथ नामोल्लेख सर्वप्रथम अथर्व (१५, ६ ४ इत्यादि) मे मिलता है केवल इतिहास का स्वतन्त्र उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (तेरह), ४, ३, १२, १३ तथा संयुक्त रूप मे (ग्यारह ५, ६, ८, ७, ९) तथा जैमिनीय (१.५३) बृहदारण्यक (२. ४, १०, ४, १, २, ५, ११) और छान्दोग्य (तीन, ४, १, २), (सात १, २, ४ २ ७, १) उपनिषदों मे हुआ है। उपनिषद् पुराण उन्हे पंचम वेद मानते हैं, जब कि शतपथ दोनों को वेद मानता है। शंकर और सायण की परिभाषाओं के अनुसार दोनों में थोड़ा भेद दृष्टि-गोचर होता है। यास्क ने केवल इतिहास का उल्लेख किया है संभवतः पतञ्जलि को इन दोनों का ज्ञान स्वतन्त्र विषयों के रूप मे था।

५. आख्यान—ऐतरेय ब्राह्मण मे राजसूय मे शुनःशेप आख्यान का वर्णन है और उन आख्यान-विदों का भी उल्लेख है जो सौवर्ण की कथा सुनाते हैं, जिसे शतपथ मे व्याख्यान कहा गया है।

६ अन्वाख्यान—

७. अनुव्याख्यान—

८. व्याख्यान—अधिकतर इसका प्रयोग अर्थवाद के लिए किया गया है।

९. गाथा—ऋग्वेद का शब्द है जिसका साधारण अर्थ गीत है। ऐतरेय ब्राह्मण इत्यादि मे उल्लेख है।

१०. नाराशंसी—ऋग्वेद (१०, ८५, ६) मे इसका सर्वप्रथम उल्लेख है।

११. ब्राह्मण—ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तरीय-संहिता और शतपथ ब्राह्मण मे उल्लेख है।

१२. क्षत्र विद्या—मे अभिप्राय शासकवर्ग की विशेष विद्या से है।

१३. राशि—शंकर के अनुसार गणित से तात्पर्य है छान्दोग्य मे उल्लेख है।

१४. नक्षत्र विद्या—छान्दोग्य मे उल्लेख है, शंकर के अनुसार "ज्योतिषम्"।

साहित्य के विभिन्न प्रकारो के विषय मे विचार करेंगे।

वेद के अध्ययन के लिए हम, 'स्वाध्याय' एक शब्द के रूप म प्रयुक्त मिलता है। स्वाध्याय के महत्व और उससे प्राप्त होने वाले विशिष्ट सत्फलों का उल्लेख हम शतपथ ब्राह्मण म प्राप्त होता है। (दे० श० ब्रा० (ग्यारह) ५, ६ ६ तथा तैतरीय आरण्यक (दो १३) अन्यत्र भी विद्वान श्रोत्रिय अथवा विद्यार्थी के आनन्द की तुलना अधिक से अधिक सभव आनन्द म की गई है (दे० वृ० उप० (पांच) ३,३३ तथा तै० आ० ६, ८)। स्वाध्याय का मुख्य उद्देश्य ऋक् यजु और साम की सभी विद्या का ज्ञान करना था जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण के अनेक स्थलो पर मिलता है।

तीनो वेदो के अध्येता को त्रिशुक्रिय अथवा त्रिशुक (Thrice pure) कहा गया है (काठक सहिता ३७, १, ७ और तैतरीय ब्रा० २, ७ १, २)।

तत्कालीन साहित्य मे वेद के अतिरिक्त अन्य विषयो का भी उल्लख है जिनका अध्ययन तथा अध्यापन उस काल मे होता था। उनमे निम्नलिखित मुख्य है —

१ अनुशासन—सायण के अनुसार यह ६ वेदागो शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का ही नामान्तर है।

२ विद्या—सायण के अनुसार विद्या से न्याय, मीमांसा इत्यादि दर्शन शास्त्रो से अभिप्राय है, किन्तु एकलिंग (Eggeling) का मत है कि इस शब्द से कुछ विशेष विद्याओ जैसे सर्प विद्या अथवा विष विद्या का अर्थ किया जाना चाहिये। गेल्डनर इसे प्रारम्भिक ब्राह्मणो के अध्ययन का द्योतक मानते है।

३. वाको वाक्यम्—गेल्डनर के अनुसार यह इतिहास पुराण का ही एक प्रकार है। शकर ने छान्दोग्य मे इसका अर्थ "तर्कशास्त्रम्" इति किया है।

४. इतिहास पुराण—इनका एक साथ नामोल्लेख सर्वप्रथम अथर्व (१५, ६ ४ इत्यादि) में मिलता है केवल इतिहास का स्वतन्त्र उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (तेरह), ४, ३, १२, १३ तथा संयुक्त रूप में (ग्यारह ५, ६, ८, ७, ९) तथा जैमिनीय (१.५३) बृहदारण्यक (२ ४, १०, ४, १, २, ५, ११) और छांदोग्य (तीन, ४, १, २), (सात १, २, ४ २ ७, १) उपनिषदों में हुआ है। उपनिषद् पुराण उन्हें पंचम वेद मानते हैं, जब कि शतपथ दोनों को वेद मानता है। शंकर और सायण की परिभाषाओं के अनुसार दोनों में थोड़ा भेद दृष्टि-गोचर होता है। यास्क ने केवल इतिहास का उल्लेख किया है मुख्यतः पतंजलि को इन दोनों का ज्ञान स्वतन्त्र विषयों के रूप में था।

५. आख्यान—ऐतरेय ब्राह्मण में राजसूय में शुन शेप आख्यान का वर्णन है और उन आख्यान-विदों का भी उल्लेख है जो सौवर्ण की कथा सुनाते हैं जिसे शतपथ में व्याख्यान कहा गया है।

६ अन्वाख्यान—

७ अनुव्याख्यान—

८. व्याख्यान—अधिकतर इसका प्रयोग अर्थवाद के लिए किया गया है।

९. गाथा—ऋग्वेद का शब्द है जिसका साधारण अर्थ गीत है। ऐतरेय ब्राह्मण इत्यादि में उल्लेख है।

१०. नाराशंसी—ऋग्वेद (१०, ८५, ६) में इसका सर्वप्रथम उल्लेख है।

११. ब्राह्मण—ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तरीय-संहिता और शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है।

१२. क्षत्र विद्या—से अभिप्राय शासकवर्ग की विशेष विद्या से है।

१३ राशि—शंकर के अनुसार गणित से तात्पर्य है छान्दोग्य में उल्लेख है।

१४. नक्षत्र विद्या—छान्दोग्य में उल्लेख है, शंकर के अनुसार "ज्योतिषम्"।

१५ भूत विद्या–मैक्डानल के अनुसार Demonology अर्थात प्रेत विद्या से तात्पर्य है। छान्दोग्य उपनिषद मे इसका उल्लेख है। शकर के अनुसार अर्थ = भूततन्त्रम्। रगरामानुज के अनुसार अर्थ = वशीकरण विद्या।

१६ सर्प विद्या—छान्दोग्य उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण मे उल्लेख है। गोपथ ब्राह्मण मे भी इसका उल्लेख सर्पवेद के नाम से मिलता है।

१७. अथर्वांगिरस—अर्थवेद का सामूहिक नाम है जिसका उल्लेख ब्राह्मणों मे किया गया है। (तैतरीय ब्रा० ३, १२, ८, २ शतपथ ११, ५, ६, ७, वृहद० उप० २, ४, १०, ४, १, २, ५, ११, छान्दोग्य उप० ३, ४, १२, । तैतरीय उपनिषद् २, ३, १, तैतरीय आरण्यक २, ६, १० अथर्ववेद मे भी इसका उल्लेख एक बार (१०, ७, २०) हुआ है।

१८. दैव—इसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् मे मिलता है जहाँ पर कि शकर ने इसका अर्थ उत्पात ज्ञान किया है (The knowledge of portents)

१६ निधि—छान्दोग्य उपनिषद् मे उल्लेख है। शकर ने इसका अर्थ "महाकालादि निधि शास्त्रम्" लिखा है जब कि रगरामानुज इसका अर्थ निधि दर्शनोपाय-शास्त्रम्" इस प्रकार करते है

२०. विद्य—छान्दोग्य म उल्लेख है शकर ने इसका अर्थ श्राद्ध कल्प किया है।

२१ सूत्र—इसका उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद् म हुआ है। इसका अभिप्राय यज्ञ इत्यादि के विषय मे निर्देश देने वाल ग्रन्थ मे है।

२२ उपनिषद्—इसका उल्लेख सर्वप्रथम वृहदारण्यक उपनिषद् (२, ४, १०, ४, १२, ५, ११) मे मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के कुछ अश भी "इत्युपनिषद्" इस प्रकार समाप्त हुए हैं।

२३. श्लोक—बृहदारण्यक मे उल्लेख है और शकर ने इसका अर्थ किया है—वे मन्त्र जो वेदो मे नही मिलते किन्तु ब्राह्मणों मे मिलते हैं (ब्राह्मण प्रभाव मन्त्रा)।

२४ वेदों का वेद—छान्दोग्य उपनिषद् मे "वेदाना वेद" का उल्लेख हुआ है और शकर ने इसका अर्थ लिखा है। प्राचीन संस्कृत का व्याकरण जिसके द्वारा पाँचों वेद समझे जा सकते हैं। (वेदानां भारत-पचमाना) (वेदानध्याप-यामास महाभारत पचमान) वेद व्याकरणमिति।

२५. *एकायन—छान्दोग्य मे उल्लेख है। शकर ने इसका अर्थ किया है नीतिशास्त्रम्।

२६. देव विद्या—छान्दोग्य मे उल्लेख है। शकर ने इसका अर्थ किया है निरुक्त जब कि रगरामानुज ने इसे "देवतोपासना प्रकार विद्या" बताया है।

२७ ब्रह्म विद्या—छान्दोग्य मे उल्लेख है। शकर ने इसका अर्थ "शिक्षा कल्प और छन्दस वेदाग" किया है।

२८. देवजन विद्या—छान्दोग्य मे उल्लिखित विषयों में मे यह अन्तिम हैं। शकर के अनुसार इसका अर्थ "गध—युक्तिप्ट" है जिसको कि शकर के टीकाकार ने स्पष्ट करने के लिए लिखा है "कुंकुमादि सम्पादनम्" किन्तु इससे रगन का अर्थ भी निकल सकता है। नृत्य-वाद्य शिल्पादि "विज्ञानानि" है। रगरामानुज ने समास को विभक्त करके देव-विद्या गन्धर्वों की कला और जन विद्या (आयुर्वेद) का अलग-अलग उल्लेख किया है।

सूत्रकाल मे शिक्षाप्रणाली

सूत्रों मे तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली का पर्याप्त वर्णन प्राप्त होता है। यह

* Literal—The only right and narrow path of morality

स्मरण रखने योग्य है कि सूत्र ग्रन्थो से हमे किसी ऐसे नवीन तत्व का ज्ञान नही होता जिसने वैदिककालीन शिक्षा प्रणाली मे कोई परिवर्तन किया हो उस समय केवल पूर्व प्रचलित प्रणाली का ही सरक्षण होता रहा जो वैदिककाल म प्रारम्भ हुई थी। उन्ही प्रणालियो को इस युग म अन्तिम रूप प्रदान किया गया और इस क्रिया मे उसका तत्कालीन उदीयमान धार्मिक एव सामाजिक सम्प्रदायो से प्रभावित होना उचित ही था। सूत्रो ने पूर्वकालीन सम्पूर्ण उत्थान को पूर्णता प्रदान की और जितने भी अलिखित विधान परम्परायें, और प्रथायें थी जिनका उल्लेख पवित्र ग्रन्थो मे किया गया था, को लिपिबद्ध किया।

विद्यारम—शिक्षा के साथ विद्यार्थी का सर्व प्रथम परिचय जिस क्रिया के द्वारा होता था उसे विद्यारभ अथवा 'अक्षर स्वीकरम्' भी कहते थे जिसमे उसे पहले पहल वर्ण ज्ञान कराया जाता था। यह सस्कार पाँच वर्ष की अवस्था मे होता था। (प्राप्तत् पचमे वर्षे) और सभी जाति के लोगो को यह प्राप्य था। इस सस्कार मे बालक को हरि, लक्ष्मी और सरस्वती की पूजा तो करनी ही पडती थी, साथ ही अपनी (१) कुल विद्या (स्वविद्या, (२) उस विद्या विशेष के सूत्रकारो और (३) विशेषत उस विद्या का भी पूजन करना पडता था। (स्मृति चद्रिका मैसूर सस्करण पृष्ठ ६६-६७)।

विद्यारम्भ का सस्कार होने के पश्चात् चूडाकरण और उसके पश्चात् उपनयन होता था। कौटिल्य (अर्थ० १ २) के अनुसार उस राजकुमार के लिए जिसका चूडाकरण हो चुका हो वृत चौलकर्मा) विद्यारम्भ का अर्थ लिपि तथा सख्या सीखना होता था।

उपनयन—विशेष तथा नियमित रूप से शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन के पश्चात् होता था जो ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य इनमे से प्रत्येक जाति के लिए के लिए विहित था (बौधायन धर्म सू० एक १ ३, १० आपस्तम्ब एक १, १ ६)। यद्यपि उनके लिए भिन्न-भिन्न नियम होते थे किन्तु इन जातियों के जो

लोग शूद्रों की ही भाँति पापपूर्ण कृत्य करते थे वे इस संस्कार के लिए अनर्ह हो जाते थे (वही)।

शूद्रों की उपनयन के लिए अर्हता—किन्तु इस बात को विशेष महत्व की दृष्टि से ध्यान देना चाहिए कि विधि व्याख्याताओं में से केवल बौधायन (गृह्य सूत्र ४, ८, ९) शूद्र रथकार को भी उपनयन के लिए योग्य स्वीकार करते है। वह कहते हैं कि उसे विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न वर्णों का प्रेरक मानना चाहिए। यहाँ पर वस्तुतः बौधायन ने वैदिक परम्परा का अनुवर्तन किया है। प्राचीन वैदिक कर्म-काण्ड कुछ विशेष अवसरों पर शूद्रों, विशेषतः रथकार या बढई को, उन कार्यों में भाग लेने का विधान रखता है। तैतरीय ब्राह्मण मे कुछ ऐसे विशेष मन्त्रों का उल्लेख है जो कि अग्न्याधान के अवसर पर रथकार द्वारा पढ़े जाने चाहिए। बौधायन ने (धर्म० १, ९, १७, ६) रथकार की परिभाषा वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न व्यक्ति के रूप में की है और मिश्रित जातियों के प्रति विद्वेश भावना और बढई का उपनयन संस्कार की अर्हता से निष्काशन का जो उल्लेख अवान्तरकालीन सूत्रकारों (आपस्तम्ब इत्यादि) में मिलता है उसे पश्चात्कालीन सिद्धान्त के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

स्त्री शिक्षा

जहाँ तक स्त्री शिक्षा का सम्बन्ध है वैदिक काल की परम्परा अक्षुण्ण रही। बृहद्देवता में ऋषि की स्त्री को ब्रह्मवादिनी कहकर वर्णित किया गया है। घोषा, रोमशा, लोपमुद्रा, विश्वा) कुछ स्मृतिकारों ने "ब्रह्मवादिनी" का अर्थ उस कुमारी से किया है जो विवाह नहीं करती। हारीत (× ÷ ।. २३) कहता है कि "स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) ब्रह्म वादिनी और (२) सद्यो-वधू। इनमे पहली उपनयन के लिए, अग्न्याधान के लिए तथा वैदिक अध्ययन इत्यादि के लिए योग्य है। सद्यो-वधू को केवल विवाह से पूर्व किसी रूप में उपनयन कर लेना होता था।" यम भी कहता है—"प्राचीन काल में

स्त्रियाँ मौञ्जी बंधन(उपनयन) वैदिक अध्ययन और सावित्री वाचन के लिए योग्य होती थी।

श्रौति अथवागृह्य-सूत्रों ने उन वैदिक मन्त्रों को लिखा है जिन्हें अनुष्ठानो-विशेष पर स्त्रियाँ अपने पति के साथ पढ़ती थी (आश्व० श्रौ० सू० १, २, गोभिल गृ० सू०—३, २, ३, आपस्तम्ब (बारह) ३, १२, पारस्क० ६, २१) गोभिल (गृ० सू० १, ३) में लिखते हैं कि स्त्री को शिक्षा दी जानी चाहिये ताकि वह यज्ञों में भाग ले सके (न हि खलु अनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुमिति)। और भी—जैमिनि के पूर्व मीमांसा के प्रथम अध्याय के तीसरे अधिकरण का विषय बताते हुए शबर-स्वामी ने कहा है कि इसका वर्ण्य-विषय यज्ञ कार्यों में स्त्री पुरुष के समान अधिकारों का वर्णन है। माधवाचार्य (न्यायमाला विस्तार पृ० ३३५) उसी की टीका करते हुये लिखते हैं "अस्यैवाधिकरणस्य अनुसारेण अष्ट वर्ष ब्राह्मण उपनयीततम् अध्यापयीत इत्यात्रापि स्त्रियोऽपि अधिकार।" "अर्थात आठ वर्ष के ब्राह्मण के लड़के का उपनयन कर देना चाहिए और उसको पढ़ाना चाहिये और यही अधिकार स्त्रियों का भी है।" सबसे अंत में हम हेमाद्रि के कथन को भी उद्धृत कर सकते हैं कि "कुमारिकों को विद्या और धर्मनीति की शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षित कुमारी अपने पिता और पति दोनों के ही परिवारों का कल्याण कल्याण करती है। अतएव उसका विवाह भी मनीषी पति के साथ करना चाहिए क्योंकि वह स्वयं विदुषी होती है।"

बौद्धकालीन शिक्षा-प्रणाली

(विनयपिटक के अनुसार)—बौद्धों की शिक्षा-प्रणाली का इतिहास व्यावहारिक रूप से बौद्ध संघों की प्रणाली का ही इतिहास है। बौद्धकालीन शिक्षा और अध्ययन बौद्ध विहारों के ही चारों ओर उसी प्रकार केन्द्रीभूत था जैसे वैदिक संस्कृति यज्ञ के चारों ओर केन्द्रीभूत थी। इन बौद्ध-विहारों के प्रभाव से स्वतन्त्र अथवा अलग कोई शिक्षा की सुविधा बौद्ध संसार में न थी। शिक्षा

का सारा व्यापार चाहे वह धार्मिक हो अथवा धर्मनिरपेक्ष, भिक्षुओ के हाथ था। उन लोगो को विद्या और विद्याध्ययन का एकाधिकार प्राप्त था। बौद्ध कालीन सस्कृति के एकमात्र रक्षक वही थे।

बौद्ध शिक्षा का पहला बिन्दु होता था पब्बजा अथवा प्रवज्या जिसमे विद्यार्थी को अपने गृह का त्याग करना पडता था।

यह भी लक्ष्य किया जा सकता है कि पब्बज्य अर्थात बाहर जाना (घर से) उस ब्राह्मण प्रणाली से बहुत कुछ मिलता-जुलता है जिसके विद्यार्थी बालक को अपने माता-पिता और बन्धु-बान्धव के सम्पर्क और सरक्षण को त्याग कर तपोवन अथवा आश्रम के नये वातावरण मे जो अनुशासन और प्रशिक्षण से युक्त होता था, "अन्तेवासी" के रूप मे अपने चुने हुए गुरु के साथ निवास करने के लिए जाना पडता था। बौद्ध प्रणाली के अनुसार भी व्यक्ति को एक विशेष शिक्षक के अनुशासन मे रक्खा जाता है जो कि अपने आचरण पर नियन्त्रण रखनेवाला होता है। ब्राह्मण प्रणाली के अनुसार ही शिक्षा आरम्भ के लिए निम्नतम आयु नियत थी और आठ वर्ष से कम बालक इस नियम मे दीक्षित न किए जाते थे। विद्यार्थी जीवन का कम से कम काल बारह वर्ष ब्राह्मण प्रणाली के अनुसार था। वही बौद्ध-प्रणाली मे भी बना रहा। उपनयन के पश्चात् बालक को ब्रह्मचारी की उपाधि दी जाती थी। उसी से मिलता-जुलता बौद्ध विशेषण है सामणेर जिसको कि उस बालक के लिये प्रयोग करते है जो पब्बज्जित होता है।

अध्यापको के रूप मे उपध्याय और आचार्य—अब हम भिक्षुओ को शिक्षा देने के लिए किये प्रबन्धो का विचार करेंगे। उपसपदा की उच्चतर दीक्षा भी दीक्षा के लिए प्रस्तुत भिक्षु को स्वतन्त्र अवस्था अथवा आचरण के लिए स्वतन्त्रता नही प्रदान करती। उसे भी दो वरिष्ठ व्यक्तियो के अनुशासन मे रक्खा जाता था जो विद्या, चरित्र और प्रसिद्धि से विशिष्ठ होते थे और जिन्ह आचार्य

और उपाध्याय कहा जाता था। महावग्ग मे (एक, २५–३३) इत्यादि ग्रन्थों के वर्णन से भी इन लोगो के कार्यों के पारस्परिक अन्तर का बोध नही होता। प्रतीत ऐसा होता है कि उपाध्याय तो पवित्र ग्रन्थो और सिद्धान्तो के अध्यापन के कर्त्तव्य से सम्बधित उच्चाधिकारी था और आचार्य पर शिक्षार्थी भिक्षु के चरित्र का उत्तरदायित्व रहता था। इसलिए सम्भवतः उसे कर्माचार्य भी कहा जाता था, जिससे न केवल उसके धार्मिक कृत्यों मे भाग लेने का ही वरन् अनुशासन के सम्बन्ध मे भी उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है।

विद्यार्थियों के नित्य कर्त्तव्य —ब्राह्मण-प्रणाली की भाँति ही महावग्ग और चुल्लवग्ग के अनुसार बौद्ध प्रणाली भी गुरु की सेवा करना शिक्षा क्रम के एक भाग के रूप मे विद्यार्थी का कर्त्तव्य मानती है। विद्यार्थी को सवेरे तड़के उठना चाहिए और अपने गुरु के मुख प्रक्षालन के हेतु जल तथा दन्त धावन उपस्थित करनी चाहिए। इसके पश्चात उसके लिए आसन की व्यवस्था करके स्वच्छ पात्र मे उनके हेतु चावल युक्त दुग्ध उपस्थित करे और उसके पी लेने के पश्चात् पात्र को धोकर उस स्थान को भी स्वच्छ करे। ततपश्चात उसे अपने गुरु को भिक्षाटन के लिए आवश्यक उपादानो से युक्त करे और यदि वह स्वय भी उसके साथ जाना चाहे तो स्वय भी उसी के समान वस्त्र पहिने और न उससे बहुत दूर और न बहुत उसके बहुत पास चले। जब उसका गुरु बोल रहा हो तो टोके नहीं भले ही वह गलती कर जाय। लौटते समय विद्यार्थी को गुरु के आने से पूर्व आ जाना चाहिए ताकि वह आवश्यक वस्तुएँ तैयार रक्खे और वस्त्र परिवर्तन मे उसे सहायता करे। पश्चात् यदि आवश्यकता हो तो कुछ भोजन उपस्थित करने के बाद उसकी इच्छानुसार उष्ण अथवा शीत जल से उसके स्नान की व्यवस्था करे और यदि वह स्नानागार (संस्कृत यन्त्र गृह) मे स्नान करे तो उसे देह मे लगाने के लिये उबटन और बदन मे चुपडने के लिये मिट्टी दे जिससे अग्नि की गर्मी से रक्षा कर सके। यदि विद्यार्थी स्वय भी स्नान करना चाहे तो उसे शीघ्र ही नहाकर देह सुखाकर और वस्त्र परिवर्तित कर गुरु के पादप्रक्षालन के लिए जल, पादुकाएँ और तौलिया लेकर स्थित

हो जाना चाहिए। स्नान के पश्चात् यदि अध्यापक चाहे तो अध्यापन होता है। अध्यापन प्रश्नोत्तर रूप में अथवा भाषण रूप मे होगा।

निम्न श्रेणी के कार्यों की परम्परा मे विद्यार्थी के लिए एक कार्य यह भी था कि वह अपने अध्यापक के रहने के विहार को, वहाँ का सारा उपकरण और बिस्तर दरी, चटाई इत्यादि को हटाकर साफ करे और उन वस्तुओ को भी स्वच्छ करे। भीतर धूप दिखाये। इसके पश्चात उन वस्तुओ को यथास्थान रक्खे। उसे विहार के अन्य स्थानो को भी स्वच्छ करना पड़ता था। इस प्रकार की सेवा केवल विद्यार्थी अपने गुरु की कर सकता है अन्य किसी की नही। और न वह स्वय ही किसी दूसरे से सेवा करवा सकता है। यह बिना अध्यापक की अनुमति के न तो कोई चीज किसी से ले सकता है और न दे सकता है। वह अपने गुरु की आज्ञा के बिना न तो किसी ग्राम मे प्रवेश कर सकता है और न तो किसी यात्रा मे जा सकता था। यात्रा करने के लिए अनुमति ली जा सकती थी किन्तु उसके साथ एक विद्वान भिक्षु रहता था जो उसके आचरण को नियन्त्रित कर सके।

अत मे यदि अध्यापक अस्वस्थ हो तो विद्यर्थी को उसकी सेवा जीवन के अन्तिम क्षण तक करनी पड़ती थी और उनके अच्छे होने की प्रतिक्षा करनी पड़ती थी।

और उपाध्याय कहा जाता था। महावग्ग मे (एक, २५–३३) इत्यादि ग्रन्थों के वर्णन से भी इन लोगों के कार्यों के पारस्परिक अन्तर का बोध नहीं होता। प्रतीत ऐसा होता है कि उपाध्याय तो पवित्र ग्रन्थो और सिद्धान्तो के अध्यापन के कर्त्तव्य से सम्बधित उच्चाधिकारी था और आचार्य पर शिक्षार्थी भिक्षु के चरित्र का उत्तरदायित्व रहता था। इसलिए सम्भवत उसे कर्माचार्य भी कहा जाता था, जिससे न केवल उसके धार्मिक कृत्यो मे भाग लेने का ही वरन् अनुशासन के सम्बन्ध मे भी उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है।

विद्यार्थियों के नित्य कर्त्तव्य —ब्राह्मण-प्रणाली की भाँति ही महावग्ग और चुल्लवग्ग के अनुसार बौद्ध प्रणाली भी गुरु की सेवा करना, शिक्षा क्रम के एक भाग के रूप मे विद्यार्थी का कर्त्तव्य मानती है। विद्यार्थी को सवेरे तड़के उठना चाहिए और अपने गुरु के मुख प्रक्षालन के हेतु जल तथा दन्त धावन उपस्थित करनी चाहिए। इसके पश्चात उसके लिए आसन की व्यवस्था करके स्वच्छ पात्र मे उनके हेतु चावल युक्त दुग्ध उपस्थित करे और उसके पी लेने के पश्चात पात्र को धोकर उस स्थान को भी स्वच्छ करे। तत्पश्चात् उसे अपने गुरु को भिक्षाटन के लिए आवश्यक उपादानो से युक्त करे और यदि वह स्वय भी उसके साथ जाना चाहे तो स्वय भी उसी के समान वस्त्र पहिने और न उससे बहुत दूर और न बहुत उसके बहुत पास चले। जब उसका गुरु बोल रहा हो तो टोके नहीं भले ही वह गलती कर जाय। लौटते समय विद्यार्थी को गुरु के आने से पूर्व आ जाना चाहिए ताकि वह आवश्यक वस्तुएँ तैयार रखे और वस्त्र परिवर्तन मे उसे सहायता करे। पश्चात् यदि आवश्यकता हो तो कुछ भोजन उपस्थित करने के बाद उसकी इच्छानुसार उष्ण अथवा शीत जल मे उसके स्नान की व्यवस्था करे और यदि वह स्नानागार (संस्कृत यन्त्र गृह) मे स्नान करे तो उसे देह मे लगाने के लिये उबटन और बदन मे चुपड़ने के लिये मिट्टी दे जिससे अग्नि की गर्मी से रक्षा कर सके। यदि विद्यार्थी स्वय भी स्नान करना चाहे तो उसे शीघ्र ही नहाकर देह सम्वाकर और वस्त्र परिवर्तित कर गुरु के पादप्रक्षालन के लिए जल पादुकाएँ और तौलिया लेकर स्थित

हो जाना चाहिए। स्नान के पश्चात् यदि अध्यापक चाहे तो अध्यापन होता है। अध्यापन प्रश्नोत्तर रूप में अथवा भाषण रूप मे होगा।

निम्न श्रेणी के कार्यों की परम्परा मे विद्यार्थी के लिए एक कार्य यह भी था कि वह अपने अध्यापक के रहने के विहार को, वहाँ का सारा उपकरण और बिस्तर, दरी, चटाई इत्यादि को हटाकर साफ करे और उन वस्तुओं को भी स्वच्छ करे। भीतर धूप दिखाये। इसके पश्चात् उन वस्तुओं को यथास्थान रक्खे। उसे विहार के अन्य स्थानों को भी स्वच्छ करना पड़ता था। इस प्रकार की सेवा केवल विद्यार्थी अपने गुरु की कर सकता है अन्य किसी की नहीं। और न वह स्वयं ही किसी दूसरे से सेवा करवा सकता है। यह बिना अध्यापक की अनुमति के न तो कोई चीज किसी से ले सकता है और न दे सकता है। वह अपने गुरु की आज्ञा के बिना न तो किसी ग्राम मे प्रवेश कर सकता है और न तो किसी यात्रा मे जा सकता था। यात्रा करने के लिए अनुमति ली जा सकती थी किन्तु उसके साथ एक विद्वान भिक्षु रहता था जो उसके आचरण को नियन्त्रित कर सके।

अंत मे यदि अध्यापक अस्वस्थ हो तो विद्यार्थी को उसकी सेवा जीवन के अन्तिम क्षण तक करनी पड़ती थी और उनके अच्छे होने की प्रतिक्षा करनी पड़ती थी।